मास्टर ऑफ आर्ट्स (हिन्दी)

एम.ए. (हिन्दी)
अन्तिम वर्ष

हिन्दी साहित्य का इतिहास
(द्वितीय प्रश्न पत्र)

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय,
चित्रकूट (सतना) म.प्र. - ४८५३३४

हिन्दी साहित्य का इतिहास

ई–संस्करण 2023–24 / **M.A Hindi. –II - 32**

प्रेरणा एवं मार्गदर्शन :

प्रो. भरत मिश्र

कुलपति

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

डॉ. कुसुम कुमारी सिंह, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. ललित सिंह

पाठ्यक्रम संयोजक

डॉ. कुसुम कुमारी सिंह

पाठ्यक्रम अभिकल्पना एवं सम्पादक मण्डल :

डॉ. कमलेश थापक डॉ. ललित सिंह

डॉ. कुसुम कुमारी सिंह डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

मुद्रण प्रस्तुति

डॉ. सन्तोष अरसिया, उपकुलसचिव (दूरवर्ती परीक्षा)

सन्तोष राजपूत, सहायक कुलसचिव (दूरवर्ती परीक्षा)

शिवांगी त्रिपाठी

सम्पर्क सूत्र :

डॉ. कमलेश थापक, निदेशक, दूरवर्ती शिक्षा

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

दूरभाष– 07670–265460, E-mail – directordistancemgcgv@gmail.com, website : www.mgcgvchitrakoot.com

प्रकाशक :

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

प्राक्कथन...

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की तपोस्थली, मंदाकिनी नदी के सुरम्य तट पर स्थापित महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय भारतरत्न नानाजी देशमुख के शैक्षिक चिंतन और संकल्पों की जीवंत अभिव्यक्ति है, जो म.प्र.शासन द्वारा 12 फरवरी, 1991 को विशेष अधिनियम 09, 1991 द्वारा स्थापित हुआ।

विश्वविद्यालय का ध्येय वाक्य है–'विश्वं ग्रामे प्रतिष्ठितम्' अर्थात ग्राम विश्व का लघु रूप है। विश्वविद्यालय चित्रकूट में स्थित है, जो एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल है। नई पीढ़ी के लिये यह स्थान आदर्श एवं प्रेरणा का केन्द्र है।

विश्वविद्यालय में कृषि, प्रबंधन, अभियांत्रिकी, लोक विज्ञान, ग्रामीण विकास एवं स्थानीय स्वशासन, लोक शिक्षा, कला, संस्कृति एवं साहित्य सहित सभी अकादमिक धारायें प्रभावी रूप में उपस्थित हैं। विश्वविद्यालय, ग्राम को समाज जीवन की मूल इकाई मानकर शिक्षण, प्रशिक्षण, शोध और प्रसार कार्यों से सर्वांगीण विकास के लिए विगत 3 दशकों से अधिक समय से समर्पित प्रयास कर ग्रामोदय से राष्ट्रोदय के संकल्प में लगा हुआ है। विश्वविद्यालय ने अपनी गतिविधियों और कार्यक्रमों के माध्यम से कौशल विकास के उन्नयन एवं प्रमाणन तथा सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है तथा शासन के सहयोगी के रूप में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन कर रहा है।

प्राचीन एवं सनातन भारतीय ज्ञान की परम्परा के आलोक में आई, राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 चिरवांछित जन आकांक्षाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के युगान्तरकारी प्रावधानों को लागू करने में मध्यप्रदेश अग्रणी राज्य रहा है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने नवाचारों के लिए सकारात्मक और अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराया है। विद्यार्थियों की पठन–पाठन की स्वतंत्रता, कौशल विकास के समुचित अवसर तथा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुसार आने वाले भविष्य के लिए तैयार करने की प्रतिबद्धता राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रावधानों में स्पष्टतः दिखाई देती है।

विश्वविद्यालय ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रावधानों को दूरवर्ती के विभिन्न पाठ्यक्रमों में अर्थपूर्ण रूप से जोड़कर इन्हें सत्र 2023–24 से पुनः संशोधित/परिवर्धित रूप में प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के प्रसार एवं रोजगार के अवसर बढ़ाने हेतु दूरवर्ती माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष प्रयास कर रहा है। दूरवर्ती पद्धति से संचालित विभिन्न पाठ्यक्रमों में नियमित संपर्क कक्षाओं के आयोजन, उच्च शिक्षा की स्व–अध्ययन सामग्री एवं नई शैक्षिक प्रौद्योगिकी का उपयोग करते हुए शिक्षार्थी को बेहतर शैक्षणिक अनुभव प्रदान करने की व्यवस्था सुनिश्चत की जा रही है।

विश्वविद्यालय के दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र द्वारा सत्र 2024–25 में संचालित परास्नातक, स्नातक तथा डिप्लोमा स्तरीय दूरवर्ती पाठ्यक्रमों के शिक्षार्थियों हेतु ई–स्वनिर्देशित अध्ययन सामग्री प्रस्तुत करते हुये मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।

पाठ्यक्रम से जुडे सभी शिक्षार्थियों, अभिभावकों, प्रशासकों, समन्वयकों और अन्य सभी को मेरी मंगलकामनायें

प्रो. भरत मिश्रा
कुलपति

अनुक्रमणिका

अध्याय – 1 **साहित्य : इतिहास और दर्शन** 9–28

- हिन्दी साहित्य का इतिहास
- उद्देश्य
- इतिहास : अर्थ और स्वरूप
- इतिहास कला है या विज्ञान
- इतिहास और साहित्य
- इतिहास–दर्शन
- इतिहास दर्शन का प्रादुर्भाव
- इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण
- भारतीय इतिहास में युग–विभाजन
- इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण
- इतिहास की पाश्चत्य दृष्टि और यर्थाथवाद
- पश्चिम की ऐतिहासिक व्याख्या
- इतिहास में पाश्चात्य काल विभाजन
- साहित्य का "इतिहास दर्शन"
- साहित्येतिहास
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 2 **हिन्दी साहित्येतिहास : लेखन–परम्परा, आधारभूत सामग्री एवं पुनर्लेखन की समस्याएँ** **29–52**

- परिचय
- अध्ययन उद्देश्य
- हिंदी–भाषा : उद्‌भव, विकास एवं स्वरूप
- हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा
- लेखन की आधारभूत सामग्री
- पुनर्लेखन की आवश्यकता
- इतिहास लेखन के आधार
- इतिहास लेखन की समस्याएँ
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 3 **हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण** **53–70**

- परिचय
- अध्ययन उद्देश्य
- हिन्दी साहित्य का वर्तमान इतिहास
- विभिन्न काल विभाजन
- सीमा निर्धारण के आधार
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 4 **आदिकाल : प्रमुख धाराएँ, कवि और उनकी कृतियाँ** 71–84

- अध्ययन उद्देश्य
- परिचय
- प्रमुख धराएँ
- अप्रमाणिकता को दर्शनों वाले दृश्य
- प्रमाणिकता को दर्शाने वाले तथ्य
- लोक साहित्य धरा
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 5 **चन्दवरदायी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व** 85–102

- परिचय
- अध्ययन उद्देश्य
- चन्दवरदायी : जीवन परिचय
- 'रासो' शब्द की उत्पत्ति
- 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता
- 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व एवं काव्य–सौष्ठव
- रासो की भाषा
- वीर–काव्य–धरा में चन्दवरदाई का स्थान
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 6 **भक्तिकाल : संक्षिप्त परिचय एवं प्रमुख प्रवृत्तियाँ** 103–128

- अध्ययन उद्देश्य
- परिचय

- भक्तिकाल : पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियाँ
- भक्तिकाल की मूल प्रवृत्तियाँ
- सूफी–साहित्य की रूप रेखा
- रामाश्रयी शाखा
- राम–काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 7 **भक्तिकाल : प्रमुख कवि और उनकी कृतियाँ** **129–142**

- अध्ययन उद्देश्य
- पृष्ठभूमि
- भक्तिकाल की काव्यधारा
- निर्गुण भक्ति काव्य धरा
- प्रेममार्गी काव्य धरा
- भक्तिकाल की प्रमुख प्रवृतियाँ
- भक्तिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाएँ
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 8 **रीतिकाल : प्रमुख कवि एवं उनकी कृतियाँ** **143–156**

- प्रस्तावना
- रीतिकाल का नामकरण
- रीतिग्रंथों के आधार पर प्रवत्तियों का वर्गीकरण :
- रीतिमुक्त काव्य धारा
- रीति मुक्त धारा के प्रमुख कवि

- भाव पक्ष की दृष्टि से रीतकालीन प्रवृत्तियों का परिचय
- भक्ति भावना
- नीतिकाव्य
- वीर काव्य (प्रशस्ति काव्य)
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 9 **रीतिकाल : संक्षिप्त परिचय एवं मूल प्रवृत्तियाँ** 157–176

- प्रस्तावना
- उद्देश्य
- रीतिकालः– नामकरण/ समय सीमा
- रीतिकाल पृष्ठभूमि
- रीतिकालीन काव्य का वर्गीकरण
- रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ
- घनानंद
- घनानंद की प्रेमानुभूति
- प्रेम की लौकिक महत्ता
- घनानंद की विरहानुभूतिः–
- घनानंद का काव्य–सौष्ठव :
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

अध्याय – 1

साहित्य : इतिहास और दर्शन

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- हिन्दी साहित्य का इतिहास
- उद्देश्य
- इतिहास : अर्थ और स्वरूप
- इतिहास कला है या विज्ञान
- इतिहास और साहित्य
- इतिहास–दर्शन
- इतिहास दर्शन का प्रादुर्भाव
- इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण
- भारतीय इतिहास में युग–विभाजन
- इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण
- इतिहास की पाश्चत्य दृष्टि और यर्थाथवाद
- पश्चिम की ऐतिहासिक व्याख्या
- इतिहास में पाश्चात्य काल विभाजन
- साहित्य का "इतिहास दर्शन"
- साहित्येतिहास
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

NOTES

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रस्तुत इकाई में हिन्दी साहित्य के इतिहास–दर्शन और साहित्य की उपादेयता पर विचार किया जा रहा है। साहित्य क्या है? साहित्य की प्रथम प्रतिबद्धता सृष्टि की संवादशीलता को चेताए रखने की है। वह अलाव की भांति फूस–फास इकठ्ठा कर जलाता ही रहता है। और वह आमंत्रण देता है। सम्पूर्ण मानवता को। वह अनबोल को भी बुलाता है आओ और अपने अन्दर की वेदना को, अपने अन्दके के कौतूहल को अभिव्यक्ति दो। साहित्यकार आपसी उष्मा को बाटता है। वह मनुष्य से पहले प्रतिबद्ध है सृष्टि से। सृष्टि के क्षण को विश्रृखलित करने वाल क्रोचबध के उपर आक्रोश से पहली काव्यपक्ति फूटती है। अभिशाप के रूप में, जाने कब तक तुम्हारे ऊपर इस अपराध की छाया रहेंगी। साहित्य भाषा है। वह चुप नहीं रहता। प्रश्नों को अपने ढंग से छेड़ाता है। प्रतिकूल परिस्थिति में नए नए ढंग से। इसलिए साहित्य का अपना प्रयोजन होता है। दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या इसका भी कोई इतिहास है? इतिहास को देखने की हमारी दृष्टि क्या है? क्या इतिहास वर्तमान को प्रभावित करता है या वर्तमान भी इतिहास को पुन:परिभाषित करता है। आज हम जिस साहित्य को पढ़ रहे है वह क्या किसी वैज्ञानिक दृष्टि से गुजरकर हमारे सामने आया है। वस्तुत: हिंदी साहित्य का अपना इतिहास है। विद्वान आचार्यों द्वारा समय–समय पर इसमें अपनी स्थापनाएँ दी गई हैं जिसे तथ्यों के स्तर पर प्राप्त निष्कर्षों को नही बदला जा सकता। यह न तो उचित है और न ही संभव। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्व भी अनेक विद्वानों ने इस पर कार्य किया है, किंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में पूर्व से किये कार्य के साथ अपने काल की परिस्थिति को समेटते हुए ही हमारे समाने एक विस्तृत इतिहास क्रमबद्ध किया है। किंतु आचार्य शुक्ल के इतिहास को लिखे लगभग नब्बे वर्ष से अधिक हो रहा है। फिर तब से आज तक काफी कुछ कार्य हुआ है। विभिन्न पत्र– पत्रिकाओं, संस्थाओं तथा अन्य स्त्रोतों से विगत वर्षों में हिंदी साहित्य का काफी विकास हुआ है, जिसके परिणाम हमें प्रकाशित पत्र–पत्रिकाओं, शोध–आलेखों में प्राप्त होते हैं। खासतौर पर 1980 के बाद इस पर काफी कार्य हुआ है जिसे आधार बनाकर अध्ययन करना आज की आवश्यकता है। यहाँ इन्ही प्राप्त तथ्यों, तर्कों के आध ार पर अध्ययन किया जावेगा।

वेदकालीन भाषा का संशोधित स्वरूप संस्कृत में स्थिर हुआ, किंतु जन–साधारण की भाषा प्रगति–गामिनी होकर पाली मे परिवर्तित हो गई। पाली प्राचीन प्राकृत का उन्नत रूप था। पाली की परिपक्वता पर लोक–भाषा (प्राकृत) फिर आगे चली और तीन धाराओं में प्रवाहित होने लगी–प्राचीन, मध्यकालीन और उत्तरकालीन। यह साहित्यिक प्राकृत चार मुख्य भागों में विभाजित हो गई–महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अ)मागधी। इन प्राकृतों में भी जब गंभीर साहित्य का सर्जन होना प्रारंभ हो गया, तथा व्याकरण की श्रृंखलाओं में ये कस दी गईं तब लोक–भाषा की विभिन्न धाराएं, जो स्वाभाविक रूप से अग्रसर होरही थी, 'अपभ्रंश' कहलाने लगी। अपभ्रंश के तीन प्रमुख रूप थे–नागर, ब्राचड और उपनागर। अपभ्रंशो में नागर अपभ्रंश अधिक महत्वपूर्ण थी। सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने नागर अपभ्रंश को अपनाकर इसकी मान्यता बढ़ाई। किंतु काव्य–क्षेत्र में इसके दो रूप निर्धारित हुए–डिंगल और पिंगल। राजस्थान और ब्रज की साहित्यिक भाषा का नामकरण क्रमश: डिंगल और पिंगल हुआ। यहीं से हिन्दी का आविर्भाव हुआ। इतिहासकारों ने इसका जन्म विक्रम–संवत् 700 माना है ऐसे एक लम्बे अंतराल से गुजरती यह भाषा –साहित्य आज अपने बदले कलेवर में प्राचीन को सम्हाले और वर्तमान को सवारते हमारे सामन है। उसका समग्र विश्लषण पूरी वैज्ञानिकता के साथ करना हमारा काम है। इतिहास को हम केवल जानकारी के लिए नही पढ़ते। इतिहास हमें गढ़ता है। वह हमे निराशा से उबारता है। आशा की नई उर्जा देता है। बोली से लेकर भाषा के परिष्कृति रूप तक साहित्य को पहुचने में हजारों साल लग गए। वही धरोहर हमारे सामने है जिसे हमें आज की परिस्थिति में विश्लेषित करना है। यही साहित्य इतिहास के अध्ययन की भूमिका है।

2. उद्देश्य

"साहित्य उस अपराजेय मनुष्य की तलाश है जो सुख में बिखरता नहीं, दु:ख में टूटता नहीं, जो रोकर –हँसकर दु:ख–सुख में मुक्त होता रहता है।" –आचार्य विद्यानिवास मिश्र

आचार्य विद्यानिवास मिश्र एक प्रश्न उठाते हैं कि प्राय: आज सुनने को मिलता है कि साहित्य आम आदमी के लिए लिखा जाना चाहिए(पर आम आदमी है कौन–इसकी परिभाषा नहीं की जाती।

"इसकी परिभाषा की भी जाती है तो इस रूप में कुछ लोग हैं, जो आम हैं खास नहीं, मिहनत–मजूरी करते हैं, चाटते हैं और कुछ दूसरे हैं जो खास हैं, उन आम आदमियों से काम लेते हैं, उनके श्रम का शोषण करते हैं। पर अपरिभाषित रूप में तीसरे हुए हैं, जो यह दो टूक विभाजन करके आम आदमी की वकालत करने का दम भरते हैं, वे कुछ अधिक आम आदमी बनने की कोशिश करते हैं (क्योंकि उन्हें लगता है, वे आम आदमी को चला सकते हैं। अपने समय में अधसनकी कहे जाने

वाले आनंद कुमार स्वामी ने आम आदमी (कामन मैन) की परिभाषा इस प्रकार की है कि हर मनुष्य के भीतर जो मानुष है, मनुष्य भाव है, जो उस मनुष्य का सत्व है और जो सबमें है, वही आम आदमी है। चंडीदास और उनका पद गानेवाले बाउल 'मनेर मानुष' की बात करते हैं, वही 'कामन मैन' है, सही–सच्चा आम आदमी है। वही आम आदमी प्रसाद की 'मधुआ' कहानी के उस शराबी में है, जो एक बच्चे को देखता है, उसकी सारे संसार से विछिन्नता का नाटक यकायक थम्ह जाता है, उसके भीतर लाचारी होती है। इसे भूख लगी है, इसकी भूख मेरी भूख से बड़ी से बड़ी है।' –पं. विद्यानिवास मिश्र

जहां संसार के पदार्थ परिवर्तनशील है, उनका सौदर्य परम सौंदर्य से घटकर है, वहां भी संसार आसार नहीं है। ये भी किसी के प्रतिबिम्ब हैं। कभी कभी विचार करे तो साहित्य ही है जो हमें बताता है कि संसार क्या है? ये पदार्थ क्या हैं? किसके बनाये हुए हैं, आदि क्या है, अंत क्या है, इन प्रश्नों से तंग आकर, विद्वानों ने अनुभूति को अभिव्यक्ति का रूप दिया। जो आगे रचना की उर्जा बनकर हमारे सामने आती हैं ।

इतिहास के क्रम में यह स्पष्ट नहीं है कि कब भारतीय चेतना ने ललित कला, कविता, दर्शन और विज्ञान की गहरी खोज आरंभ की। पौराणिक कथाओं एवं किंवदंतियों, उपासना पद्धतियों और अनुष्ठानों के साथ ही कृषि कार्य तथा हस्तशिल्प संकेत करते हैं कि भारत में सभ्यतापरक उपलब्धियां 5000 वर्ष से भी पहले आरंभ हो गई थीं। सिंधु घाटी सभ्यता जो 2400–1888 ईसा पूर्व के दौरान फली फूली, भारतीय ऐतिहासिक अनुभूति के आरंभ को दर्शाती है। इस सभ्यता से संबद्ध मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, धौलावीर जैसे स्थलों पर किए गऐ पुरातत्वीय खनन यह पूर्णतया सिद्ध करते हैं कि भारत में इस काल में सुविकसित नागर जीवन, सिंचाई व्यवस्था तथा कृषि व्यवहार अस्तित्व में था।

पर्याप्त समय बाद (लगभग 1500 ई. पू. मुख्य रूप से आर्यों से) अवचेतन मन की रूपक कथाओं, काव्यात्मक प्रतीकवाद, प्रकृति के मानवीकरण अथवा आत्माओं की उपासना के कारण दैवी आख्यान जोड़ दिए गए किंतु इस सबमें मानव मन ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई यह भारतीय चेतना की ही विशेषता है जो भारतीय दर्शन, अन्वेषणों के द्रुत संवर्धन और गणित तथा खगोल विज्ञान के विकास के लिए उत्तरदायी है।

1500 ईसा पूर्व के लगभग संस्कृत में रचित वेदिक मंत्रों से भारतीय साहित्य के आरंभ का पता चलता है। आरंभिक साहित्यिक वर्षों में दक्षिण के तमिल पद्य, मुख्य भूमि की प्राकृत और पालि कथाएं तथा पर्वतीय क्षेत्रों और उच्च भूमियों की जनजातीय अनुश्रुतियां सम्मिलिति हैं। आरंभिक काल में अनुश्रुत जो शाश्वत है स्वयंभू तथा दैवी रूप से प्रकट है एवं एवं स्मृति 'अनुस्मरण' जो मानव कर्तृत्व का परिणाम है। समस्त वैदिक साहित्य श्रुति है। भगवद्गीता, उपनिषद तथा धर्मशास्त्र सहित रामायण और महाभारत, स्मृति परंपरा के अनूठे उदाहरण हैं।

ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज (तीसरी शती ई.पू.), चीनी तीर्थयात्री फाह्यिान (ईसा की चौथी सती), ह्वेनसांग (ई. की सातवीं शती), तथा अलबेरूनी (ईसा की ग्यारहवीं शती) द्वारा लिपिबद्ध किए गए आलेख इस समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य, राजनीति के जीवंत वर्णन करते हैं।

वस्तुतः साहित्य और उसका इतिहास आज भी इसी भूमिका में है जो कल था। इस इकाई को पढ़ने के बाद यह बतला सकेंगे कि–इतिहास–दर्शन का सही अर्थ क्या है। इतिहास का अध्ययन हम क्यों करते हैं तथा इसको देखने की दृष्टि कैसी होनी चाहिए। इतिहास और साहित्येतिहास में अन्तर क्या है। हिन्दी साहित्य का इतिहास कितना पुराना है। इसकी प्रमाणिकता कितनी है। साथ ही साहित्य का जानकार शिक्षार्थी तैयार करना। इस बात की पड़ताल भी कि क्या साहित्य का आधार लोकभाषाओं से भी तैयार होता है। क्या साहित्येतिहास से संस्कृति, प्राकृत, अपभ्रंश का क्या संबध है। इस प्रकार की सामग्री तैयार करना जिससे हिन्दी साहित्य का निरन्तर चिंतन होता रहे साथ ही साहित्य परम्परा के साथ समृद्ध होता चले।

भारत की सर्जनात्मक शक्ति कहां अवस्थित है? पश्चिमी लेखक भारतीय चेतना की तात्विक प्रवृति और दृढ़ नैसर्गिक धर्मिकवृति से गहरेतक प्रभावित है।

3. इतिहास : अर्थ और स्वरूप

इतिहासकार तथा अतीत में तथ्यों के मध्य के अन्त संबंध की सतत प्रक्रिया ही इतिहसा है। यह वर्तमान और अतीत के मध्य निरंतर चलने वाला संवाद है। वर्तमान परिवेश और चिंतन की समझ के आधार पर ही इतिहासकार अतीत को समझने की चेष्टा करता है। वर्तमान के वातायन से इतिहासकार की दृष्टि अतीत के आर–पार चली जाती है और तीसरा अतीत सिमटकर दृष्टि में समा जाता है वर्तमान के आधार पर अतीत को और अतीत के आधार पर वर्तमान को समझने में सहायता मिलती है।

NOTES

अतीत से वर्तमान तक की इतिहास के विकास की परंपरा एक अविच्छिन्न कारण–कार्य–शृंखला में गुंथी रहती है। इ.एच.कर के अनुसार–

"अतीत की घटनाओं को क्रमबद्धता देकर कारण और प्रभाव के क्रम से रखना ही इतिहास है।"

संगति की खोज करता है। कोई भी तथ्य निरर्थक, असंगत और अप्रसंगिक नहीं होता। तथ्यों की प्रासंगिकता की खोज इतिहास कार की प्रतिभा और विवके पर आश्रित है। अपने आदर्श रूप में इतिहास काल–क्रम में नियोजित तथ्यों और उनसे संबद्ध आशयों, विचारधाराओं और अनुभवों का सुसंबद्ध दस्तावेज है।

जो बात इतिहास पर लागू होती है वही साहित्य के विकास क संबंध में भी सही है। सामाजिक जीवन के विकास के अखण्ड सातत्य में रचित साहित्यिक कृतियां ही साहित्येतिहास के तथ्य हैं, जिनमें निहित प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं आदि की मीमांसा करते हुए उनकी ऐतिहासिक प्रासंगिकता और मूल्यांवत्ता की खोज करना साहित्येतिहासकार का काम है।युगीन संदर्भ और साहित्यकार की मानसिकता के संपर्क से ही साहित्यिक कृतियों की सृष्टि होती है।जिस प्रकार युगीन संदर्भ ऐतिहासिक परंपरा के विकास–क्रम के परिणाम होते है, उसी प्रकार साहित्यकार की मानसिकता में युगीन यथार्थ की क्रिया भी रहती है और प्रतिक्रिया भी। इसीलिए साहित्यिक कृति युगीन यर्थाथ से संबद्ध रहती है और उसे अतिक्रांत भी करती है।इसी से परंपरा में प्रयोग होत चलते हैं। परंपरा प्रयोग के डग रखती हुई प्रत्येक युग जीवन की धरती से संपर्क साधती चलती है। साहित्यकार की मानसिकता ही वह व्यष्टि केन्द्र हैजिसमें समष्टि–परिधि में व्याप्त क्रियाएं–प्रतिक्रिआएं तीव्रतर एवं उदात्ततर स्तर पर प्रतिबिंबित होती हैं।साहित्य और साहित्य दर्शन के उक्त आधारभूत तत्व को पहली बार पूरी गंभीरता के साथ, रेखांकित करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है–

"जबकि प्रत्येक देश का सहित्य वहां की जनता की चितवृति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।आदि से अंत तक इन्हीं चितप्रवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य–परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"

(1) **इतिहास का शाब्दिक अर्थ** – "इतिहास पद अंग्रेजी के हिस्टरी शब्द का अनुवाद नहीं, न इनका अर्थबोध की सीमाओं में परस्पर संबंध ही स्थापित हो पाता है। दोनों की अर्थतत्वमूलक आधार भूमि सिमैन्टिक्स भिन्न है। हिस्टरी शब्द का अर्थ है इन्क्वायरी, वहां सम्भावना मूलक अर्थ की प्रधानता है। अत: हिस्ट्री सर्वत्र अपने अर्थबोध की सीमा में एक संभावना मूलक इन्क्वायरी मात्र है। विज्ञान से न जुड़पाने के कारण उसका अर्थविस्तार संभावना की सीमाओं में ही संकुचित होकर रह गया है, सिद्धांत की सीमाओं तक नहीं पहुच पाया।"—डॉ वासुदेव पोद्दार

इतिहास इस पद में तीन पदो के शक्तिग्रह उसके अर्थ को स्पष्ट करते हैं–'इति–ह–आस'। इति पद का अर्थ है–ऐसा वा इस प्रकार, ह–निश्चित, आस–था, अत: संपूर्ण पद का शाब्दिक दृष्टि से ('इतिहास') का अर्थ है : 'ऐसा निश्चित था' या 'ऐसा निश्चित हुआ था। 'इति' पद यहां अतीत में वर्तमान घटना के प्रकार अर्थ में है, जो उसकी कालगत संपूर्णता का सूचक है, 'ह' पद का प्रयाग विनिश्चय के अर्थ में है, 'आस' क्रिया भूतकाल में घटना के समापन के अर्थ को स्पष्ट करती हैं। अत: इतिहास पद को 'हिस्ट्री' शब्द का अनुवाद स्वीकार करना समुचित नहीं, इसे यहां समानार्थ में प्रयुक्त करना भारतीय इतिहास दृष्टि के साथ न्याय न होगा – भारतीय इतिहास दर्शन वैज्ञानिक है।

दूसरे तरह से इस पर विचार करें तो शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है: 'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं–एक तो यह कि इतिहास का संबंध अतीत से है, दूसरे यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का ही समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं अपितु उन घटनाओं से भी है, जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुत: आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीती की प्रत्य स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अत: संक्षेप में, अतीत के किसी भी तथ्य, तत्व एवं प्रवृति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि काल विशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है।

(2) **(क) इतिहास के लाक्षणिक अर्थ** – इससे इतिहास का संबंध अतीत से होना होता है तो दूसरा यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यर्थाथ घटनाओं का ही समावेश होता है। उसमें उन सभी लिखित और मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका संबंध अलीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है। वस्तु: आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक

अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृति की व्याख्या का समावेश हो जाता है।

"अतीत के किसी भी तथ्य, तत्व एवं प्रवृति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है।" –डॉ नगेन्द्र

NOTES

लाक्षणिक अर्थ में इतिहास का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीत कालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है। जैसे सम्राट आशोक भारत के इतिहास निर्माता था आदि। आधुनिक ऐतिहासिक शैली में इतिहास देखने की अपनी दृष्टि है। इसकी अपनी समय–सीमा की मर्यादा है। किन्तु भाषा के रूप परिवर्तन से इतिहास नही बदलता और न ही उसका काल छोटा होता। रामायण को इतिहास ग्रंथ मानते हुए इतिहास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्

पूर्ववृतं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।" –विष्णुधर्म (3.15.1)

इतिहास को महत्व देने का अर्थ क्या है? वस्तुत: कारण के रूप में पिछली घटना को और कार्य के रूप में आगे की घटना को लेना। साहित्य के इतिहास पर एक मत देखें जो कुछ इस प्रकार व्यक्त किया गया है –

(ख) इतिहास का व्यापक अर्थ – मानव चेतना के विकास को संजोए इतिहास, विचारों और आस्थाओं को एक पीढ़ी से दूसरी को सौंपने का एक सरल मार्ग है। स्मृति के संरक्षण के आसाधारण कार्य के रूप में स्मृति और श्रुति की परंपरा के माध्यम से हिंदू, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता तथा अन्य पवित्र ग्रंथें को वर्तमान समय तक पहुंचा पाएहै। भारतीयों की चेतना का यह ऐतिहासिक पक्ष रवीन्दनाथ टैगोर ने अपने लेख 'भारतीय इतिहास की अंतर्दृष्टि' में यू उजागर किया था :

"मैं भारत से प्रेम करता हूँ, इसलिए नहीं कि मुझे इसके स्वरूप में अंधश्रद्धा है, इसलिए भी नहीं कि मैंने इसकी रज–कण में जन्म लेने का अवसर पाया, बल्कि इसलिए कि इसने विध्वंसकारी युगों से उस जीवंत वाणी को सुरक्षित रखा जो इसके महानपुत्रों की ज्योतिर्मय चेतना से निसृत हुई थी।"

रामायण और महाभारत अनादिकाल से सामूहिक भारतीय चेतना का हिस्सा रहे है। उसी प्रकार लोकसाहित्य, लोकथाएं भरतीय चेतना को समझने में दूर तक हमारी सहायता करती हैं। गित शताबदी के उत्तरार्द्ध में दूरदर्शन पर रामायण और महाभारत के शृंखलाबद्ध प्रदर्शन ने इन्हें इतना लोकप्रिय सिद्ध कर दिया कि तब इनके प्रसारण के समय शहरों में यातायात पर विम लग जाता था। ग्रामीण क्षेत्रों में कामकाजी लोग और बच्चे सामुदायिक केन्द्र या घर पर टेलीविजन सेट के सामने सभी मंत्रमुग्ध–से बैठ जाते। वे दृश्य के अनुसार रोते अथवा हंसते।

विगत के वर्षों में रिचर्ड एटनबरो की 'गांधी' शीर्षकवाली फिल्म ने भारत के स्वाधीनता संघर्ष और उसके मूल्यों को समझने में महतवपूर्ण योगदान दिया। न्यूयार्क पोस्ट इसे ऐसी फिल्म बताता है जो मस्तिष्क को चौंका देती है और आत्मा को तृप्त करती है। गांधी का मन के प्रभावों और प्रेम की शक्ति में अटल विश्वास था। कठोरतम तंतु प्रेमाग्नि में पिघल जाने चाहिए अगर नहीं पिघलते तो सिर्फ इसलिए कि अग्नि के पर्याप्त ताप नही है। विगत दो शताब्दियों में जूम्स मिल से लेकर डोमिनिक लेपियर और मार्क टयूली तक पश्चिमी वि)ानों)ारा भारत पर लिखे गए साहित्य का प्रभावोत्पादक संग्रह एक आश्चर्यजनक वर्णक्रम है। यह राजनीति, इतिहास, साहित्य, धर्म, राजनीति और भारत के जन को समझने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।

इतिहास कला है या विज्ञान

प्राचीनकाल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है, किंतु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है, इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में और कभी विज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा। वस्तुत: इतिहास कला है या विज्ञान, यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय है। इस विवाद के मूल में यह भांति विद्यमान है कि कोई भी वस्तु या विषय अपने आप में कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है, जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं, अपितु उसकी अध्ययन पद्धति या रचनापद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत प्रदान करता है, किंतु यह हम पर निर्भर है कि हम उस इतिवृत का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत को हम आत्मपरक दृष्किोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' की संज्ञा से विभूषित हो सकता है, जबकि वस्तुपरक दृष्किोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है। वस्तुत: इतिहास से कवि, साित्यिकार, उपदेशक, शोध

NOTES

ाकर्ता आदि विभिन्न वर्गों के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप भी बदलता रहा है, ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

फिर भी, आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अत: प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता, तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है। यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की–सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही संभव हो। वास्तव में, विषय–भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त है। वह चाहे मनोविज्ञान हो या भौतिकविज्ञान या रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान। अत: इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाज विज्ञान को देते हैं।

इतिहास और साहित्य

इतिहास और दृष्टि एक लम्बे समय तक विश्व में चर्चा के विषय रहे हैं। एक स्थिति ऐसी भी आई कि कई–कई देशों के अस्तित्व भी इतिहास पर निर्भर हो गये। हाल ही के कुछ वर्षों में पाकिस्तान जैसे देश भी अपने देश का पांच सौ वर्ष पुराना इतिहास लिखाया। विश्व के कई ऐसे देश है जहां पुरातात्विक प्रमाण जुटाने के प्रयास किये गये। भारत में भी यह प्रयत्न हुआ। किंतु यहां ऋगवेद की परंपरा इतनी प्राचीन रही कि उसका साहित्य विश्व के सामने अकाट्य प्रमाण के रूप में सामने आया। इतिहास को महत्व देने के पीछे का तर्क यह है कि कारण के रूप में पिछली घटना को और कार्य के रूप में आगे की घटना को लेना। इस प्राकर इतिहास मनुष्य और उसके अस्तित्व को समझने का एक मापदण्ड बन गया। पर यदि अध्ययन कोरा ऐतिहासिक होकर रह जाता है तोसाहित्य के भीतर बहनेवाली निरंतरता की धारा को नहीं देखा जा सकता। जिसमें इतिहास के क्रम को लांघकर कहां की कथा, कहा। का बिंब, कहां की बात और कहां का शब्द लहर पर लहर की भांति ढकेल कर आगे आ जाते हैं। साहित्य में इतिहास भी मिथक में रूपांतरित होकर आता है या कहें मिथक के मुकुर में परादृश्य होकर आता है।बहुत सी साहित्यिक कृतियों में इतिहास के ऐसे लेखे–जोखों का उपयोग होता है, जिन्हें निजंधरी गाथा या कथा कहा जा सकता है। जिनका कोई लिपिबद्ध प्रमाण नहीं होता। इसलिए साहित्य में स्वप्न और स्वप्न जैसे अनुभव की चर्चा भी उतनी ही सार्थक है, जितना इंद्रियगोचर पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव सार्थक है। आखिर स्वप्न अभ्यांतर यथार्थ का ही तो प्रकाशन है, भले ही अधूरा लगे। कल्पना और स्वप्न के बिना स्थूल यथार्थ केवल हड्डियों का ढांचा है। जाग्रत अवस्था जिसे कहा जाता है, वह तो मात्र इच्छाओं का वितान है। वहां आदमी भीतर से कुछ समझ पाता है, वह बस भोगता रहता है। भोग के लिए तरसता रहता है। साहित्य में दोनों व्यापारों की भूमिका है। पूरे अनुभव को साहित्य–रचना में डुबोता है तब साहित्य क्रियाशक्ति बनता है। साहित्य में तब कुछ घटित करने की क्षमता आती है।साहित्य भी इतिहास का भाग बनता है। घटनाओं के साथ–साथ साहित्य की घटना गुंफित न हो तो इतिहास लूलू–लंगड़े की तरह दिखता है। बाण और भवभूति के बिना सातवीं–आठवीं शती का इतिहास कुछ अर्थ ही नहीं रखता।कबीर, जायसी, मीरा, सूर, तुलसी के बिना पूर्व मध्यकाल का इतिहास क्या रह जायेगा। स्वाधीनता –प्राप्ति के पहले का इतिहास प्रसाद, निराला, नवीन और प्रेमचंद, जैनेन्द्र के बिना समझा ही नहीं जा सकता। यह सही है कि साहित्य की क्रियाशीलता कभी–कभी अपने जमाने में सक्रिय लक्षित नहीं होती और वह आगे आने वाले जमाने में छा जाती है। पर उसकी सक्रियता के कारण उसका समकालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिवेश कुछ अधिक साकार दिखाई पड़ता है।

इतिहास–दर्शन

कोऽन्य: कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यच्तां क्षम:।

कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिन:।। –महाकवि कल्हण

प्रत्येक देश की अपनी धार्मिक और दार्शनिक परंपराएं होती है। जिनसे उस देश के अधिकांश लोग अपना जीवन–दर्शन बनाते हैं। धर्म और दर्शन मानव मस्तिष्क की विशेषताएं हैं। दर्शन ने उसे सूक्ष्म चिंतन के क्षेत्र में प्रोत्साहित किया है उसके आचार–विचार को प्रभावित किया है। साहित्य भी मनन एवं चिंतन में दर्शन से प्रभावित होता है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का काव्य पर चिंतन उसके दर्शन का ही प्रतिफलन है।रोमांटिक युग में भी रूसो, कांट, मिल प्रभृति दार्शनिको का प्रभाव रहा।इसी प्रकार भारतीया साहित्य–शास्त्र भी भारतीय दर्शन से बहुत अधिक अनुशासित है। भरत के रस–सूत्र की व्याख्या में विभिन्न आचार्य द्वारा प्रस्तुत तर्क और स्थापनाएं उनके दार्शनिक विचारों से ही उद्भूत हैं।दर्शन की भांति धर्म ने भी साहित्य को प्रभावित किया है। साहित्यिक कृतियों मे भक्ति, धर्म–प्रचार एवं धार्मिक मतों की स्थापना का प्रयास तो कृतिकार के उद्देश्य का एक अंग रहा है। हिंदी ही नहीं विश्व की तमाम कृतियों की रचना में धर्म और दर्शन दोनों ने प्रभावित किया है। मिल्टन के महाकाव्य 'पैराडाइज लास्ट' में एडम और शैटन के संबंध धर्म और दर्शन दोनों से ओतप्रोत हैं। भारत में धर्म और दर्शन प्राय: पश्चिम

की अपेक्षा अधिक सम्पृक्त रहे हैं। पश्चिम ने दर्शन बौद्धिक व्यायाम एवं तर्कजाल का प्रयास है और धर्म विशेषतः अनेक शाखा प्रशाखाओं में विस्तृत ईसाई धर्म–विश्वास पर आधारित है किंतु भारत में धर्म और दर्शन एक दूसरे को अनुप्राणित करते रहे हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में –

NOTES

"भारतवर्ष के दार्शनिक साहित्य के आलोचकों को आश्चर्य हुआ कि इस देश में उस चीज का कभी विकास ही नहीं हो पाया जिसे 'फिलासफी' कहते हैं। भारतवर्ष के दर्शन–धर्म पर आधारित बनाये गये हैं" –हजारी प्रसाद द्विवेदी

(1) **भारतीय परम्परा में ऐतिहासिक अतीत** – "भारतीय परम्परा ने ऐतिहासिक अतीत की पहचान अनेक प्रकार से प्राप्त की है। उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनेक मनोवैज्ञानिक प्रकार हैं, उसके भौतिक और आध्यात्मिक अनेक आधार हैं, जो धर्म, दर्शन और विज्ञान के तत्वचिन्तन पर प्रतिष्ठित हैं। ईजिप्ट ने अतीत की स्मृति प्राप्त की, पश्चिम की परम्परा का अतीत चिन्तन वा इतिहास–चिन्तन कब्रों से जुड़ा है ममी, पिरामिड, स्टैच्यू, म्यूजियम इसी मृतक प्रतीकवाद के परिपोषक हैं। मृतकों के प्रतीकवाद के पास भविष्य–दर्शन की कोई विधा व रूपरेखा नहीं, जहां तक कब्रों का अस्तित्व प्राप्त होता है–वहीं तक उनके मानवीय इतिहास का अस्तित्व है, वहीं तक है उनके ऐतिहासिक काल की परिसीमा। यही कारण है कि जहां तक मानवीय हड्डियों के खण्ड प्राप्त होते हैं।, वहीं उनके वैज्ञानिक चिन्तन की सीमा स्थिर हो जाती है, पुनः नये टुकड़े के प्राप्त हो जाने पर वह फिर बदल जाती है। भौतिक मृतत्वशास्त्र द्धफिजिकल एन्थ्रोपोलोजीद्ध का अभी तक यही इतिहास रहा है। अतीत का वर्तमान से क्या सम्बंध है–इस दृष्टि का समुचित सूत्रपात यूरोप में 19वीं शती में वहां के विद्यापीठों में भारतीय विद्याओं के प्रवेश एवं उनके तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् प्रारंभ हुआ है। भारतीय संस्कृति में इतिहास के तत्व–चिन्तन की सीमा अपने वर्तमान के लिए–अतीत की स्मृति के रूप में रही है। इतिहास की दृष्टि से 'पारिप्लवाख्यान' का महत्व पुराणपाठ के सन्दर्भ में असाधारण है (सतपथ ब्राह्मण–13–4–3–15) महर्षि कात्यायन कृत श्रौतसूत्र में इस अनुष्ठान का संपूर्ण प्रयोग भली–भांति समझाया गया (कात्यायन श्रौतसूत्र–1)। धार्मिक दृष्टि से इतिहास ग्रहण याज्ञिक कर्मकाण्ड की सीमा में एक आवश्यक विधि के रूप में घोषित हुआ, अतः यह प्रशिक्षण का एक प्रधान विषय भी रहा है।" –डा वासुदेव पोद्दार

इतिहास से पहले के लोग कितना भी राजनीति, अर्थ–व्यवस्था और समाज–व्यवस्था के चर्चा का लक्ष्य रखते हों, आज लोग उस पूरी मानवीय अंतः प्रक्रिया को इतिहास में समेटते हैं, जो किसी–न–किसी रूप में आख्यान है। इतिहास इन सब के बीच में क्या घटित हो रहा है जांचता है। और आगे के एतिहासिक ज्ञान को थाती सौंपता है कि इसे संभालकर रखो, इससे सीख लो। हमारे शास्त्रों में इतिहास को मित्र की तरह सलाह देनेवाला कहा है। इतिहास हितचिंता तो करता है, पर वह आवेग में नहीं चलता। वह प्रिय–अप्रिय की चिंता न करके हितकारी होने की चिंता करता है। यह इतिहास की अपनी स्वायत्तता है कि सभी शक्तियों को एक तराजू पर रखे, किसी को कमोबेशी महत्व न दे यह स्वयत्तता यहीं समाप्त हो जाती है। इतिहास प्रेमी को विस्थापित नहीं करता, वह स्वयं जहां संवेदनाओं का क्षेत्र है, चुपचाप खिसक जाता है। आवेग के क्षण में काल या तो जम जाता है या फिर इतना तेज दौड़ता हैकि पता ही नहीं चलता कहां–से कहां पहुंच गया। साहित्य की स्वयत्तता की बात देखें–

इतिहास दर्शन का प्रादुर्भाव

इतिहासदर्शन का प्रादुर्भाव इस बात पर ही हुआ कि इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय–समय पर बदलते रहे हैं, इसी तथ्य के आधार पर 'इतिहासदर्शन' विषय की स्थापना हुई। जिसमें इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्किोणों, धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है।

चूंकि 'इतिहासदर्शन' के अन्तर्गत इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों, धारणाओं व विचारों का अध्ययन किय जाता है इसलिए इतिहास संबंधी इन्ही विचारों, धारणाओं को समूहरूप में 'इतिहासदर्शन' की संज्ञा दी जाती है। भारतवर्ष की संस्कृति में काल और इतिहास की धारणा अत्यन्त प्राचीन है। आचार्यप्रवर यास्क ने निरूक्त में इसका संबंध ।ग्वेद से जोड़ा है–

"यह सूक्त कूप में गिरे हुए त्रितके मन में प्रकट हुआ था। इस प्रसंग में एक प्रार्थना है, जो कि इतिहास, मंत्र तथा गाथा से मिश्रित है।"

त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ।

तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृड्मिश्रमृग्ड्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।। –निरुक्त 4–6

NOTES

निरुक्त में 'इतिहासमाचक्षत' जैसे स्पस्ट प्रयोग भी प्राप्त हैं यास्क कैसम तक इतिहास एक स्वतंत्र अध्ययन काविषय बन गया था। अध्ययन की विभिन्न शाखा एवं विषय विस्तार में इतिहास काअपना विशिष्ट स्थान था– निरूक्त में –'इतिऐतिहासिका:' जैसे प्रयोग प्राप्त होते हैं ।

यह एक दुर्भाग्य रहा कि पश्चिम के विद्वानों ने 'इतिहासदर्शन' (Philosophy of History) का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में किये जिसका परिणाम यह हुआ कि हम उसमें उनके अपने –अपने दृष्टिकोणों को ही आरोपित करने का प्रयास पाते हैं। सर्वप्रथम वोल्तेर ने इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए इसके अर्थ को केवल 'आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास' तक सीमित रखने का प्रयास किया। हीगल ने इसका प्रयोग विश्वइतिहास के अर्थ में तथा परवर्ती युग के कुछ विद्वानों ने केवल परीक्षणात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए किया। इतिहास के अध्ययन में उपलब्ध पूर्व से पश्चिम तक तथा प्राचीन से आधुनिक काल तक के सभी दृष्किोण प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी स्थिति में, हमें एकांगी और एकपक्षीय धारणाओं से बचना भी है और साथ ही उसको व्यापक और सर्वग्राही बनाने हेतु उसका समन्वित अर्थ ग्रहण करना होगा। तभी 'इतिहासदर्शन सभी दृष्टिकोणों, विचारों और अध्ययन पद्धतियों के समूह का सूचक होगा तथा इतिहास के अध्ययन में सहायक होगा। तात्पर्य यह कि 'इतिहासदर्शन' की सार्थकता इतिहास के अध्ययन को सरल, सटीक और तथ्यात्मक बनाने में सहयोग करना ही है।

4. इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

इतिहास के प्रति आदर्श और अध्यात्मवादी दृष्टिकोण – इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्वों व प्रवृतियों के अनुसंधान की प्रवृति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्राय: सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरंतन मूल्यों को अधिक महत्व दिया जाता रहा है, अत: यहाँ के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की, अर्थात वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृतियों का अनुसंधान करते रहे जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती हैं।उन्होंने घटनाओं एवं क्रिया–कलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके समष्टिहित की दृष्टि से अधिक की। इसलिए महाभारतकार ने जहाँ इतिहास को एक ऐसा पूर्ववृत माना, जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके, तो पौराणिकों ने ;षियों एवं महापुरुषों के चरितगान को इतिहास के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व दिया।

भारतीय चिन्तन–दर्शन की परंपरा में इतिहास कला नहीं, वह विज्ञान और शास्त्र है। इसीलिए भारतीय इतिहास दृष्टि का विषय प्रवर्तन हिरण्यगर्भ की संरचना से होता है, इस इतिहास शास्त्र की सामग्री अत्यन्त प्रचीन है, अत: इसका सर्वप्रसिद्ध नाम पुराण है –

"यस्मात् पुरा ह्याच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।"

प्राचीनकाल में ऐसा हुआ था, इस अर्थ में पुराण है। प्राचीन इतिहास के पांच लक्षण स्थिर किये हैं अर्थात् संम्पूर्ण विवेच्य सामग्री को पांच भागों में विभक्त कर दिया गया– (1) सर्ग, (2) प्रतिसर्ग, (3) मन्तर, (4) वंश और (5) वंशनुचरित

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

यद्यपि आगे चलकर बाण, कल्हण आदि इतिहासकारों ने इतिहास अन्तर्गत आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्वों की अपेक्षा यथार्थपरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्व प्रदान किया, किंतु काव्यात्मकता एवं अलंकृति का मोह वे भी नहीं त्याग सकें। इसीलिए जहाँ प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएं चारित्रिक मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त होकर पौराणिक रूप में परिणत हो गयी, वहाँ परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएँ शुद्ध इतिहास की अपेक्षा काव्यात्मक इतिहास या ऐतिहासिक काव्य के रूप में विकसित हुई।

वस्तुत: भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य–शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह 'शिव' और 'सुन्दरम्' के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। वास्तव में भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शों के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें 'सत्य', 'शिव' व 'सुन्दरम्' के समन्वय का प्रयास किया जो उसकी परंपराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जा सकता है। भारतवर्ष के महर्षियों ने इतिहासपुरुष के महान्विग्रह की पूजा सर्वदा महाकाल के मंदिर में की है ।

अहोकालसमुद्रस्य न लच्यन्तेऽतिसंतताः।

मज्जन्तोऽन्तरनन्तस्य युगान्ताः पर्वता इवं॥

यहां काल और इतिहास में बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव है, काल बिम्ब है (इतिहास प्रतिबिम्ब। भारतीय काल गणना का प्रारंभ किसी राजवंश या धार्मिक गुरूओं के नाम निर्देश से नही होता, उसका प्रारंभ सृष्टि संवत् से होता है –विश्व का समुद्भव और विकास।

NOTES

"इस अर्थ में वह धर्म निरपेक्ष और राजतंत्र के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। कालसमुद्र की गहनता के भीतर अवतरित होता है इतिहास पुरुष का दिव्य विग्रह, उसके प्रतिमाविन्यास की भव्यता उसके तात्विक स्वरूप को भली–भांति उजागर कर देती है। सृष्टिसंवत् का प्रारंभ श्वेतवाराह कल्प से होता है, अतः इतिहास पुरुष वाराह मुख है, काल प्रवाह का विपुल स्वरूप उसके उदर में समाहित है सलिए वह महोदर है, पृथ्वी का रंग–रूप उसकी वर्ण–छटा है–अतः कुशाभास है। उसके एक हाथ में अक्षसूत्र है–काल का संख्यात्मक निर्देश, जो वहां स्फटिक की तरह स्वच्छ यथार्थ गणना के साथ प्रस्तुत है। ज्ञानामृत का दान उसका पावन उद्देश्य है इसलिए उसके द्वितीय कर में सुधा घट विद्यमान है। भारतीय संस्कृति के इतिहास पुरुष का यह अनुपम विग्रह कमल के आभूषणों से शोभायमान है–कमल स्वयं सौन्दर्य, विकास, आनन्द, शुचिता और निरपेक्षता का प्रतिमान है–

इतिहासः कुशाभासः सूकरास्यों महोदरः।

अक्षसूत्रं घटं बिभ्रत्पङ्कजाभरणान्वितः।

किंतु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा दोष भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान दे कर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा। फिर भी, यदि इतिहास के कलात्मक या काव्यात्मक रूप का किसी भी दृष्टि से कोई महत्व है तो उस दृष्टि से भारतीय इतिहासकार को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहासकार की दृष्टि सदैव जीवन को उच्चतर मूल्यों में स्थापित करने की रही है। इसलिये वह जब भी इतिहास को देखता है तो उसमें संश्लेषणात्मक और समन्वयत्मक दृष्टिकोण अवश्य रखता है।

भारतीय इतिहास में युग–विभाजन

काल के अखण्ड प्रवाह में मानवीय अस्तित्व का गतिमय स्वरूप इतिहास है। मानवीय प्रज्ञा द्वारा किया गया इस गति का विभाजन युग। प्रज्ञा काल के अखण्ड स्वरूप को विभाजन के माध्यम से ही ग्रहण करती है। भाषा इसे भूत, भविष्य और वर्तमान के निर्देश द्वारा व्यक्त करती है। ऐसी अवस्था में इस प्रवाह के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए संख्यात्मक संकेत आवश्यक हो जाता है। मात्र भूत और वर्तमान शब्द का व्यवहार संख्यात्मक निर्देश के बिना पर्याप्त नहीं– जो भविष्य और वर्तमान है, वही कालांतर में अतीत हो जाता है, ऐसी अवस्था में अनादि–अनन्त कालप्रवाह में किसी भी घटना को पुनः काल के संदर्भ में संकेतित करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है। शताब्दी और सहस्त्राब्दी तो बहुत दूर, यदि कालगत संकेत का मात्रक सुनिश्चित न हो तो हम किसी भी कालबिन्दु की पहचान वर्ष के लघुतम मान में भी नहीं कर पाते, ऐसी अवस्था में इतिहास की वही अवस्था होती है, जो यूनान के इतिहास की हुई है। हमारे इतिहासकार जहां क्षेपकों के गठ्ठर को माथे पर रख कर ईसामसीह के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं, वही कालिया सिद्धांत समग्र बौद्धिक चेतना के साथ हमारे अतीत और वर्तमान के नये आयामों का उद्घाटन कर रहा हैं ।

भारतीय इतिहास में प्रायः पांच प्रकार का युग–विभाजन रेखांकित किया गया है –

1. एक वह युग–विभाजन जो सृष्टि के तिथि–क्रम पर आधारित है, इसका व्यवहार भारतवर्ष में प्राचीन इतिहास की परम्परा को रेखांकित करने की दृष्टि से हुआ, यथा –कल्प, मन्वन्तर, महायुग, युग।
2. यह परम्परा संवत् प्रधान संवत्सर के गणनाक्रम पर आधारित है–यथा सृष्टि संवत्, युधिष्ठिर संवत्, विक्रम संवत्, शक संवत्, शालिवाहन संवत्, इसाई संवत् आदि–आदि।
3. यह प्रकार न्यूनाधिक रूपकात्मक है, इसका संबंध जहां इतिहास से है वहीं विकासवाद से भी है, यथा– पाषाणयुग, तामयुग, लौहयुग आदि।

NOTES

4. इस विभाजन का आधार सांस्कृतिक इतिहास की युग प्रधान काल्पनिक भावना है—स्वर्णयुग, रजतयुग, रेनेसां, बरोक, इन्लाइटन्मेन्ट, एज आफ रीजन आदि।

5. यह विभाजन काल के रूपकात्मक परिवेश की प्रतिबद्धता के आधार पर किया गया है —आदिमयुग, प्राचीनयुग, मध्ययुग आदि—आदि।

कुछ इसी तरह पाश्चत्य में कालविभाजन की परंपरा मिलती है जिसे आगे देखेंगे

5. इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

"यूरोप के विद्यापीठों में भारत के काल–चिन्तन और इतिहास–दर्शन का मखौल मेक्समूलर जैसे विद्वान उड़ा रहे थे। गौरांग शासकों के विज्ञान और इतिहास चिन्तन से इस पराधीन देश के पण्डित और इतिहासज्ञ भी आक्रान्त थे, क्योंकि उनका रोब और प्रभाव भी सामान्य न था। भारतीय विद्वान समझते थे कि कल्प, मन्वनतर और महायुग की काल–गणना के उच्चारण मात्र से ही उन्हें दकियानूस और पोंगा–पंण्डित की उपपत्तियों का खिताब मिल जाएगा, अत: भारतीय सृष्टितत्व की प्रमाण–मीमांसा को कालगणना की उपपत्तियों के साथ प्रस्तुत करने का साहस यहां के इतिहासज्ञों में नहीं था। वे भी सुर में सुर मिलाकर पश्चिम के इतिहास चिन्तकों की हां में हां मिला रहे थे।" —डा. वासुदेव पोद्दार

वस्तुत: जातीय चेतना का गहरा संबध इतिहास बोध से है। यूरोप में हर देश के फासिस्ट पुराना इतिहास खखोल रहे थे। जो पुराने वीर हुए थे, महापुरुष थे, जिनके नाम से जनता परिचित थी, उनके जीवन को वे अपने आन्दोलन से जोड़ रहे थे। इतिहास के बारे में भ्रांतियां फैला रहे थे लेकिन नामों का उपयोग व कर रहे थे। दिमित्रोव लिखता है–

"प्रत्येक जाति के समूचे इतिहास को फासिस्ट टटोल रहे हैं जिससे कि वे साबित कर सकें कि अतीत में जो कुछ वीरतापूर्ण था, उसके वारिस वे हैं और उसे आगे बढ़ा रहे है। आम जनता की जातीय भावना को ठेस पहुंचाने वाला जो कुछ भी घृणित या पतित है, उसका उपयोग वे फासिस्टवाद के शुत्रओं के खिलाफ करते है।"

इटली में गैरीबाल्डी राष्ट्रीय योद्धा के रूप में प्रसिद्ध थे, उनके नाम का उपयोग वहां के फासिस्टों ने किया। अमरीका में एक गुट ने वाशिंगटन और लिंकन के नाम का उपयोग किया।

इतिहास और अतीत की घटनाओं को जिस प्रकार से दिमित्रोव समझता है, उससे इतिहास का महत्व हमारे समाने तो आता ही है, यूरोप में इतिहास का दृष्टिकोण भी हमारे समाने आता है।

"जो कम्युनिष्ट अतीत के प्रति आम जनता को सचेत नहीं करते और समझते है कि उससे हमे कुछ लेना देना नहीं है, वे जाति के ऐतिहासिक अतीत में जो भी मूल्यवान है, वह सब अपने हाथों फासिस्ट मिथ्यावादियों को सौंप देते हैं जिससे कि वे उसका उसका उपयोग करके जनता की आखों में धूल झोंक सकें।" —दिमित्रोव

इतिहास की पाश्चत्य दृष्टि और यर्थाथवाद

"जहाँ भारतीय इतिहासकारों के दृष्किोण में आदर्शवादिता की प्रमुखता रही, वहीं पाश्चात्य इतिहासकार प्राय: यथार्थवाद दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहे हैं।" —आचार्य नगेन्द्र

"पश्चिम की इतिहास दृष्टि बाइबिल के धार्मिक विश्वास से आक्रांत और संस्कारित है — वहां न काल की अवधारणा है, न इतिहास की दीर्घदृष्टि। वहां इतिहास और मानवीय समुदभव के सुदूर अतीत की खोजविराट् शून्य में महानगर की खोज जैसा ही कार्य है।" —डा. वासुदेव पोद्दार

"पश्चिम के जगत में इतिहास का तत्व दर्शन ईसाई धर्म के विश्वास पर टिका है। सेंट आगस्टाइन से हेगल तक का कार्य आडम्बर के अनुक्रम पर टिका है, इस विश्वास ने ईश्वर के कार्यकलाप को इतिहास के माध्यम से देखा है हेगल ही अब तक ऐस कहते हैं–सम्पूर्ण इतिहास ईसामसीह तक जाता है और वहां से आता है। ईश्वर के पुत्र के आविर्भाव संपूर्ण संसार के इतिहास की धुरी है। हमारा कालानुक्रम विश्व के इतिहास का प्रतिदिन का साक्षी है, जिसका निर्माण ईसाई धर्म के द्वारा हुआ है।" —कार्ल जैस्पर्स

उक्त पंक्तियों में लेखक ने पश्चिम की इतिहास दृष्टि को प्रस्तुत किया है। वस्तुत: यह ईसाईयों का अपना विश्वास हो सकता है, इतिहास या उसका तत्व–दर्शन नहीं। कार्ल जैस्पर्स ने स्वयं इसका खण्डन करते हुए लिखा है–

"ईसाई धर्म की यह निष्ठा तो केवल एक विश्वास मात्र है, पर संपूर्ण मानव जाति का विश्वास नहीं। जागतिक इतिहास का यह दृष्टिकोण भूल से भरा है, जो मात्र एक ईसाई धर्मावलम्बी के लिए प्रमाण है। तदुपरांत मात्र पश्चिम में ही ईसाइयों ने इतिहास की अनुभववादी अवधारणा को अपनी निष्ठा से नहीं बांध रखा है। विश्वास का विषय यथार्थ इतिहास के सन्दर्भ में अनुभववादी अन्तर्दृष्टि का विषय नहीं हो सकता, जो अपने अर्थ की दृष्टि से नितांत भिन्न है। एक ईसाई धर्मावलम्बी भी इस धार्मिक परंपरा की गवेषणात्मक दृष्टि से परीक्षा कर सकता है।" —कार्ल जैस्पर्स

"बीमार अवस्था में सोचते समय यह ध्यान में आया कि सामान्यतः चरित्र जिस प्रकार लिखे जाते हैं, उसी प्रकार मेरी क्षुद्रता तथा प्रमादों पर पर्दा डालकर यदि कोई मेरा चरित्र लिखेगा तो वह पूर्णरूपेण असत्य होगा। जो कोई मेरा चरित्र लिखना चाहता है उसे सम्पूर्ण सत्य लिखना चाहिए। लेखक को ऐसा लिखने में कितना भी संकोच हुआ तो भी संम्पूर्ण सत्य पर प्रकाश डालने वाला चरित्र ही अन्ततोगत्वा पाठकों के लिए हितप्रद सिद्ध होगा।" —टॉलस्टॉय

उक्त कथन इतिहास को परिभाषित करने में सहायक हैं।

पश्चिम की ऐतिहासिक व्याख्या

1. **यूरोप की परम्परा और यूनान** — योरोप की परम्परा यूनान से प्रारंभ होती है। यह संस्कृति संपूर्ण रूप से इतिहास विरोधी ही रही है क्योंकि यहां के दर्शन में इतिहास के लिए कोई चिन्तन नहीं था। इन्होंने यहूदियों की तरह कभी यह नहीं सोचा था कि यह सृष्टि किसी उल्लेखनीय अन्त या उद्देश्य को सम्मुख रखकर प्रवर्तित हुई है, न आधुनिकों की तरह इनके पास काल की ही कोई सर्जनात्मक अवधारणा थी। इतिहास के सुप्रसिद्ध वि)ान हर्बर्ट बटरफील्ड ने इस सत्य को बड़ी स्पष्टता के साथ अपने महतवपूर्ण प्रबन्ध हिस्टोरियोग्राफी में उजागर किया है।

(2) **होमर और उसके पूर्व की स्थिति** — आज यह सुनिश्चित हो चुका है कि होमर के पूर्व एक बहुत बड़ी संस्कृति यूनान में थी, जिसे 'माइसेनियन' संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है, पर होमर के माध्यम से हम उसका संकेत मात्र ही प्राप्त करते हैं। वहां के इतिहास पण्डितों की दृष्टि में होमर के भीतर जनश्रुति और कल्पना का इतना अधिक अंश है कि स्लीमान से पूर्व 19 वीं शती तक के संपूर्ण इतिहासकार इस सुविशाल सांस्कृतिक परंपरा को मिथक ही मानते रहे हैं निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वहां इतिहासतत्व का इतना बड़ा अभाव था, फलतः इतने दीर्घ इतिहास के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया गया। इतिहासतत्व का यह अभाव जनित प्रभाव इतना प्रबल है कि आज भी निश्चय के साथ यह कहना कठिन है कि होमर के पूर्व यूनान की भाषा ग्रीक ही थी। यहां तक कि यूनान के इतिहास का दीर्घ युग बीतने पर भी वहां के इतिहासकारों की दृष्टि में यह दीर्घकाल, मात्र कुछ सौ वर्षों का ही था। कुछ लीगल ट्रिटाइजेज ऐसी मिली है। जिसपर सौ वर्ष लिखे हुए भी है, पर तिथि आदि का कोई संकेत वहां न होने के कारण पांच-दश वर्ष में कहीं भी यह सौ की संख्या समाप्त हो जाती है। यही कारण है यूनान का ट्रोजन-युग से लेकर सैकड़ो वर्षों का संपूर्ण इतिहास ही अन्धकारमय है। होमर का समय 9 वी.सी. अनुमानित है। लगता है, इस दिशा में वहां न किसी सम्राट का ही ध्यान गया, न किसी इतिहास चिन्तक का ही।

(3) **पश्चिम के इतिहास के प्रथम व्याख्याकार** — पश्चिम के इतिहास के प्रथम व्याख्याकार युनानी विद्वान हिरोदोतस (456-545 ई.पू.) ने इसे 'खोज', गवेषणा या अनुसंधान के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किए थे। एक तो यह कि इतिहास वैज्ञानिक विद्या है, अतः इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। दूसरे, यह मानव-जाति से संबंधित होने के कारण मानवीय विद्याद्धमानविकीञ्च है। तीसरे तर्कसंगत विद्या है, अतः इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाण पर आधारित होते हैं। चौथे, यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है, अतः यह शिक्षाप्रद विद्या है तथा इसके अतिरिक्त हिरदोतस मानता है कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

आचार्य नगेंद्र का कहना है कि प्राचीन युग में सामान्यत हिरोदोतस का ही दृष्टिकोण मान्य रहा, किंतु आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने इसके संबंध में नये दृष्टिकोण से विचार किया। इटैलियन इतिहासकार विको द्ध1668-1744ञ्च ने इतिहास का संबंध न केवल अतीत से अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य होता है और मनुष्य की मूलभूत प्रवृतियाँ सदा समान रहती हैं, अतः विभिन्न युगों के इतिहास में भी समान प्रवृतियों का मिलना स्वाभाविक है। इतिहास लेखन की पद्धति के संबंध में भी विको ने अनके सुझाव देते हुए इतिहासकारों को अतिरंजना व अतिशयोक्ति से बचने और अतीत को अधिक महत्व न देने की बात कही।

(4) **इतिहासतत्व की शास्त्रीय दृष्टि : 18वीं-19वी शताब्दी** — "पश्चिम की परम्परा के पास इतिहास की अवध ारणा कभी भी स्पष्ट नहीं रही, आज भी नहीं है। यूनान, रोमनयुग और मध्ययुग का तो प्रश्न ही नहीं-योरोप में इस दृष्टि का

किंचित् उन्मेष हमें 18वीं–19वीं शती में दिखलाई देता है। इतिहास दृष्टि का किंचित ऊहापोह का क्रम सर्वप्रथम जी.वाइको द्ध1725ऋ एवं हार्डर द्ध1774ऋ से प्रारंभ होता है। इतिहास की तत्वदृष्टि का आश्रय है – काल का तत्व–दर्शन, जिसकी अवधारणा के बिना हम इतिहास को ही नहीं समझ सकते। योरोप की सभ्यता के पास इसका अभाव प्रारंभ से ही रहा है। यही कारण था कि यूनान के इतिहास चिंतक अपने संपूर्ण इतिहास को सर्वदा कुछ सौ वर्ष काही समझाते रहे। '' डा वासुदेव पोद्दार जर्मन दार्शनिक कान्त द्ध1724–1804ऋ ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आंतरिक विकास–प्रक्रिया का प्रतिबिंब मात्र है, अतः इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। अर्थात ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृति को समझने का प्रयास किया जाना चहिए। हीगेल द्ध1770–1831ऋ ने कान्त की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट किया कि इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कारण–कार्य की श्रृंखला विद्यमान है। हीगल के अनुसार इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव–चेतना का विकास है, जो द्वंद्वात्मक पद्धति पर आधारित है। इस द्वंद्वात्मक पद्धति या प्रक्रिया के अनुसार वाद एवं प्रतिवाद के द्वंद्व से समवाद का विकास होता है। इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वंद्वात्मक पद्धति के आधार पर होनी चाहिए।

उन्नीसवीं शती में डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धांत की स्थापना के द्वारा इतिहास को एक नूतन–दृष्टि, शक्ति और गति प्रदान की। उसका मानना है कि इतिहास का अर्थ घटना–समूह का संकलन न होकर विकास–क्रम का विवेचन है। कार्ल मार्क्स, एंजल्स, मारगन, हक्सले प्रभृति अनेक विद्वानों ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपनी–अपनी दृष्टि से की। बीसवी सदी के अनेक विद्वान इतिहासकारों–स्पेंगलर, टवायनबी, टर्नर आदि ने विश्व–संस्कृति और सभ्यता के इतिहास की व्याख्या विकासवादी नियमों व प्रवृतियों के आधार पर करने की चेष्टा की। किन्तु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता।

किंतु आज पाश्चात्य इतिहासदर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है। किंतु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले विकासवादी चिंतकों के सिद्धांतो में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का आभाव है, जहाँ डारविन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहीं मार्क्स का विकासवादी सिद्धांतों के विरोध में भी प्रतिक्रिया हो रही है, विद्धानों का एक वर्ग इन्हें 'विधेयवादी' कहकर ठुकराने का प्रयास कर रहा है। सार्त्र आदि के वे अनुयायी, जो कि नियमबद्धता, पूर्वनिश्चितता एवं पूर्वनिर्धारण के विरोधी हैं, इतिहास को भी किसी नियम से संबद्ध करना कैसे स्वीकार कर सकते हैं।

वस्तुतः पश्चिमी विकासवाद की यह अवधारणा विभिन्न विधाओं में तथा विभिन्न वैज्ञानिकों में अलग–अलग प्रकार से मिलती है। अस्तित्ववादियों का मानना है कि जब प्रकृति एवं मनुष्य ही नियमों से मुक्त हैं तो उनके इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे सम्भव है। कदाचित हीगल के शब्दों में यह भी वाद का प्रतिवाद ही है। इस प्रकर पश्चिम में इतिहास की अवधारणा स्पष्ट और सुसंगत नही है।

इतिहास में पाश्चात्य काल विभाजन

पश्चिम में यह विभाजन 'एरा' शब्द के द्वारा प्राप्त होता है। रोमन राज्यकाल के प्रसिद्ध इतिहासकार लिवी ने 2 बी. सी. में इसका प्रथम बार उपयोग किया, जिसका आधार रोम की स्थापना से संबन्धित दन्तकथाएं थी।ओल्ड टेस्टामेन्ट की सृष्टि कथा के आधार पर ईसाई धर्मावलम्बियों ने एक नये संवत की सृष्टि की, यह सृष्टि छः दिनों में बनी, प्रत्येक दिन का मानवीय मान 500 वर्ष है। अतः इस दृष्टि से सृष्टि को माने तो ईसा तक 4000 वर्ष व्यतीत हो चुके थे, 17वीं–18वीं शती तक तो यह व्यवहार ईसाई मत की दृष्टि से ही होता रहा, पर कालान्तर में यह धर्म से हट कर सामान्य कालमान के रूप में स्वीकृत हुआ, फलतः बी.सी.द्धईसापूर्वऋ के माध्यम से सुदूर अतीत का भी अनुमान ग्रहण कर लिया गया, ए.डी. (ईसा पश्चात) का व्यवहार मध्ययुग से ही प्रचलित होना प्रारम्भ हो गया, ईसा के अवतरण की घटना को यहां केन्द्र में रख दिया गया। सेन्चुरिया या शती शब्द का व्यवहार भी अति नवीन है–इसका प्रथम प्रयोग 17वीं–18वीं शती के मानवतावादियों ने किया, प्राचीन एवं मध ययुगीन लेटिन में इसका व्यवहार कहीं नहीं देखा जाता। पूर्व में प्राचीनता की दृष्टि से देखा जाय तो इसका प्रथम व्यवहार ,गवेद में प्राप्त होता है–जीवेम शरदः शतम्, पश्चिम की परम्परा में इतिहास का शती या 'सेंचुरी' के रूप में विभाजन अपेक्षाकृत नूतन या माडर्न है। यह मांडर्न या माडर्नस शब्द का प्रयोग ऐन्टीक या ऐन्टीक्वज के विरूद्ध अर्थ में मध्ययुग में प्रचलित हो चुका था। इस शब्द संकेत द्वारा काल का स्पष्ट विभाजन तो नही होता, पर प्राचीन सन्दर्भ में नूतन की अवधारणा भर होती है। पूर्व की संस्कृति में प्रत्न, पुराण, पुरा, पूर्व शब्द का बहुशः प्रयोग ऋगवेद में प्राप्त होतेहै। यहां तक कि 'पूर्व' और 'नूतन ' दोनों पे शब्दों का एक साथ प्रयोग विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋगवेद में ठीक प्रारम्भ के प्रथम मंत्र को छोड़कर दूसरे में ही हुआ है।

"ईश्वर के द्वारा इतिहास के नियत्रंण के सिद्धांत को प्रथम बार चुनौती 'रेनेंसा' युग के माध्यम से ही दी गई, उस युग के मानवतावादी दृष्टिकोण के आचार्यों ने कला और ज्ञान के नव जन्म या पुनर्जन्म की घोषणा रीनासीता या रेनेसां शब्द से इस नवोदय में मध्यवर्ती काल खण्डों डार्कएज, मेडिवल एज अन्धयुग की संज्ञा प्रदान की गई, चाहे कारण कुछ भी रहा हो यह प्रथम वज्रपात सोलहवीं शती के मध्य के प्रोटेस्टेन्टों द्वारा ही हुआ था। अन्ततः मध्ययुग की ईसाई संस्कृति को अंधकार-युग की संज्ञा दे दी गई, फलतः ईसाई धर्म से निःस्यूत सरल-रेखा में गमन वाला इतिहास-दर्शन पुनः चक्रवात गतिक्रम में सोचा जाने लगा, जिसे कभी यूनान ने भारतीय प्रभावों के कारण सोचा था। सत्रहवीं सती में हार्निंयस (1666) ने प्राचीन और नवीन के मध्य एक नया युग विभाजन उत्तर प्राचीन युग के नाम से व्यवहृत किया, जिसकी चर्चा कभी पेट्रार्क ने की थी। प्राचीनता और नवीनता के मध्य वाल्टेयर के द्वारा 18वीं शती में मध्य स्पष्ट रेखा खींची गई। रोमन राज्य के अध पतन के पश्चात् नवीन युग का प्रारम्भ स्वीकार किया गया। इस नवीन युग का नाम इन्लाइटन्मेन्ट शब्द के द्वारा हुआ। 19वीं शती में योरोप के विश्वविद्यालयों में मांडर्न हिस्टरी के पीठ स्थापित होने लगे, कालान्तर में माडर्न शब्द अपने अर्थ विस्तार की प्रक्रिया में संकुचित होत-होते रीसेन्ट और कान्टेम्पोरैरी के अर्थ में व्यवहृत हुआ। फ्रांस के इतिहास पण्डितों ने इसका व्यवहार वहां की प्रसिद्ध क्रांति से जोड़ दिया, पश्चिम की परंपरा में इतिहास और युग दोनों का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। युग व पीरियड शब्द ग्रीक भाषा के पेरी और होडांज शब्द की उपज है, जिसका अर्थ है पेरी अर्थात अराउण्ड एवं होडांज यानी वे, मैनर उसी प्रकार एपीसोड पद की निरूक्ति है-एपी-स होडांज। जिसका अर्थ मेथड अर्थात मेटा-होडांज वहां इनका महत्व एक 'मनोविचार' से अधिक कभी नहीं रहा। उसी प्रकार काल की सैद्धान्तिक अवधारणा एक सरल-रेखा की तरह रही है, जो दो पांच सहस्त्र वर्ष पश्चात कहीं भी दिखाई नहीं देती।" -डा. वासुदेव पोद्दार

6. साहित्य का "इतिहास दर्शन"

साहित्य ने जो श्रेय अर्जित किया है, वह इसके गहरे स्थायी भावात्मक महत्व के कारण हुआ है। साहित्य के अध्ययन से हम जीवन के साथ व्यापक अंतरंग एवं नित्यनवीन संबधों की स्थापना करते हैं। हम जीवन के नित्य रागात्मक सम्पर्क में आते हैं। यही कारण है कि सहित्य का हम पर इतना प्रभाव पड़ता है। मानव जाति ने जो देखा, परखा, पाया उन सबका साहित्य इतिवृत है। सामान्यतः साहित्य में साहित्यकार के व्यक्तिगत अनुभव -उसके वाह्य और आम्यातंरिक जीवन, उसके निजी भावों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति रहती है। परंतु साहित्यकार केवल निजी भावों और आकांक्षाओं को लेकर ही जीवन धारण नहीं करता(वह मानव-जाति का एक सदस्य भी है, वह समाज के संबंधों के बीच जीता है। अतएव उसकी रचना में मानव-जाति के सुख-दुख, राग-विराग की अनुभूतियां, जनम-मरण, पाप-पुण्य आदि धारणाओं, ईश्वर-नियति इतयादि गहन सत्ताओं के प्रति संवेदनीयता भी रहती है। साहित्यकार की यही व्यापक संवेदनशीलता उसे कालक्रम में जीवन और जगत के प्रति निजी दृष्टिकोण दे देती है, विश्व के विभिन्न पक्षों के प्रति मान्यताएं एवं दृष्टिकोण एक सुनिश्चित अनुबंध प्राप्त कर साहित्यकार के जीवन दर्शन की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। साहित्यकार का अनुभव क्षेत्र जितना व्यापक होगा, उसकी अनुभूतिक्षमता जितनी तीव और परिष्कृत होगी, जीवन के विभिन संबंधों और धारणाओं का उसके द्वारा आकलन उतना ही प्रामाणिक होगा।

सामान्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका इतिहास से संबंध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से असंबद्ध नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया-कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। कोई भी रचना मानवीय क्रिया कलापों के इर्द-गिर्द ही घूमती है। वह मनुष्य के वृतियों की सूचक होती है। जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजनेताओं के जीवन, क्रिया-कलापों, घटनाओं को संकलित किया जाता था, इसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी रचना और रचनाकार का स्थूल परिचय संकलित किया जाता था। किन्तु अन्य विधाओं की तरह साहित्य के इतिहास का भी समय के साथ विस्तार हुआ जिससे साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में भी तदनुसार सूक्ष्मता व गंभीरता आती गयी। यद्यपि यह मानने में कोई संकोच नही है कि आज भी अन्य की तुलना में साहित्य का साहित्यदर्शन उतना विकसित रूप में सामने नही आ सका है।

दर्शन जीवन और जगत की बौद्धिक व्याख्या है। सत्य का निरन्तर और निरपेक्ष अनुसंधान इसका ध्येय है। चेतना की अनय वृत्तियों को छोड़ इसमें केवल बोधवृति ही सक्रिय रहती है। बोधवृत्ति के संचरण में अन्य वृत्तियों का विक्षेप जितना कम होगा, सत्य का शोध उतना ही अधिक प्रामाणिक होगा। विभिन्न प्रमेयों के निरीक्षण, वर्गीकरण, संबंधी-निर्धारण आदि इसके व्यापार हैं। सत्य शोधन के इस अभियान और सत्यों के क्रमबद्ध प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में दार्शनिक हमारे सामने कुछ ऐसी उपपत्तियां रखता है जो सामान्य मानवीय संवेदना से संबद्ध है।दर्शन का जन्म ही मनुष्य की इस जिज्ञासा से हुआ कि बाह्य घटनाओं के पीछे कौन-सी शक्ति या नियम व्यापारशील हैं, विविध घटनाओं में कौन-सा क्रम है! मानव-मन विश्व में दृश्य पार्श्व में कोई मूलभूत एकता है अथवा नहीं (बाह्य अव्यवस्था और असंगतियां किसी मूल व्यवस्था के बाह्य रूप में हैं

अथवा नहीं। मानव बुद्धि की विविधता के पीछे किसी मूल एकता के अन्वेषण की उत्कट लालसा ही दर्शन की मूल प्रवृति है। दर्शन का उद्देश्य ज्ञान की उस अखंडता को प्राप्त करना है जो अव्यस्था ओर असंगति से मुक्त हो। वह इसके लिए मानव–मन की इच्छाओं और आकांक्षाओं का, जीवन की स्थितियों का, बाह्य जगत् की घटनाओं का विश्लेषण–परीक्षण करता है और प्रकृति और जीवन के मूल में स्थित अव्यक्त नियमों और व्यवस्था–सूत्रों की खोज करता है।

मानवीय दृष्टि से साहित्य और दर्शन दोनों का ही महत्व असंन्दिग्ध है। दोनों ही मनुष्य की दृष्टि की विस्तीर्ण, सन्तुलित और अखण्ड बनाने का प्रयास करते है। दोनों का ही उदात्त उद्देश्य जगत् और मानव–जीवन में व्याप्त सत्य को प्रकाश में लाना है। दर्शन का उद्देश्य विवेकपूर्ण मूल्यदृष्टि उत्पन्न करना है। हेगेल के शब्दों में चिपसवेवचीव वदसल नवदिसकं गजेमसद्मिद पज नवदिसकं तमसपहपवद वक पद नवदिसकपदह पजेमसद्मिज नवदिसकं तमसपहपवद अर्थात दर्शन अपने स्वरूप का निरूपण तभी कर पाता है जब यह धर्म का निरूपण करता है। तात्पर्य यह कि दर्शन का मूलत: संबंध धर्म अर्थात मूल्यभावना से है साहित्य जीवन–स्थितियों अथवा मानवीय संबंधों के प्रति हमारी भावात्मकता को उद्बुद्ध कर देता है और फिर उन जीवन की स्थितियों और संबंधों के प्रति हमारा सारा व्यक्तित्व सजग हो जाता है। यही कारण है कि दर्शन भी साहित्यिक प्रयत्न को मान्यता और प्रतिष्ठा देता है।

जिस प्रकार साहित्य दर्शन को महत्व देता है उसी प्रकार दर्शन भी साहित्य को महत्व देता है। साहित्य गरिष्ठता और स्थायित्व के लिये दर्शन का मुखापेक्षी है। महान साहित्यकारों–वाल्मीकि, दांते, तुलसीदास, टाल्सटाय इत्यादि–का महत्व इस बात में है कि उनकी अनुभूतियों में एक विशिष्ट दृष्टि का अनुबंध है। उन्होने रसोद्रेक करने के साथ ही जीवन–दर्शन दिया, इसमें एक विशिष्ट आस्था का संचार हुआ। समाज में उसी लेखक को स्थान मिलता है जिसने जीवन को समग्रता में देखकर उसे प्रभावपूर्ण और सुनियोजित अभिव्यक्ति दी।

जीवन में दर्शन की दो कोटियां होती है। एक को हम वैयक्तिक जीवन–दर्शन कह सकते है और दूसरे का परम्परागत। प्रथम कोटिका जीवन–दर्शन अर्जित है। इसके लिए व्यक्ति की जीवननिष्ठा, अनुभूति की क्षमता और विस्तार तथा अन्वीक्षण की सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। दूसरे प्रकार का दर्शन परंपरा या धर्म के माध्यम से मुक्त अथवा अध्ययन से प्राप्त होता है। इसमें व्यक्तिगत अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती। साहित्य में प्रथम कोटि के जीवन–दर्शन का महत्व है। साहित्य का कार्य नयी जीवनदृष्टि प्रस्तुत करना है। साथ ही पुराने दार्शनिक विश्वासों को नवीन आकांक्षाओं के अनुरूप ढ़ालना है। किसी घिसी–पिटी दार्शनिक अवधारणा का यथावत अवतरण करना साहित्य का उद्देश्य नही है। साहित्य में दार्शनिक अनुभूति जीवनानुभूति के निष्कर्ष–रूप में उपस्थित होती है। जब कोई जीवन–दर्शन साहित्यकार के अनुभवों में से आता है तो उसमें रसानुभूति होती है और साहित्यकार के विचार उसकी आस्था में ढ़ल कर प्रकट होते हैं। ऐसे विचार साहित्य को पौढ़, उर्जास्वित और बलिष्ठ बनाते हैं।

साहित्य और दर्शन दोनों का ही संबंध मानव–जीवन से है। अत: दोनों में गहरा साम्य है। किंतु सहित्य में न तो दार्शनिक ऊहापोह का स्थान है और न दर्शन में कल्पना का। साहित्य सुखद भाव का जगत् है तो दर्शन बुद्धि का। दर्शन का कार्य विश्लेषण का कार्य है। दर्शन का उद्देश्य जीवन और जगत् से संबद्ध शाश्वत नियमों अथवा सिद्धांतों का निरूपण है। दर्शन बुद्धि के सहारे सत्यनुसंधान करता है। साहित्यकार इतिहास की क्षणिक घटनाओं को महत्व देता हुआ कह उठता है–

पल–भर की आंधी भर देती युग के रंधों में कोलाहल।

पल भर का गतिवैषम्य मचा देता जीवन में उथल–पुथल॥

तैन की अवधारणा

अंग्रेजी साहित्य में तो यह धारणा है कि किसी भी साहित्य का इतिहास उस जाति के सामिजिक एवं राजनीतिक वातावरण को ही प्रतिबिंबित करता है या साहित्य की प्रवृतियाँ उस समाज की प्रवृतियों की सूचक है। या साहित्य की प्रवृतियाँ संबधित समाजकी प्रवृतियों की सूचक होती हैं, फिर भी इस धारणा को एक सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने श्रेय फ्रेंच विद्वान तैन (ज्पवम) को जात है। इन्होने माना कि साहित्य की विभिन्न प्रवृतियों के मामले में मुख्यत: तीन प्रकार के तत्व सक्रिय रहते है: जाति (तंबम) वातावरण (उपसपमन) क्षणविशेष (उकउमदज)। तेन ने अपनी व्यख्या के द्वारा यह भलीभाति स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन विश्लेषण आवश्यक है।

तैन के इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए हडसन ने इसमें न्यूनता माना किंतु फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में तेन ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, स्पष्ट एवं विकसित सिद्धांत प्रस्तुत किया था, जिसके आधार पर साहित्य की विकास प्रक्रिया को बहुत कुछ स्पष्ट किया जा सकता है।

रामविलास शर्मा लिखते हैं– जातीय चेतना का गहरा संबंध इतिहास बोध से है। यूरोप में हर देश के फासिस्ट पुराना इतिहास खखोल रहे थें जो पुराने वीर हुए थे, महापुरुष थे, जिनके नाम से जनता परिचित थी, उनके जीवन को वे अपने आन्दोलन से जोड़ रहे थे। इतिहास के बारे में भ्रांतियां फैला रहे थे लेकिन नामों का उपयोग वे कर रहे थे, कम्युनिस्ट इस ओर से उदासीन थे।

"प्रत्येक जाति के समूचे इतिहास को फासिस्ट टटोल रहे हैं जिससे कि वे साबित कर सकें कि अतीत में जो कुछ वीरतापूर्ण और गौरवपूर्ण था, उसके वारिस वे हैं और उसे आगे बढ़ा रहे हैं। आम जनता की जातीय भावना को ठेस पहुंचानेवाला जो कुछ भी घृणित या पतित है, उसका उपयोग वे फासिस्टवाद के शत्रुओं के खिलाफ करते हैं।" –दिमित्रोव

NOTES

जर्मन चिंतकों की अवधारणा

साहित्येतिहास की व्यवस्था में जर्मन चिंतकों का भी कम योगदान नहीं है। वैसे तो उनके द्वारा कई सिद्धांत स्थापित हुए, किंतु उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'युगचेतना' (युगचेतना का सिद्धांत) का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। ए.एच. कॉफे ने महान कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या युगीन चेतना के आधार पर करके इस सिद्धांत की महत्ता को प्रमाणित किया है। किंतु डा. नगेन्द्र कहते हैं कि हमारे विचार में यह सिद्धांत भी एकांगी है, क्योंकि साहित्य के विकास में युगीन चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परंपराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है, अतः उनकी उपेक्षा करके सारा श्रेय युगीन चेतना को ही दे देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

"जो कम्युनिस्ट अतीत के प्रति आम जनता को सचेत नहीं करते और समझाते हैं कि उससे हमें कुछ लेना देना नहीं है, वे जाति के ऐतिहासिक अतीत में जो भी मूल्यवान है, वह सब अपने हाथें फासिस्ट मिथ्यावादियों को सौंप देते हैं, जिससे कि वे उसका उपयोग करके जनता की आंखों में धूल झोंक सकें।" –दिमित्रोव

जातीय सम्मान की रक्षा कैसे करनी चाहिए, इसका उदाहरण दिमित्रोव ने दिया फासिस्टों ने जर्मन लोकसभा के भवन को जलाने का आरोप उन पर लगाया था उन पर मुकदमा भी चला। उस मुकदमें के दौरान उन लोगों ने दिमित्रोव के साथ बल्गारिया की जाति पर भी आरोप कसे और कहा कि इस देश के रहनेवाले सब बर्बर और असभ्य हैं जर्मन फासिस्ट अपने को तो संस्कृति में सबसे ऊपर मानते थे लेकिन पड़ोसी देशों को और उनकी संस्कृति को बिल्कुल तुच्छ समझते थे इसका जबाब दिमित्रोव ने दिया।

"हमारी जनता पांच सौ साल तक विदेशी शासन के नीचे रही है लेकिन उसने अपनी भाषा और जातीय चरित्र की रक्षा की है। यह जाति मजदूरों और किसानों से बनी है जो बल्गारिया का फासिस्टवाद से लड़े हैं और अभी लड़ रहे हैं। ऐसी जनता बर्बर नहीं है, असभ्य नहीं है।" –दिमित्रोव

इतिहास के दर्शन वहां के स्वाभिमान को उजागर करते हैं। बल्गारिया जब एक ओर सब प्रकार की शत्रु सेना से जूझ रहा था दूसरी ओर जर्मन के अभिजात वर्ग और राजा जर्मन भाषा का व्यवहार करते थे और उसके लिए वहां के संतो ने लिपि का अविष्कार किया था। सांस्कृतिक विरासत का उपयोग फासिस्ट विरोधी संग्राम में कैसे करना चाहिए, इसका बहुत अच्छा उदाहरण दिमित्रोव ने दिया। उन्होंने कहा–

"इतिहास के ऐसे दौर में जब जर्मन सम्राट कार्ल पंचम ने प्रतिज्ञा की थी कि वे जर्मन भाषा का व्यवहार केवल अपने घोड़े से करेंगे, जिस समय अभिजात वर्ग और जर्मनी के बुद्धिजीवी हलके केवल लेटिन लिखते थे और अपनी मातृभाषा का व्यवहार करना शर्म की बात समझते थे, उस समय संत सिरिल और मैथसेदियस ने बल्गारिया की पुरानी लिपि ईजाद की और उसके व्यवहार को प्रसारित किया।"

हिटलर के अभ्युदय के समय जो स्थिति जर्मनी के वामपक्ष की थी, उससे मिलती जलती स्थिति बीसवीं सदी के अंत में भारत के और विशेष रूप से हिंदी प्रदेश की थी।

मार्क्सवादी अवधारणा

इधर मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों ने द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद, वर्ग–संघर्ष और आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य की विकास–प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, सैक्युलिन ने रूसी साहित्य के इतिहास की व्याख्या करते हुए साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रवृतियों का संबंध आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग–संघर्ष की प्रतिक्रिया से स्थापित किया है किंतु कई बार मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की सभी प्रवृतियों के मूल में अर्थ को ही स्थापित करके एक ऐसा अनर्थ कर देते हैं, जो एकांतिक व अतिवादिता का प्रमाण होता है। वैसे भी मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवाद

के पक्षधर रहे हैं। उनका दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय नहीं रहा। मार्क्स भारत के इतिहास का अध्ययन कर रहे थे। इस अध्ययन के क्रम में उन्होंने यहां की घटनाओं पर कुछ टिप्पणियां लिखी थीं। उल्लेखनीय है कि वे जातीय प्रदेशों का एवं उनकी घटनाओं का वर्णन करते हैं केरल, कर्नाटक, आंध्र, उड़ीसा आदिका अलग अलग उल्लेख किया गया है। शिवाजी के प्रसंग में मार्क्स ने लक्ष्य किया था, "इस प्रकार मराठे एक जाति बने जिन पर एक स्वतंत्र राजा शासन करता था।" मार्क्स का अध्ययन कितना दोषपूर्ण है, वह कहता है—"भारत का इतिहास उसकी जातियों का इतिहास है। बहुजातीय राष्ट्र का इतिहास हिन्दुओं का इतिहास नहीं है, मुसलमानों का इतिहास नहीं है। किंतु उसकी इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि भारत का यदि समग्र अध्ययन करना है तो विभिन्न प्रदेशों में रहने वाली जातियों के इतिहास का अध्ययन करना पड़ेगा। यह बात आज विमर्श की हो सकती है।"

मार्क्स की एक बात यहां उल्लेखनीय है—"तुलनात्मक भाषाशास्त्र यह सिद्ध करता है कि जर्मन लोग धातुओं का ज्ञान अपने साथ अपने एशियाई मूल देश से लाये थे।" मार्क्स ने यूरोपीय भाषाओं का स्त्रोत भारत को कहा। इस तरह मार्क्स कहना चाहता है कि यूरोप और भारत का कहीं न कहीं आपस में संबंध था। या जर्मन, ग्रीक, लैटिन आदि जन भारत के संम्पर्क में थे।

अन्य पाश्चात्य चिंतकों की दृष्टि

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और अर्थविज्ञान के आधार पर भी साहित्य के विभिन्न पक्षों के, विशेषतः शैली पक्ष के विकास की व्याख्या विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है, जिनमें आई.ए रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन, सी.एस.लेविस, डब्ल्यू.पी कर, एफ डब्ल्यू, बैटसन जैसे विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से शैलीगत प्रवृतियों के विश्लेषणों एवं उनके आधारभूत कारणों को खोजने का प्रयास हुआ है, जिससे आंशिक रूप में साहित्येतिहास को भी समझने में सहायता मिल सकती है। किन्तु इनके निष्कर्षों में एकरूपता नहीं है।

अस्तु यह कहा जा सकता है का साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से प्रयास होते रहे हैं, जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुचाते फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन–विश्लेषण केवल साहित्य तक सीतिम नहीं किया जा सकता। उसकी विषयगत प्रवृतियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबंधित राष्ट्रीय एवं सामाजिक परंपराओं आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतनाओं एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृतियों, उसके वैचारिक अवधारणाओं का विवेचन–विश्लेषण करना ही होगा। अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धांत साहित्य की विकास–प्रक्रिया के विभिन्न अंगों, पक्षों व तत्वों के सूचक हैं। यद्यपि इनमें कोई भी सिद्धांत परिपूर्ण नहीं है, किंतु आंशिक सत्य से भी वे दूर नहीं हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी भी साहित्य की विकास–प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे संबंधित इन पांच तत्वों पर विचार किया जाना चाहिए—

1. सर्जनशक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व),
2. परंपरा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपराएं),
3. वातावरण,
4. द्वंद्व, तथा
5. संतुलन।

वस्तुतः यह सिद्धांत सृष्टि की सामान्य विकास–प्रक्रिया की दृष्टि से प्रतिपादित है, जिसे साहित्य पर लागू करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है–साहित्य के क्षेत्र में भी प्राकृतिक सर्जन–शक्ति अर्थात साहित्यकार की नैसर्गिक प्रतिभा, परंपरा (साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपरा) और वातावरण (युगीन परिस्थितियों, प्रवृतिओं तथा चेतना) के द्वंद्व से प्रेरित होकर गतिशील होती है, जिसका चरम लक्ष्य द्वंद्व के दोनों पक्षों में संतुलन स्थापन होता है वस्तुतः यह द्वंद्व साहित्यकार की मूल प्रेरणा है। किंतु स्थिति विशेष व व्यक्तिविशेष के अंतर से द्वंद्व का क्षेत्र परिवर्तित होता रहता है। अतः कोई साहित्यकार अपने ही आंतरिक या मानसिक द्वंद्व से परिचालित होता है तो कोई पारिवारिक, सामिजिक, आर्थिक, राजनीतिक या अंतरराष्ट्रीय द्वंद्व से। एक क्षेत्र का द्वंद्व संतुलन शांत हो जाने पर साहित्यकार या साहित्यकारों की सर्जन–शक्ति किसी अन्य क्षेत्र के द्वंद्व की ओर उन्मुख होती है वस्तुतः परंपरा और युगीन वातावरण के अंतर्विरोध से उत्पन्न द्वंद्व ही साहित्य के विभिन्न आंदोलनों, उसकी धाराओं और प्रवृतियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास–प्रक्रिया को संचालित करता हैं अतः साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के

लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है, जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे संबंधित पूर्व परंपरा, युगीन वातावरण, द्वंद्व के स्त्रोत व अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।

साहित्य विकास के उपर्युक्त सामान्य सिद्धांत के अतिरिक्त कुछ ऐसे सिद्धांत भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिनमें साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन में सहायता मिल सकती है। डॉ. नगेन्द्र कहते है कि यह अलग बात है कि जो लोग विकासवादी सिद्धांतों का आधार ग्रहण करने का क्षेत्र मानते हुए उसे कला की श्रेणी में स्थान देते हैं, वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति दोनों को ही व्यर्थ समझते हैं।

NOTES

7. साहित्येतिहास

साहित्य–युग का प्रतिबिम्ब होता है। साहित्य मे युग की आकांक्षाएं सामाजिक जीवन की विशषताएं, राजनीतिक प्रयत्न, धार्मिक चेतना आदि प्रतिफलित होती है। जिस काल की जो विशेषता रहती है वह उस काल की युगचेतना कहलाती है।आधुनिक युग में वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा नये सत्य अथवा सृष्टि के नये अन्तर्निहित संबंध प्रकाश मेंआ रहे हैं। पुरानी मान्यताएं अपर्याप्त सिद्ध हो रहीं हैं। चिंतन के क्षेत्र में भी स्वतंत्रता और मौलिकता दिखाई दे रही है।

युग को ललकार रहा भौतिक विज्ञान आज।

मनव को निर्मित करना होगा नव समाज॥

साहित्य के ऊपर युगीन चेतना का अनिवार्य रूप से प्रभाव काल के अनुरूप पड़ता है। हिंदी साहित्य को भी वीरगाथाकाल, भक्तिकाल रीतिकाल और आधुनिक काल आदि के नाम से बांटा। भक्तिकाल में धार्मिक और अध्यात्मिक रचनाओं का प्रभाव रहा। तत्कालीन संस्कृति अपनी रक्षा के लिए संघर्षरत रही। रीतिकाल की काव्यभूमि पर, किसी विदेशी संकट के अभाव में, समाज में आ जानेवाली निश्चिन्तता की भावना का और राजाओं के दरबारें मे विलासितापूर्ण वातावरण का प्रभाव लक्षित होताहै। आधुनिक काल के साहित्य में कालक्रम के साथ बदलती हुई युग की आवश्यकताएं और आकांक्षाएं यथाक्रम व्यंजित हुई है। यूरोप के पुनरुत्थानवादी साहित्य में समसामयिक धर्म और विज्ञज्ञन के द्वन्द्व से लोगों केमन में जाग्रत धार्मिक उपचारों की कृत्रिमता के प्रति वितृष्णा का भाव है। भारतीय साहित्य में एक ही राम के रूप में युगानुरूप कितने परिवर्तन हुए! इस संबध में परंपरा का बड़ा महत्व दिखाई देता है। परंपरा केवल कुद बद्धमूल विश्वासों को ही नहीं कहते, बल्कि उन समस्त रीतिनीतियों के समूह को भी कहते है जो सामाजिक जीवनयापन के क्रम में सजीव हो गई है। चेतना के तीना ही व्यापार कालक्रम में सामाजिक संबंधों के बीच, परंपरा के विभिन्न तत्वों के रूप में प्रस्तरीभूत हो जाते हैं। अत: परंपरा में जातीय चिंतन, विश्वास और आचार तीनों ही चले आते हैं। हमारे यहां साहित्यिक परंपरा वेदान्तदर्शन, भक्ति और वर्णाश्रम धर्म से प्रसूत हुई। यह निर्विवाद है कि मूलरूप में चिन्तन, विश्वास ओर कर्म के ये स्त्रोत प्राकृत एवं शुद्ध है। कभी–कभी लगता है कि परंपरा को युगचेतना ने अपदस्थ किया है किंतु यह शंका क्षणिक है। भारत में परंपरा और युगचेतना साथ साथ चलती हैं। हम कालबाह्य हो चुकी चीजों को छोड़ते है और युगानुकूल आवश्कता पर कई नवीन चीजे प्राप्त भी करते हैं। विज्ञान से प्रभावित इस युग की तीन उपलब्धियां हैं–

1. बुद्धि का विस्तार और तार्किक विश्लेषण की प्रवृति,
2. दृष्टि का विस्तार और अखण्ड मानववाद की भावना,
3. स्वतंत्रता की आकांक्षा।

इसके विपरीत दो प्रमुख हानियां भी हैं–

1. भावबोध की अस्तव्यस्तता और व्यक्तिकेन्द्रितता
2. एकरसता और हृदयहीनता

कवि या ग्रंथकार पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ता है। वेही उसके कृतिजन्य रूप को स्थिर करने में सहायक होती हैं, वे तीन बाते हैं जाति, स्थिति और काल। जाति से तात्पर्य किसी जनसमुदाय से नहीं बल्कि उसके स्वभाव से है। स्थिति से तात्पर्य उस सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और प्राकृतिक अवस्था से है जो उस जनसमुदास पर अपना प्रभाव डालती है और काल से तात्पर्य उस समय के जातीय विकास की अवस्था से है।

NOTES

इस प्रकार हमें किसी युग के साहित्य को अर्थात एक ही युग के अनेक साहित्यकारों की रचनाओं की युग की विशेषताओं की दृष्टिगत करतेहुए परखना पड़ता है। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में हर्ष–विषाद, नैतिक उत्थान और पतन के समय आते हैं।उसके जीवन में कभी सबल आस्था और आदर्श कभी शंका, सघर्ष और निराशा के काल दीख पड़ते हैं।

रेनन ने कहा है–"प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति और युग का ही बना रहताहै, उसमें अपनी जाति और युग की भावनाओं के प्रति प्रतिक्रिया ही क्यों न रहे।"

साहित्य के इतिहास की बात आते ही सम्पूर्ण भारतीय साहित्य हमारे सामने आ जाता है।भारतीय संस्कृति उसकी गौरवपूर्ण परंपरा को आधार बनाकर अनेक साहित्यकारों ने अपनी रचना धर्मिता को परिपुष्ट किया है।अतीत की पृष्ठभूमि में साहित्यकार वर्तमान के परिपेक्ष्य में भविष्य की संभावना को खोजता है।वस्तुत: इतिहास अतीत की घटनाएं नही होती वह समाज और संस्कृति का आइना भी होती है।

सामन्यत: साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का उपयोग किया जाता है। साहित्येतिहास के साथ एक और शब्द आता है साहित्यलोचन। यहाँ थोड़ा सा दोनों का मिला–जुला विचार कर लेना उचित होगा जिससे दोनों के अन्तर भी स्पष्ट होंगे और समझने में सरलता भी होगी। कभी कभी हम दोनों को एक मान बैठते है किन्तु सत्य इतना ही है कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्ध होते हैं किन्तु मूलत: भिन्न हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकासक्रम को स्पष्ट करने का होता है, जबकि आलोचना काव्य वस्तु के गुण–दोष पर विचार कर सकता है। किंतु वहाँ भी उसका लक्ष्य उन्हें युगीन प्रवृतियों के संदर्भ में देखने का रहता है (स्वतंत्र रूप से मूल्यांकन का नहीं। दूसरे आलोचना देश और काल को दृष्टिगतकर चलती है वहीं इतिहासकार कालक्रम और युगीन संदर्भ से जुड़कर चलता है। आलोचक व्यक्ति या कृति विशेष का मूल्यांकन स्वतंत्र रूप में भी कर सकता है, जबकि इतिहासकार ऐसा नही कर सकता उसे परंपरा और युगीन वातावरण और सन्दर्भ को लेकर ही चलना होगा।

अस्तु कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहासकार जहाँ अतीत के रचनाकार एवं उसके कार्य को विभिन्न विभिन्न परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युग विशेष के सन्दर्भ में विश्लेषण करता है वहीं आलोचक किन्ही स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना को उद्घाटित करता है। एक के द्वारा 'ऐसा क्यों हुआ' का उत्तर दिया जाता है, वहीं दूसरा 'इसमें क्या विशेषता है' की व्याख्या करता है किंतु अनेक कारणों से आज साहित्येतिहास और साहित्यालोचन की सीमाएँ घुलमिल–सी गयी हैं, जिसके अनेक कारण हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि दोनों में अलग–अलग प्रकार की प्रतिभा, दृष्टि और पद्धतियों की आवश्यकता होती है। आज आधुनिक आलोचक आलोचना को विकृत कर आलोचना द्वारा आत्मप्रशंसा, वैयक्तिक प्रतिक्रिया, एकपक्षीय विवरण प्रस्तुत करते हैं। वही हाल कमोवेस इतिहास के साथ भी हो रहा है जिसमें परंपराओं, धाराओं व युगीन प्रवृतियों के तटस्त विश्लेषण की जगह वर्गविशेष की मानसिकता का पोषण, वादविशेष का प्रस्तुतीकरण, किया जा रहा है।

8. सार–संक्षेप (स्मरणीय विन्दु)

(क) क्या इतिहास वर्तमान को प्रभावित करता है या वर्तमान भी इतिहास को पुन:परिभाषित करता है। आज हम जिस साहित्य को पढ़ रहे है वह क्या किसी वैज्ञानिक दृष्टि से गुजरकर हमारे सामने आया है।

(ख) रामायाण को इतिहास ग्रंथ मानते हुए इतिहास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्

पूर्ववृतं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥" –विष्णुधर्म (3.15.1)

(ग) शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है: 'ऐसा ही था'या 'ऐसा ही हुआ'। इससे इतिहास का संबंध अतीत से होना तथा वास्तविक या यर्थाथ घटनाओं का समावेश होता है। लाक्षणिक अर्थ में इतिहास का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीत कालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है।

(घ) इतिहास अपने को दुहराता है ? यह अर्ध्यसत्य है (क्योंकि पूरा दुहराना असंभव है, हर दुहराना कुछ न कुछ नया होता ही है। हाँ, सादृश्य बराबर सक्रिय रहता है। इस रूप में इतिहास मनुष्य को समझने का अनेक मानदंडों में एक आवश्यक मानदंड है। परिमापन का प्रारंभ इसी से होता है तो आगे चलकर सब कुछ साफ–साफ और अधिक बारीकी से देख जा सकता है।

(ङ) इतिहास की सीमित सार्थकता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक विधा सक्रिय होती है। साहित्य भी इतिहास की इस शक्ति को पहचानता है तभी वह इतिहास के परे उड़ान भरने की सोचता है।

(च) साहित्य को समझने में कुछ हद तक इतिहास की पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु यदि अध्ययन कोरा ऐतिहासिक होकर रह जाता है तो साहित्य के भीतर बहनेवाली निरंतरता की धारा को नहीं देख पाता।

NOTES

(छ) साहित्य इतिहास की अनदेखी नहीं करता, करे तो कालव्यत्यय दोष आता है। साथ ही साहित्य मिथक तो नया रचता है, पुराने को संवारता है(परन्तु वह इतिहास के तथ्य को विकृत करने का अधिकार नहीं पाता, क्योंकि उसे साहित्य होने के नाते स्वयंभू होने का अधिकार नहीं होता है।

(ज) इतिहासदर्शन के अन्तर्गत इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों, धारणाओं व विचारों का अध्ययन किय जाता है। अस्तु, इतिहास संबंधी इन्हीं विचार धारणाओं को समूहरूप में 'इतिहासदर्शन' की संज्ञा दी जाती है।

(झ) इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्वों व प्रवृतियों के अनुसंधान की प्रवृति रही है।

(ट) हिरदोतस मानता है कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

(ठ) पश्चिम के इतिहासकार ही मानते है कि चूकि मनुष्य स्वयं में स्वतंत्र विचार का प्राणी है अत: उसके इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे संम्भव है। अत: पश्चिम की इतिहास की अवधारणा आपस में ही भ्रमपूर्ण है।

(ड) सामन्यत: 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से सबध न हो।

(त) किसी भी साहित्य की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे संबधित इन पांच तत्वों पर विचार किया जना चाहिए 1-सर्जनशक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व), 2- परंपरा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपराए), 3-वातावरण, 4- द्वंद्व, 5- संतुलन।

(थ) इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकासक्रम को स्पष्ट करने का होता है, जबकि आलोचना काव्य वस्तु के गुण-दोष पर विचार कर सकता है।

(द) साहित्य का इतिहासकार जहाँ अतीत के रचनाकार एवं उसके कार्य को भिन्न-भिन्न परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युग विशेष के सन्दर्भ में विश्लेषण करता है वही आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आध ार पर या नये मूल्यो की स्थापना को उद्घाटित करता है।

(ध) इतिहास के ऐसे दौर में जब जर्मन सम्राट कार्ल पंचम ने प्रतिज्ञा की थी कि वे जर्मन भाषा का व्यवहार केवल अपने घोड़े से करेंगे, जिस समय अभिजात वर्ग और जर्मनी के बुद्धिजीवी हलके केवल लेटिन लिखते थे और अपनी मातृभाषा का व्यवहार करना शर्म की बात समझते थे, उस समय संत सिरिल और मैथसेदियस ने बल्गारिया की पुरानी लिपि ईजाद की और उसके व्यवहार को प्रसारित किया। -दिमित्रोव

(द) "हमारी जनता पांच सौ साल तक विदेशी शासन के नीचे रही है लेकिन उसने अपनी भाषा और जातीय चरित्र की रक्षा की है। यह जाति मजदूरों और किसानों से बनी है जो बल्गारिया का फासिस्टवाद से लड़े हैं और अभी लड़ रहे हैं। ऐसी जनता बर्बर नहीं है, असभ्य नहीं है।" -दिमित्रोव

(प) "इस प्रकार मराठे एक जाति बने जिन पर एक स्वतंत्र राजा शासन करता था।" -मार्क्स

(फ) "तुलनात्मक भाषाशास्त्र यह सिद्ध करता है कि जर्मन लोग धातुओं का ज्ञान अपने साथ अपने एशियाई मूल देश से लाये थे।" -मार्क्स

(ब) "जो लोग विकासवादी सिद्धातों का आधार ग्रहण करने का क्षेत्र मानते हुए साहित्य को कला की श्रेणी में स्थान देते हैं, वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति दोनों को ही व्यर्थ समझते हैं।" -डॉ. नगेन्द्र

NOTES

9. अभ्यास–प्रश्न

(1) साहित्येतिहास का उद्देश्य बताइये

(2) इतिहास का शाब्दिक अर्थ बताइये

(3) इतिहास के लाक्षणिक अर्थ बताइये

(4) इतिहास का व्यापक अर्थ समझाइये

(5) इतिहास कला है अथवा विज्ञान

(6) हिंदी प्रवेश और इतिहास

(7) इतिहास और साहित्य

(8) भारतीय परम्परा और ऐतिहासिक अतीत

(9) पाश्चात्य दृष्टि और यर्थाथवाद

(10) तेन की अवधारणा

(11) मार्क्सवाद की अवधारण

(12) जर्मन चिंतको की अवधारणा

(13) साहित्येइतिहास एवं पाश्चत्य का कालविभाजन

(14) साहित्य का इतिहास दर्शन

(15) इतिहास के प्रति आदर्श और आध्यत्मिक दृष्टिकोण

(16) भारतीय साहित्येतिहास में युग विभाजन

(17) इतिहास और पाश्चात्य दृष्टिकोण

(18) पाश्चात्य दृष्टि और यर्थाथवाद

अध्याय – 2

NOTES

हिन्दी साहित्येतिहास : लेखन–परम्परा, आधारभूत सामग्री एवं पुनर्लेखन की समस्याएँ

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- परिचय
- अध्ययन उद्देश्य
- हिंदी–भाषा : उद्‌भव, विकास एवं स्वरूप
- हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा
- लेखन की आधारभूत सामग्री
- पुनर्लेखन की आवश्यकता
- इतिहास लेखन के आधार
- इतिहास लेखन की समस्याएँ
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

NOTES

1. परिचय

साहित्य के अभिव्यक्ति का साधन उसकी भाषा होती है। जिस देश जाति की जो भाषा होती है वहां का कवि, साहित्यकार अथवा रचनाकार जो भी कहें वह उसमें अपनी अभिव्यक्ति करता है। जाहिर है हिंदी साहित्य के अभिव्यक्ति का साधन उसकी अपनी भाषा हिंदी है। हिन्दी शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' भारत की प्राचीन नदियों में से है। इसी के आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिंध' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी में जाकर 'हिन्दु' और फिर हिन्द हो गया। ...इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिंदीक' बना, जिसका अर्थ है 'हिन्दका'। यूनानी शब्द इंदिका या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। हिंदी भाषा का प्राचीनतम शब्द प्रयोग शरफुद्दीन के 'जफरनामा' (1424) में मिलता है।

हिन्दी शब्द का प्रयोग आज मुख्य रूप से तीन अर्थों में हो रहा है–

(क) 'हिन्द' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिन्दी प्रदेश में बोली जाने वाली सत्रह बोलियों का द्योतक है। हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है, इसलिए इसके अंतर्गत ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली, खड़ीबोली आदि प्रायः सभी में लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है।

(ख) भाषा विज्ञान में प्रायः 'पश्चिमी हिंदी' और 'पूर्वी हिंदी' को ही हिंदी मानते रहे हैं। ग्रियर्सन ने इसी आधार पर हिंदी प्रदेश की अन्य उपभाषाओं को राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी कहा था, जिनमें 'हिंदी' शब्द का प्रयोग नहीं है, किंतु अन्य दो को हिंदी मानने के कारण 'पश्चिमी हिंदी' तथा पूर्वी हिंदी नाम दिया था इस प्रकार इस अर्थ में हिंदी आठ बोलियों (ब्रज, खड़ीबोली, बुंदेली, हरियाणी, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ीजो अब छ.ग.राज्य की सरकारी कामकाजी भाषा है) का सामूहिक नाम है।

(ग) हिंदी शब्द का संकुचिततम अर्थ है खड़ीबोली साहित्यिक हिंदी रूप जो आज हिंदी प्रदेशों की सरकारी भाषा है, पूरे भारत की राजभाषा है, समाचार पत्रों और फिल्मों में जिसका प्रयोग होता है, जो हिंदी प्रदेश में शिक्षा का माध्यम है और जिसे 'परिनिष्ठित हिन्दी', या 'मानक भाषा' आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।

श्री कुप्पी हल्ली सीतारम्मया 'शुदर्शन' जी कहते हैं कि हिन्दी भारत की संम्पर्क भाषा घोषित होनी चाहिए। जिसे तामिलनाडु एवं सभी दक्षिण–पूर्वी राज्य मानने को तैयार हैं। हिंदी साहित्य की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास'(1929) को प्राप्त है, जो मूलतः नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्द–सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत कर स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया। आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा था–

"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृति की संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चितवृति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है, आदि से अंत तक इन्हीं चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चितवृति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धर्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास के प्रति एक निश्चित व सुस्पष्ट दृष्किोण का परिचय देते हुए युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास–क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया। अतः यह माना जा सकता है कि आचार्य जी ने साहित्येतिहास को साहित्यालोचन से पृथक रूप में ग्रहण करते हुए विकासवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया और यह परंपरा आगे और सुदृढ़ तथा वैज्ञानिक होती गयी।

2. अध्ययन उद्देश्य

साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में हिंदी में अभी उचित प्रगति नहीं हुई है। अन्य भाषाओं में तो स्थिति और खराब है। इसका कारण यह है कि इतिहासविधा की हमारे देश में विकसित परंपरा नहीं रही है और आज भी हम इस दिशा में विशेष उन्नति नहीं कर पाये हैं। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहासग्रंथों के प्रकाशन के बाद भी हिंदी में सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है, जिसकी रचना सन् 1929 में हुइ थी। यह स्थिति हिंदी के गौरव के अनुकूल नहीं है, विशेषतः तब जबकि हिंदी का आलोचना –साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है। नागरी प्रचारिणी सभा ने बृहत इतिहास की योजना द्वारा एक महान कार्य प्रारंभ हुआ।

आज साहित्य ही नहीं सभी क्षेत्रों में निरन्तर शोध हो रहे है। प्रत्येक दशक में विभिन्न प्रकार की रचनाएं सामने आ रही है। इतिहास लेखन से अद्यतनशोध–परिणामों और विकसित साहित्य चेतना को सामने लाना।

ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचना शक्ति से युक्त लेखको को इस बात की जानकारी देना कि जनता की चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाय जाय, 'साहित्य का इतिहास' लिखने का उद्देश्य है।

NOTES

नवीन शोध परिणामों और विकसित साहित्यचेतना को ध्यान में रखते हुए कुछ लेखकों का समुदाय तैयार कर हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन के आवश्यकता की जानकारी देना।

घनिष्ठ सम्पर्क एवं सहयोग के आधार पर शैलीभेद होन पर भी ऐतिहासिक परिदर्शन की एकता एवं युगचेतना और साहित्यतिक चेतना के समन्वय पर आधारित साहित्य के इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप का ज्ञान कराना।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता क्यो? वस्तुत: आज आवश्यक है कि युगचेतना और साहित्यचेतना के समन्वय पर आधृत साहित्य के इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप को हम स्वीकार करें और इसी आधार पर एक सामंजस्य रूपरेखा का निर्माण कर अर्थात हिंदी भाषी भू–भाग के सांस्कृतिक इतिहास के परिवेश में उसके प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष प्रभाव में विकसित और हिंदी के विविध रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त, साहित्य–चेतना के विकासक्रम का साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर आकलन करना।

साहित्य के मौलिक प्रतिमानों की जानकारी प्राप्तकर नवीन शोधसामग्री का उपयोग करना। नवीन स्थापनाओं का परीक्षण करना, प्रकृति विश्लेषण, तथा प्रमुख कवि, लेखकों और कृतियों के योगदान का स्थान –निर्धारण करना।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की जानकारी–साहित्य लेखन का परिचय

एक समन्वयात्मक दृष्टि से अवलंबन करना एवं नवीन साहित्य परंपरा जैसे बाल साहित्य परंपरा के साथ नवीन विकसित हो रहीं विधाओं का परिचय कराना।

इतिहास लेखन में साहित्य की सीमा कहां तक (भौगोलिक एवं काल दोनों की) कहां तक जाती है का निर्धारण करना।

इतिहास लेखन की अपनी एक परंपरा रही है, विदेशी लेखकों से लेकर हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों की जानकारी तथा उनके ग्रंथों का वर्तमान परिपेक्ष्य में मूल्यांकन करना।

3. हिंदी-भाषा : उद्‌भव, विकास एवं स्वरूप

हिंदी साहित्य के विद्यार्थी के लिए जितना महत्व साहित्य के उद्‌भव एवं विकास का है उतना ही महत्व इस बात का है कि जिस साहित्य को हम पढ़ते हैं और आखिर उसकी भाषा का क्या स्वरूप है।

'हिंदी' भारत की प्राचीनतम भाषाओं की जननी संस्कृत से ही उद्‌भूत है। संस्कृत का काल सामान्य रूप से 1500 से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत सामान्य जन से लेकर सभ्रांत जनों की भाषा रही है। इसी भाषा का शिष्ट एवं मानक रूप संस्कृत वाङ्‌मय में प्रयुक्त हुआ ।संस्कृत भाषा के भी दो रूप मिलते हैं। एक है वैदिक संस्कृत तो दूसरी है लौकिक। वैदिक संस्कृत में वैदिक वाङ्‌मय की रचना हुई।लौकिक या क्लासिकल संस्कृत में वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष आदि की रचनाएं है। इस संस्कृत–काल के अंत तक मानक या परिनिष्ठित भाषा तो एक थी, किंतु तीन क्षेत्रीय बोलियां विकसित हो चली थी। जिन्हें पश्चिनोत्तरी, मध्यदेशी तथा पूर्वी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

संस्कृत कालीन भाषा

संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा विकसित होत–होते 500 ई.पू. के बाद प्रवृतित: काफी बदल गयी, जिसे 'पालि' की संज्ञा दी गयी है। इसका काल 500 ई.पू. से पहली ईसवी तक है। बौ) ग्रंथो में पालि का जो रूप मिलता है वह इस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप था। इस काल में क्षेत्रीय बोलियों की संख्या चार हो गयी थी – पश्चमोत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी और दक्षिणी।

प्राकृतों से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश भाषा का काल मोटे रूप से 500 ई से 1000 ई तक है। आज के प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में मुख्यत: पश्चिमी और पूर्वी दो ही भाषा रूप मिलते हैं किंतु प्राकृत के मुख्यत: पांच क्षेत्रीय

NOTES

रूपों तथा आज की नौ (लहंदा, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, हिंदी, उड़िया, बंग्ला, असमिया) आर्य भाषाओं के बीच की अपभ्रंश रूप में प्राप्त कड़ी के क्षेत्रीय रूपों की संख्या छह से दस के बीच में ही होगी(इससे कम नहीं हो सकती। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय रूपों का नाम के अभाव में प्राकृत नामों से ही अभिहित करें तो आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से इस प्रकार माना जा सकता है:

अपभ्रंश और आधुनिक भाषाएं तथा उपभाषाएं–

1. शौरसेनी–पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, पहाड़ी, गुजराती
2. पैशाची–लहंदा, पंजाबी
3. ब्राचड़–सिंधी
4. महाराष्ट्री–मराठी
5. मागधी–बिहारी, बांग्ला, उड़िया, असमिया

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिंदी भाषा का उद्‌भव अपभ्रंश के शौनसेनी, अर्धमागधी और रूपों से हुआ है।

हिंदी प्रदेश की भाषा एवं बोलिया तथा उनका वर्गीकरण

अब थोड़ा सा परिचय हिंदी प्रदेश और उपभाषाएं एवं बोलिओं का किया जाय। हिंदी भाषा का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश, पंजाब का कुछ भाग, हिरयाणा, राजस्थान, दिल्ली उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ झारखंड मध्यप्रदेश तथा बिहार है जिसे हिंदी प्रदेश कहते हैं। यहां प्रायः साहित्य में मानक हिंदी का प्रयोग होता है। इस पूरे क्षेत्र में हिंदी की पांच उपभाषाएं है जिनके अंतर्गत 10 बोलियां है :

भाषा, उपभाषा और बोलियों का वर्गीकरण निम्नानुसार है–

भाषा–हिंदी

उपभाषाएं :

1. *पश्चिमी हिंदी–(उपभाषा)*

बोलियां :

1. *खड़ीबोली या कौरवी*
2. *ब्रजभाषा*
3. *हरियाणी*
4. *बुंदेली*
5. *कन्नौजी*

2. *पूर्वीहिंदी– (उपभाषा)*

बोलियां :

1. *अवधी*
2. *बघेली*
3. *छत्तीसगढी (वर्तमान में छत्तीसगढ़ प्रांत की भाषा)*

3. *राजस्थानी (उपभाषा)*

बोलियां :

1. *पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी)*
2. *पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी)*
3. *उत्तरी राजस्थानी (मेवाती)*
4. *दक्षिणी राजस्थानी (मालवी)*
4. *पहाड़ी (उपभाषा)*

बोलियां :

1. *पश्चिमी पहाड़ी*
2. *मध्यवती पहाड़ी (कुमाऊंनी गढ़वाली)*
5. *बिहारी (उपभाषा)*

बोलियां :

1. *भोजपुरी*
2. *मगही*
3. *मैथिली*

बोलियों का सामान्य परिचय

1. खड़ी बोली—'खड़ी बोली 'शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है: एक तो साहित्यिक हिंदी खड़ी बोली के अर्थ में और दूसरे, दिल्ली–मेरठ आसपास की लोक बोली के अर्थ में। यहां दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते है। खड़ीबोली में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। कुछ लोगों ने 'खड़ी' अर्थात स्टैण्ड तो कुछ लोगों ने इसे अधिकता के निहतार्थ प्रयोग माना। खड़ीबोली या कौरवी का उद्‌भव शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से हुआ है तथा इसका क्षेत्र देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरपुर, मेरठ, दिल्ली का कुछ भाग, बिजनौर रामपुर तथा मुरादाबाद है। लोक साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली बहुत संपन्न है। और इसमें पवाड़ा, नाटक, लोककथा, लोकगीत आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इनका काफी अंश प्रकाशित भी हो चुका है। हिंदी, उर्दू हिंदुस्तानी तथा दक्खिनी एक सीमा तक खड़ी बोली पर आधारित है।

2. ब्रजभाषा—ब्रज का पुराना अर्थ 'पशुओं' या गौओं का समूह या चारागाह आदि है। पशुपालन के प्राधान्य के कारण यह क्षेत्र ब्रज कहलाया। और इसी आधार पर इसकी बोली ब्रजभाषा कहलायी। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप में हुआ। ब्रजभाषा आगरा, मथुरा, अलीगढ़, धौलपुर, मैनपुरी, एटा बदायू करेली तथा आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती है। साहित्य और लोकसाहित्य दोनों ही दृष्टियों से ब्रजभाषा बहुत संपन्न है। हिंदी प्रदेश के बाहर भी भारत के बाहर भी अनेक क्षेत्रों में ब्रज भाषा में साहित्य का सृजन होता है तुलसी, सूर, नन्ददास, रहीम, रसखान, बिहारी, देवआदि इसके प्रमुख कवि हैं।

3. हरियाणी—हरियाणी की व्युत्पत्ति की विवादास्पद है। हरि+यान अर्थात कृष्ण का यान, कहते हैं कृष्ण इधर से ही द्वारका गये थे। दूसरा अर्थ है हरि + अरण्य अर्थात हरा वन प्रदेश, किंतु यह सब मत केवल कपोल कल्पना पर आधारित है, अतः मान्य नहीं। हरियाणी का उद्‌भव और विकास शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से हुआ है। खड़ीबोली, अहीरवाटी, पंजाबी, मारवाड़ी से घिरी इस बोली को कुछ लोग खड़ीबोली का पंजाबी से प्रभावित रूप मानते हैं। इसका क्षेत्र मोटे रूप में हरियाणा तथा दिल्ली का देहाती भाग है। हरियाणी में केवल लोक साहित्य है जिसका कुछ भाग प्रकाशित है।

4. बुंदेली—बुंदेले राजपूतों के कारण मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सीमा रेखा के झांसी, छत्रपुर, सागर आदि तथा आसपास के भाग को बुंदेलखण्ड कहते हैं, वहीं की बोली बुंदेली या बुंदेलखण्डी है। इसका क्षेत्र झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी, होशंगाबाद तथा आस-पास का क्षेत्र है। बुंदेली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। बुंदेली में लोकसाहित्य काफी है। जिसमें ईसुरी के फाग बड़े प्रसिद्ध है। कहा जाता है किहिंदी प्रदेश की प्रसिद्ध लोकगाथा आल्हा जिसे हिंदी साहित्य में भी स्थान मिला है, मूलतः बुंदेली की एक बोली 'बनाफरी' में लिखा गया था।

5. कन्नौजी—कन्नौजी संस्कृत 'कान्यकुब्ज' इस बोली का केन्द्र है अतः इस बोली का नाम कन्नौजी है। यह इटावा, फर्रखाबाद, शाहजहांपुर, कानपुर, हरदोई, पीलीभीति आदि में बोली जाती है। कन्नौजी भी शौर सेनी अपभ्रंश से निकली है। यह ब्रजभाषा से इतनी सामान्य है कि कुछ लोग इसे ब्रजभाषा की उपबोली मानते हैं। कन्नोजी में केवल लोक साहित्य मिलता है। जिसमें से कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है।

6. अवधी—इस बोली का केन्द्र अयोध्या है। अयोध्या का ही विकसित रूप अवध है जिससे अवधी शब्द बना है। इसके उद्‌भव के संबंध मे विवाद है। अधिकांश विद्धन इसका संबंध अर्द्धमागधी अपभ्रंश से मानते है। किंतु कुछ लोग इससे पाली की समानता के आधार पर इस मत को नहीं मानते। अवधी का क्षेत्र लखनऊ, इलाहाबाद, फतेपुर, मिर्जापुर, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद, गोंडा, बस्ती, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़ बाराबंकी आदि है। अवधी में साहित्य तथा लोकसाहित्य पर्याप्त मात्रा में हैं। इसके प्रसिद्ध कवि मुल्लादउद, कुतुवन, जायसी, तुलसीदास, सबलसिंह आदि हैं।

7. बघेली—बघेली राजपूतों के आधार पर रीवा तथा इसके आसपास का इलाका बघेलखण्ड कहलाता है। वहां की बोली को बघेलखण्डी या बघेली कहते है। इसका उद्‌भव अर्द्धमागधी अपभ्रंश के ही एक क्षेत्रीय रूप से ही हुआ है। यद्यपि जनमत इसे एक अलग बोली मानता है। किंतु भाषा वैज्ञानिक के आधार पर यह अवधी की एक उपबोली ज्ञात होती है। इसे दक्षिणी अवधी भी कह सकते हैं। इसका क्षेत्र रीवा, नागोद, शहडोल, सीधी, सतना, मैहर तथा आसपास का क्षेत्र है। कुछ अपवादों को छोड़कर बघेली में केवल लोकसाहित्य है। किंतु इधर बघेली ने काफी विकास किया है। उसमें कविता, गीत, नाटक, व्याकरण, लोककहावते आदि का विकास हुआ है।

8. छत्तीसगढ़ी—मुख्यक्षेत्र छत्तीसगढ़ होने के कारण इसका नाम छत्तीसगढ़ी पड़ा। अर्द्धमागधी के दक्षिणी रूप से इसका विकास हुआ। इसका क्षेत्र सरगुजा, कोरिया, बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़ के साथ पूरे वर्तमान छत्तीसगढ़ की शासकीय कार्य की भाषा मान्य हो गई है। इसमें प्रचुर मात्रा में लोक साहित्य है। अभी इसमें फिल्म निर्माण भी हुई है।

9. पश्चिमी राजस्थानी—राजस्थानी का यह रूप पश्चिमी राजस्थान अर्थात जोधपुर अजमेर, किशनगढ़, मेवाड़, सिरोही, जैसलमेर, बीकानेर आदि में बोली जाती है। इसे मारवाड़ी भी कहते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ। मारवाड़ी में साहित्य तथा लोकसाहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में है। मीर के पद इसी भाषा में हैं।

10. उत्तरी राजस्थानी—उत्तरी राजस्थान में इसका क्षेत्र अलवर, गुड़गांव, भरतपुर तथा आसपास है। मेव जाति के इलाके मेवाड़ के नाम पर इसे मेवाती कहते हैं। इसकी एक मिश्रित बोली अहीरवाटी है जो गुड़गांव, दिल्ली के पश्चिमी क्षेत्र में बोली जाती है। इस पर हरियाणी का बहुत प्रभाव है। मेवाती में केवल लोक साहित्य है। इसका उद्‌भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ।

11. पूर्वी राजस्थानी—राजस्थान के पूर्वी भाग में राजस्थानी अजमेर, किशनगढ़ आदि में यह बोली जाती है। इसकी प्रतिनिधि बोली जयपुरी है, जिसका केन्द्र जयपुर है। जयपुरी को ढुढाड़ी भी कहते हैं। क्योंकि इस क्षेत्र का नाम ढुढाण है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक साहित्य है।

12. दक्षिणी राजस्थानी—इन्दोर, उज्जैन, देवास, भोपाल के आसपास इसका क्षेत्र है। इसकी प्रतिनिधि बोली मालवी है। जिसका मुख्यक्षेत्र मालवा है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में कुछ साहित्य तथा पर्याप्त लोक साहित्य है।

13. पश्चिमी पहाड़ी—जौनसार, सिरमोर, शिमला, मंण्डी तथा आसपास इसका क्षेत्र है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक साहित्य है।

14. मध्यवर्ती पहाड़ी—शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का क्षेत्र गढ़वाल, कुमाउ तथा आसपास का क्षेत्र है। वस्तुत: यह गढ़वाली तथा कुमाउनी इन दो बोलियों का सामूहिक नाम है। इन बोलियों में लोक साहित्य पर्याप्त मात्र में है तथा कुछ साहित्य भी है।

15. भोजपुरी—बिहार के शाहाबाद के भोजपुर गांव के नाम पर इस बोली का नाम भोजपुरी पड़ा। मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से विकसित इस बोली का क्षेत्र बनारस जौनपुर, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, वस्ती, चम्पारन आदि है। हिंदी प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलने वाले सर्वाधिक है। इसमें मुख्यत: लोकसाहित्य ही मिलता है। भारतेन्दु, प्रसाद इस क्षेत्र के रहे हैं, किंतु साहित्य में इन्होने इसका प्रयोग नहीं किया।

16. मैथिली—मगधी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से विकसित यह बोली हिंदी और बांग्ला क्षेत्र की संधि पर मिथिला में बोली जाती है। दरभंगा, मुजफ्फरपुर, पूर्णिया आदि इसके क्षेत्र है। लोक साहित्य की दृष्टि से मैथिली बहुत है। इसमें साहित्य रचना अत्यन्त प्राचीन है। हिंदी साहित्य को विद्यपति जैसे रससिद्ध कवि देने का श्रेय मैथिली को ही है।

हिंदी, हिंन्दुई, हिन्दुस्तानी एवं उर्दू

खड़ीबोली का एक प्रयोग साहित्यिक हिंदी, उर्दू, हिन्दुस्तानी आदि की आधार भाषा या आज की साहित्यिक हिंदी के लिए भी होता है। वस्तुत: हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा रूपों के लिए होता है, व्याकरणिक स्तर पर वे प्राय: एक ही हैं। और उनकी आधार भाषा वह मिश्रित बोली है जो मुख्यत: कौरवी, पंजाबी, ब्रज आदि के योग से बनती है। जिसमें अरबी, फारसी, मिश्रित अन्य बोलियों का भी प्रयोग होता है उसे हिंदुस्तानी कहते है। उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित तत्सम शब्द का भी प्रयोग होता है तो उसे साहित्यिक हिंदी कहते है और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फारसी, तुर्की के कठिन शब्दों का प्रयोग होने लगता तो उसे उर्दू कहते है।

इस तरह खड़ी बोली की यह सामान्य हिंदी की ये तीन शैलियां है।

हिन्दुई शब्द हिंदू और ई को मिलाकर बना है। हिंदी, हिन्दुई या हिंदवी का प्रयोग प्राचीन हिंदी के लिये काफी पहले से मिलता है। तेरवी शदी में औफी और अमीर खुसरो ने इसका प्रयोग किय था। खालिकबारी ने हिंदी और हिंदवी दोनों का एक ही प्रयोग एक ही भाषा के लिए हुआ है। किंतु हिंदी का प्रयोग केवल पांच वार है। जबकि हिंदवी का प्रयोग तीस बार है। धीरे-धीरे हिंदी का प्रयोग ज्यादा होने लगा।

गार्सा द तासी के इतिहास में हिंदुई तथा हिंदुस्तानी नाम इसी अर्थ में आए हैं। अब प्राय: लोग केवल दखिनी या उसके पहले के उत्तर भारत के मसउद, खुसरो तथा सकरकंजी आदि के साहित्य की भाषा के लिए हिंदुई या हिंदवी का नाम प्रयोग करते हैं।

हिंदुस्तानी शब्द हिंदुस्तान और ई से बना है। ग्रियर्सन, धीरेन्द्र वर्मा आदि का मत है कि यह नाम अंगेजों का दिया हुआ है किंतु वास्तविकता यह है कि 'तुजकेवावरी' में भाषा के अर्थ में हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारंभ में यह शब्द हिंदी या हिंदवी का समानार्थी था किंतु आगे चलकर इसका अर्थ वह हो गया जो आज उर्दू का है।

हिन्दुस्तानी—अर्थात हिंदी का वह रूप जिसमें अरबी, तुर्की, फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। हिंदुस्तानी हिंदी उर्दू के बीच की उस भाषा को कहने लगे जिसमें न संस्कृत के कठिन शब्द होते है न अरबी, फारसी के इसमें तद्भव तथा तत्सम और अरवी, फारसी के वे शब्द होते है जो बहुत प्रचलित है। गांधी जी ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

उर्दू शब्द मूलत: तुर्की भाषा का है जिसका अर्थ होता है पड़ाव शाही—शिविर या खेमा। तुर्कों के साथ ही यह शब्द भारत में आया और इसका यह प्रारंभिक अर्थ खेमा या फौजी पड़ाव था। इस अर्थ में उत्तरी भारत के अनेक नगरों में उर्दू बाजार फौजी पड़ाव का बाजार नाम आज भी मिलता है। मुगलबादशाहों के फौजी पड़ाव में धीरे -धीरे पूर्वी पंजाब, हरियाणी, ब्रज मिश्रित एक ऐसी बोली विकसित हुई जिसमें अरबी, फारसी, तुर्की के शब्द काफी थे। बोलियों का मिश्रण स्थानीय प्रभाव तथा इन खेमों के सिपाहियों के कारण था तो तुर्की शब्द मुगलों के अपने भाषा तुर्की और उनकी दरवारी भाषा फारसी के कारण थी।

हिंदी नाम और उसके विभन्न रूप तथा हिंदी का विकास

'हिंदी' शब्द का संबंध 'सिंधु' से माना जात है। 'सिंध' शब्द ईरानी में जाकर हिंद हो गया। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सरफुद्दीन यज्दी के 'सफरनामा' सन्1424 में मिलता है।वस्तुत: शब्दों में अरबी, फारसी तथा संस्कृति

NOTES

के आधिक्य की बात छोड़ दे तो हिंदीऔर उर्दू में कोई खास अंतर नहीं है। दोनों ही एक ही भाषा की दो शैलियां हैं। इसीलिए प्रारंभ में हिंदी शब्द का प्रयोग हिंदी और उर्दू के लिए होता था।

हिंदी का विकास–खड़ीबोली हिंदी का उद्‌भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। किंतु यदि हिंदी को पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी की आठ बोलियों का प्रतिनिधि माने तो उसका उद्‌भव शौरसेनी तथा अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुआ। किंतु हिंदी भाषा का वास्तविक आरंभ एक हजार ई. से माना जात है। भाषा की विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बांटा जा सकता है।

1. आदिकाल –1000 से 1500 ई.,
2. मध्यकाल 1500–1800 ई.,
3. आधुनिककाल 1800–अब तक।

1. **आदिकाल**– हिंदी भाषा अपने आदिकाल में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत निकट थी। आदि कालीन हिंदी में मुख्यत: उन्हीं ध्वनियों (स्वर और व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थी।

अपभ्रंश और हिंदी में अन्तर–

1. अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए ओये आठो स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिंदी में दो नये स्वर आये–ए, औ जो संस्कृत स्वर थे।
2. च छ ज झ संस्कृत, पाली, प्राकृत में स्पर्श व्यजंन थे। किंतु आदिकालीन हिंदी में आकर ये स्पर्श संघर्षी हो गये तब से अब तक ये स्पर्श संघर्षी ही हैं।
3. न र ल स संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश में दंत ध्वनियां थी। आदि काल में ये वरत्सर्य हो गये।
4. अपभ्रंश में ढ और ड़ नहीं थें, आदिकालीन हिंदी में इनका विकास हुआ।
5. न्ह, ह्म, पहले संयुक्त व्यंजन थे, अब वे कमशः न म ल के महाप्राण रूप हो गये। अर्थात संयुक्त व्यंजन न रहकर मूल व्यंजन हो गये।
6. संस्कृत फारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नए संयुक्त हिंदी में आ गये जो अपभ्रंश में नहीं थे। आदि कालीन हिंदी का व्याकरण 1000 या 1100 ई. के आसपास तक अपभ्रंश के बहुत निकट था। धीरे–धीरे 1500 ई तक आते–आते हिंदी अपने पैरो पर खड़ी हो गई और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गये। आदिकालीन हिंदी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश व्याकरण से इन बातों में भिन्न है–

   (1) अपभ्रंश काफी हद तक संयोगात्मक भाषा थी।

   (ख) आदिकालीन हिंदी प्रयोगों में नपुंसक लिंग का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गये।

   (ग) हिंदी वाक्य रचना में शब्दक्रम धीरे–धीरे निश्चित होने लगा था। आदि कालीन हिंदी का शब्द भण्डार अपने प्रारंभिक चरण में अपभ्रंश का ही था। किंतु धीरे–धीरे कुछ परिर्वतन आते गये। जिनमें उल्लेखनीय दो–तीन हैं–

      (अ) भक्ति आंदोलन का प्रारंभ हो गया था। अतः अपभ्रंश की तुलना में तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी थी।

      (ब) मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पस्तो, फारसी तथा तुर्की भाषा से हिंदी में आ गये।

      (स) भक्ति आन्दोलन तथा मुसलमानी आगमन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप इस बात की भी संभावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द जो अपभ्रंश में प्रचलित थे, इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो हिंदी शब्द भंण्डार से निकल गये या तो उनका प्रयोग बंद हो गये।

(द) इस काल के साहित्य में प्रमुखतः डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है।

(य) इस युग के प्रमुख साहित्यकार –गोरखनाथ, विद्यपति, नरपतिनाल्ह, चंदवरदायी, कबीर आदि हैं।

NOTES

2. **मध्यकाल** 1500–1800ई.– इस काल में ध्वनि व्याकारण तथा शब्द भंण्डार के क्षेत्र में निम्न परितवर्तन हुए जिनमें कुछ बातें उल्लेखनीय है–

1. फारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तथा दरवार में फारसी का प्रयोग होने से उच्चवर्ग में प्रचार हुआ। जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगों में हिंदी में क़ ख़ ग़ ज़ फ़ ये पांच नये व्यजंन आ गये।

2. शब्दांत का अ कम से कम मूल व्यंजन के बाद आने पर लुप्त होगया। अर्थात राम का उच्चारण राम् होने लगा। किंतु भक्त जैसे शब्दों में जहां आ के पूर्व संयुक्त व्यजंन था अ बन गया।

3. ह के पहले का अ कुछ स्थितियों में ए जैसा उच्चरित होने लगा जैसे –अहमद का एहमद, व्याकरण के क्षेत्र में मुख्यतः तीन बाते ही उल्लेखनीय है। इस काल में हिंदी भाषा पूरी तरह अपने पैरों में खड़ी हो गई।

(ा) अपभ्रंश के रूप प्रायः हिंदी से निकल गये। जो कुछ बचे थे वे ऐसे थे जिन्हे हिंदी ने आत्मसात कर लिया था।

(ख) भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना में और भी वियोगात्मक हो गई। परसर्गों तथा सहायक क्रियाओं का योग और भी बढ़ गया।

(ग) उच्चवर्ग में फारसी का प्रचार होने के कारण हिंदी वाक्य रचना फारसी से प्रभावित होने लगी थी। शब्द भंडार की दृष्टि से ये बाते मुख्य हैं–

(अ) इस काल में आते–आते काफी शब्द लगभग 3500, अरबी लगभग 2500, पस्तो 50, तुर्की लगभग 125 से हिंदी में आ गए।

(ब) भक्ति आंदोलन चरम विंदु पर पहुचने के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग भाषा में और भी बढ़ गया।

(स) यूरोप से संपर्क होने के कारण कुछ पुर्तगीज, स्पेनिस, फांसीसी शब्द भी हिंदी में आ गये।

इस काल में धर्म की प्रधानता के कारण राम जन्म स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण जन्म स्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रचा गया।

इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूर, मीरा, केशव, भूषण, बिहारी, देव।

3. **आधुनिककाल** 1800–**अब तक**–आधुनिक काल की हिंदी में ध्वनि के क्षेत्र में चार–पांच बाते उल्लेखनीय हैं–

1. आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारंभ में हिंदी प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क़ ख़ ग़ ज़ फ़ जो मध्यकाल में केवल फारसी पढ़े लोगों तक प्रचलित थे, इस काल में प्रायः 1947 ई तक सुशिक्षित लोगों तक प्रचलित हो गये। किंतु स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली और अंग्रेजी में प्रयुक्त होने के कारण ज़ फ़ एक सीमा तक अब भी प्रयोग में है किंतु क़ ख़ ग़ के ठीक प्रयोग में कमी आई है।

2. अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ बहुशिक्षित लोगों द्वारा ऑ ध्वनि भी हिंदी में प्रयुक्त हो रही है।

3. अंग्रेजी शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नये संयुक्त व्यजंन जैसे –ड्र भी हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं।

4. स्वरों में ऐ, औ हिंदी में आदिकाल में आऐ थे।

5. आधुनिक काल में मुख्यतः 1940 के बाद स्थिति ए, औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गई है। इस संबंध में तीन बातें उल्लेखनीय हैं–

(क) पश्चिमी हिंदी क्षेत्र में यह स्वर सामान्यतः मूल स्वर में उच्चरित होते हैं

(ख) पूर्वी हिंदी क्षेत्र में अभी भी ऐ अए, औ के रूप में संयुक्त स्वर के रूप में प्रयुक्त हो रहे है।

हिंदी में पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता बढ़ी है क्योंकि हिंदी अब विज्ञान, वाणिज्य, संचार आदि की भी भाषा है। संविधान के 391 अनुच्छेद के अनुसार संपर्क भाषा के रूप में जिस हिंदी का विकास होना है वह कम–से–कम शब्द भंण्डार के क्षेत्र में भारत की प्राय: सभी भाषाओं से कुछ न कुछ ग्रहण करेगी।

NOTES

4. हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा

"आज से लगभग हजार वर्ष पहले हिंदी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षों में भारत वर्ष का हिंदी भाषी जन–समुदाय क्या सोच–समझ रहा था, इस बात की जानकारी का एकमात्र साधन हिंदी साहित्य ही है।"–हजारी प्रसाद द्विवेदी

अचार्य रामचंद्र ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में लिखा है कि हिंदी के कवियों का एक वृत–संग्रह शिवसिंह सेंगर ने सन् 1833 ई. में प्रस्तुत किया था। उसके पीछे सन् 1889 में डॉ ग्रियर्सन ने 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नार्दर्न हिंदुस्तान' के नाम से एक वैसा ही बड़ा कवि–वृत–संग्रह निकाला। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्त्रों हस्तलिखित हिंदी पुस्तकें देश के अनेक भागों में, राजपुस्कालायों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी है। अत: सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् 1900 से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् 1911 तक की खोज की अपनी आठ रिपोर्टों में सैकड़ो अज्ञात कवियों के तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथो का पता लगाया। सन् 1913 में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्र बंधुओं (श्रीयुत् पं. श्यामबिहारी) ने अपना बड़ा भारी कवि–वृत–संग्रह 'मिश्रबंधुविनोद', जिसमें वर्तमान काल के कवियों और लेखकों का भी समावेश किया गया है, तीन भागों में प्रकाशित हुआ।

उन्नीसवीं शती से पूर्व

उन्नीसवी शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना हो चुकी थी, जिनमें हिंदी के विभिन्न कवियों के जीवनवृत एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, जो निम्नानुसार हैं–

1. चौरासी वैष्णव की वार्ता'
2. दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता
3. भक्तमाल
4. कविमाला
5. कालिदास हजारा–आदि।

उक्त सामग्री के बारे में आचार्य रामचन्द शुक्ल कहते हैं–"किंतु इनमें कालक्रम सन्–संवत आदि का आभाव होने के कारण इन्हें इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती।"

वस्तुत: अब तक की जानकारी के अनुसार हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान गार्सा द तॉसी का ही समझा जाता है। जिन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर एन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी ग्रंथ लिखा, जिसमें हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है, इसका प्रथम भाग (1839 ई.) में तथा द्वितीय भाग (1847 ई.) में प्रकाशित हुआ था। (1871 ई.) में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें इसे तीन खडों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन परिवर्तन किया गया। इस ग्रंथ का महत्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिंदी काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस पुस्तक के संबध में लिखते हैं–"किन्तु इसमें कवियों के रचनाकाल का काल–विभाजन एवं युगीन प्रवृतियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना इस ग्रंथ की प्रमुख कमी थी। साथ ही हिंदी के कवियों में इतर भाषाओं को घुलामिला देना आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण यह इतिहास मानने के सामान्य मापदण्डो में भी खरा नही उतरता। फिर भी भारत से दूर बैठ कर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है।"

डॉ. नगेंद्र कहते हैं–"वस्तुत: किसी भी क्षेत्र में किए गए प्रारंभिक एवं प्राकृतिक प्रयास का महत्व प्राय: उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं, अतिपु नयी दिशा की ओर अग्रसर होन की दृष्टि से ही माना जाता है, यह बात तासी के प्रयास पर भी

लागू होती है। अस्तु, उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिंदी साहित्येतिहास-लेखन की परंपरा में, यह उसके प्रवर्त्तक के रूप में, गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते है।"

इसके पश्चात डा ग्रियर्सन की पुस्तक "द मांडर्नवनेक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" सामने आती है।

इस पुस्तक पर डॉ किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास' में लिखा है कि –

"सन् 1888 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द मांडर्नवनेक्युलर लिटरेचर आंफ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ, जो नाम से इतिहास न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिंदी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृतिओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है।"

डा. ग्रियर्सन अपनी लेखन की नीति को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा–

"मैं आधुनिक भाषा-साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, अंतः मैं संस्कृत में ग्रंथ रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ।"

ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ के आधार स्त्रोत के रूप में तासी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईचरित्र, हजारा, काव्य-संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान-स्थान पर मूलाधारों के संदर्भ-संकेत भी दिये हैं, जिससे उनकी तटस्थता, प्रामाणिकता और ईमानदारी का बोध होता है, जो किसी भी इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यहाँ एक बात ध्यान देने लायक है कि डॉ ग्रियर्सन ने यथासम्भव उस समय की साहित्य की प्राप्त सामग्री को काल क्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि–"उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में जब हिंदी भाषा एवं उसके साहित्य की आलोचना एवं अनुसंधान का श्री गणेश भी नहीं हुआ था उस समय ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की प्रतिभा एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है। यद्यपि वह ग्रंथ अंग्रेजी में होने से हिंदी के अध्येताओं का विषय नहीं बन सका।"

भारतीय परंपरा

(क) तौंसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को जाता है, जिन्होंने हिंदी भाषा में हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास 'शिवसिंह सरोज' (1883) लिखा जिसमें लगभग एक सहस्त्र भाषा-कवियों का जीवन चरित उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया। कवियों के जन्मकाल, रचनाकाल आदि के संकेत भी दिए।

नगेंद जी कहते हैं कि "यह दूसरी बात है कि वे संकेत बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। इतिहास के रूप में इसका महत्व भी नहीं है। किंतु फिर भी इसमें उस समय तक उपलब्ध हिंदी कविता संबंधी ज्ञान को संकलित कर दियागया है, जिससे परवर्ती इतिहासकार लाभ उठा सकते हैं, इस दृष्टि से इसका महत्व है।"

(ख) मिश्र बंधुओं, द्वारा रचित "मिश्रबंधु-विनोद"। यह ग्रंथ चार भागों में विभक्त है जिसका प्रथम तीन भाग (1913 ई.) में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग (1934ई.) में प्रकाशित हुआ।

डॉ नगेन्द्र लिखते है कि – "मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रंथ को इतिहास की संज्ञा न देते हुए भी भरसक इस बात का यत्न किया कि यह एक अच्छा इतिहास सिद्ध हो। इसे परिपूर्ण और सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्होंने एक ओर तो इसमें लगभग पांच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक काल-खंडों में विभक्त किया है। इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अधिक सफलता मिली है। काव्य समीक्षा में परम्परा का ही अनुसरण किया है।"

रामचंद्रशुक्ल ने स्वीकार किया है कि "कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबंधु-विनोद' से ही लिये हैं। किन्तु यह साहित्य के इतिहास का वह स्थान नहीं पा सका जिससे प्रामाणिक सामग्री लेकर आगे व्याख्या की जा सके।"

(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'– सन् (1929ई)। यह इतिहास ग्रंथ सर्वप्रथम 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका में 'हिंदी साहित्य का विकास' नाम से प्रकाशित हुआ था।

NOTES

"वस्तुतः हिंदी का मान्य इतिहास सर्वप्रथम सामने आया। उन्होंने अपने लेखन का आधार देशकाल और जनता की चितवृति को बनाया। उन्होंने इतिहास के मूल विषय को आरंभ करने से पूर्व ही कालविभाग के अंतर्गत हिंदी साहित्य के 900 वर्षो के इतिहास को चार सुस्पष्ट भागों में बांट दिया। जिसके कारण पाटक के मन में पहले ही सारी शंकाएं दूर हो जाय। दूसरी बात है कि उन्होंने काल विभाजन का आधार न देकर केवल तत्संबधी निष्कर्षो को दिया।"–डा. नगेन्द्र

आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन की एक अन्य विशेषताएं–

1. आचार्य शुक्ल पूरे भक्तिकाल को पहली बार चार भागों या शाखाओं में बांटकर उसे शुद्व दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठत कर दिया।
2. इस काल के विभाजन के साथ साहित्य को पहले निर्गुण धारा और सगुण धारा में और फिर प्रत्येक को दो–दो शाखाओं–ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखाओं में बांट दिया।
3. जो धार्मिक एवं भक्त परम्परा और साहित्यानुसंधान करने वालों को एक रास्ता मिला।
4. शुक्ल जी ने सबसे बड़ा कार्य यह किया की उन्होंने रचनाकार को ज्यादा महत्व न देकर उसके रचना को अपना विषय बनाया।
5. मिश्र बन्धु विनोद के इतिहास ग्रंथ में जहां कवियों की संख्या लगभग पांच हजार तक पहुच गई थी, आचार्य शुक्ल ने उनमें से लगभग एक हजार को ही अपने इतिहास ग्रंथ में लिया।
6. आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में रचनाकारों को उनकी साहित्यिक महत्ता और लघुता के आधार पर स्थान दिया।
7. विभिन्न काव्यधाराओं और युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक निर्धारण किया।
8. रीतिग्रंथकारों के आचार्यत्व एवं कवित्व का सूक्ष्म विश्लेषण कर उनकी उपलब्धियों और सीमाओं का निर्धारण किया।

वस्तुतः इतिहास के इतने संक्षिप्त कलेवर में भी इतने कवियों का जैसा प्रामाणिक, सारगर्भित एवं सोदाहरण विवेचन वे प्रस्तुत कर पाये हैं, उससे इतिहासकार शुक्ल की महानता प्रमाणित होती हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का यह योगदान मील का पत्थर सिद्व हुआ तथा भारतीय मनीषियों शोधर्थियों, अध्येताओं के लिए दुर्लभ सामग्री तथा दिशा प्रदान की।

"हिन्दी साहित्य के लिए शुक्ल जी का यह कार्य वास्तव में उन्हें आचार्य के पद पर विभूषित करता है। उनका इतिहास ही कदाचित अपने विषय का ऐसा पहल ग्रंथ है जिसमें अत्यंत सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि, विकसित दृष्टिकोण सुस्पष्ट विवेचन, विश्लेषण और प्रामाणिक निष्कर्ष का हमें पहली बार सन्निवेश मिलता है। यह भी एक महत्व का पहलू है कि उन्होंने उस समय इतिहास को लिखा जिस समय अधिकांश सामग्री अप्रात और अज्ञात थी।"–डा. नगेन्द्र

किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके द्वारा इतिहास की रचना उस समय हुई थी, जबकि हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अज्ञात, लुप्त एव अप्रकाशित अवस्था में पड़ा था तथा उसका प्रामाणिक अध्ययन, विश्लेशण नहीं हो पाया था। वस्तुतः इतिहासकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह इतिहास सहस्त्राधिक रचनाओं का स्वयं ही अनुसंधान, अध्ययन, विश्लेषण करके उपलब्ध निष्कर्षो के आधार पर इतिहास की रचना करे, अपितु वह अन्य अनुसंधानकर्ताओं द्वारा उपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षो की ऐतिहासिक व्याख्या वह अपने ढंग से, स्वतंत्र रूप में करता है। किंतु आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन के समय तो हिंदी–अनुसंधान का आरंभ मात्र ही हो पाया था। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि सन् 1929 तक सारे हिंदी जगत में लिखे गये शोधप्रबंधों की संख्या तीन–चार से अधिक नहीं थी। ऐसी स्थिति में इतिहास क जिस पक्ष का संबंध उनकी स्वतंत्र चिंतना एवं विवेचना–शक्ति से था, उसमें तो उन्हें स्थायी सफलता मिली, किंतु जो पक्ष इतिहास की आधरभूत सामग्री से संबद्ध था, उसमें उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस पक्ष से संबंधित उनके अनेक निष्कर्ष अब अप्रमाणिक सिद्ध हो गये हैं। जिसका प्रभाव निम्न प्रकार से हुआ–

1. इससे उनके इतिहास में अनेक ऐसी त्रुटियों तथा असंगतियों का प्रादुर्भाव होगया है, जो आज की स्थिति उनके इतिहास के दुर्बल पक्ष को प्रस्तुत करती हैं।

2. इसी प्रकार वीरगाथा काल में उल्लिखित रचनाओं के अस्तित्वहीन, अप्रामाणिक, परवर्ती य अन्य भाषा में रचित सिद्ध हो जाने के कारण भी यह काल आज अत्यंत विवादग्रस्त हो गया है।

3. भक्तिकाल के नामकरण और वर्गीकरण में एक कठिनाई यह हो सकती है कि धर्म-निरपेक्ष दृष्टि से राजाश्रय एवं लोकाश्रय में काव्य-रचना करने वाले कवियों के लिए या राम-कृष्ण के अतिरिकत किसी अनय अवतार या देवी -देवता की उपासना करने वाले कवि के लिए उसमें समुतचित स्थान नहीं है।

4. भक्तिकाल की ही भांति रीतिकाल में भी नामकरण, सीमा-निर्धारण, परंपराओं व काव्यधाराओं का वर्गीकरण वर्गविशेष के एकपक्षीय बोध का सूचक है,

5. रीतिकाल के रीतिमुक्त प्रेममार्गी कवियों, वीररसात्मक काव्यों के रचयिताओं तथा राजनीति एवं वैराग्य संबंधी मुक्तको के रिचयिताओं कवियों के साथ न्याय नहीं हो पाता। केशवदास जैसे आचार्य को 'अलंकारवादी तथा परवर्ती रीतिकवियों को रसवादी घोषित करते हुए उन्होंने रीति-परंपरा के प्रवर्तक के पद से वंचित करना भी संगत प्रतीत नहीं होता। केशव का 'रसिकप्रिया' इसका उदाहरण है।

6. विभिन्न काव्य धाराओं तथा परंपराओं के मेल उत्सों के यथार्थ अनुसंधान में शुक्ल जी का युगवादी दृष्टिकोण भी बाधक सिद्ध हुआ।

7. आचार्य शुक्ल ने साहित्यिक परंपराओं और प्रवृत्तियों को युगविशेष की चित्तवृति के प्रतिबिंब के रूप में ही ग्रहण किया, उन तत्वों तथा स्त्रोतों की उपेक्षा की जिनका संबंध पूर्व परंपरा से है।

परिणाम यह हुआ कि उन्होंने पूरे मध्यकाल की विभिन्न धाराओं परंपराओ आंदोलनों, प्रवृतियों को मुस्लिम प्रभाव की देन के रूप में स्वीकार कर लिया। जैसे 1. भक्ति तदयुगीन निराशा की देन है। 2. संतमत इस्लाम के एकेश्वरवाद का परिणाम है। 3. प्रेमाख्यान परंपरा सूफीमसनवियों से अनुकृत है, आदि।

इसमें संदेह नहीं कि इन सब पर आंशिक प्रभाव हो सकता है किंतु यदि हम संस्कृत साहित्य की पौराणिक परंपराओं, प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों व मुक्तकों की धाराओं, सिद्ध व नाथ पंथियों की गुह्य वाणियों की उपेक्षा करके मध्यकालीन हिंदी काव्य की विभिनना काव्यधाराओं के वतमान स्वरूप की आलोचना भले ही की जा सके किंतु उसके आधार-स्त्रोत का अनुसंधान और उनके विकासक्रम की ऐतिहासिक व्याख्या संभव नहीं है।

डॉ नगेन्द्र लिखते है कि-"आचार्य शुक्ल की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं प्रौढ़ विवेचना-शक्ति के महत्व के समक्ष नतमस्तक होते हुए भी हमें यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि इतिहासकार शुक्ल की उपलब्धियां उसी सीमा तक ग्राह्य हैं, जहां तक वे उनके आलोचक रूप से संबद्ध है (किंतु जहां वे आलोचक से पृथक हो कर शुद्ध इतिहासकार के रूप में अवतरित होते हैं, वहीं उनकी अनेक सीमाएं स्पष्ट होने लगती है।"

फिर भी यह नामकरण और वर्गीकरण व्यवहारिक दुष्टि से सरल, सुगम एवं मान्य सिद्ध हुआ। वस्तुतः युग की सीमित ज्ञानराशि को लेकर उन्होंने जैसा रूप दिया, वह निश्च ही उनके जैसे व्यक्तित्व के लिए ही संभव था। इतिहास लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का महतव सदा अक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

(घ) आचार्य शुक्ल के लेखन के लगभग एक दशाब्दी बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में आए और उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नाम से क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में पहला ग्रंथ हिन्दी साहित्य जगत को प्रस्तुत किया। उनकी सबसे महत्वपूर्ण मान्यता उनके इस बात से स्पष्ट होती है, वे कहते हैं कि-

"मै इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" -हजारी प्रसाद द्विवेदी

यहां द्विवेदी जी की यह स्पष्ट घोषणा दो बातों को उजागर करती है -

(एक), यह कि अपने जाति और परंपरा का अभिमान किस तरह होना चाहिए।

(दूसरा), साथ ही यह अभिमान बिना अपने संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन के नही हो सकता।

किन्तु दुर्भाग्य यह है कि आज भी द्विवेदी जी की इस बात को वह स्थान नहीं मिल पाया जो उसे मिलना चाहिए। यह राष्ट्रीय चरित्र निर्माण और आज की ही नहीं भविष्य की समस्या का अचूक समाधान है।

NOTES

जब आचार्य शुक्ल कहते है कि इतिहास जनता कि चितिवृति का प्रतिबिंब होता है तो यह भी विचार करना पड़ेगा कि क्या आज की जनता के चितवृति का जिस प्रकार का निर्माण हो रहा है उससे यह भय या आशंका नही खड़ी होती कि वह हमारे भविष्य के इतिहास लेखन को प्रभावित नहीं करेगी।

मध्यकालीन हिंदी काव्य के विविध स्त्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत साहित्य और वैष्णव भक्ति काव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी हमारे सामने प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिंदी 1. सहित्य:उद्भव और विकास

हिंदी साहित्य का आदिकाल

आदि रचनाएँ हिन्दी संसार को दीं। वस्तुतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल की कुछ धारणाओं का खण्डन किया।आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा आचार्य द्विवेदी के साथ हिन्दी साहित्य में इतिहास लेखन की विस्तृत परंपरा खड़ी हुई। किंतु उन सबका आधार उक्त ग्रंथ ही रहे। द्विवेदी जी की कुछ विशेषताएं निम्न प्रकार हैं–

1. हिंदी साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है, किंतु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतंत्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है।
2. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए नई दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं
3. जहां आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि युग की परिस्थितियों को प्रमुखता प्रदान करती थी, वहीं आचार्य द्विवेदी ने परंपरा का महत्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खंण्डित किया, जो युगीन प्रभाव के एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित थीं।
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अत्यन्त सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया कि भक्ति आन्दोलन न तो तद्युगीन पराजित हिंदू जाति की निराशा से उद्वेलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है। प्रमाण यह है कि सातवीं–आठवीं शती में, जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी। दक्षिण के वैष्णव संतों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी।
5. संत काव्य परंपरा के स्रोतों का अनुसंधान करते हुए सिद्धों और नाथपंथियों की वाणियों, विचार–सरणियों, पद्धतियों व काव्यशैलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट कियाकि किस प्रकार कबीर आदि इनसे प्रभावित थे।
6. वस्तुतः भाव, विचार, तर्कपद्धति, भाषा, शैली आदि के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि हिंदी का संतकाव्य पूर्व वर्ती सिद्धों व नाथपंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है, अतः उसे केवल इस्लाम पर आधारित मानने की आवश्यकता नहीं।
7. हिंदी के प्रमाख्यानों के भी मूल स्त्रोतों का अनुसंधान करतें हूए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इनकी कथावस्तु, कथानक–रूढिया, रचना–शैली, छंद–योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की काव्य परंपराओं पर आश्रित है।
8. मध्यकालीन हिंदी काव्य के विविध स्त्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत साहित्य और वैष्णव भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया।

आचार्य द्विवेदी ने वस्तुस्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है–"कभी–कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्रज्ञानहीन, सुनी–सुनायी बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिसे और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीर दास आदि ने जानबूझ कर उसकी अवहेलना की थी। सच पूंछा जाये तो शास्त्रज्ञान तत्वज्ञान केमार्ग में सबसमय सहायक ही नहीं होता और कभी–कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषो का शास्त्रीय तर्कजाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।" –हजारी प्रसाद द्विवेदी

जहां तक ऐतिहासिक चेतना और पूर्व परंपरा के बोध की बात है, निश्चय ही आचार्य द्विवेदी हिंदी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं। पूर्ववर्ती सांस्कृतिक धाराओं, सरणियों और प(तियों का जेसा गंभर अनुशीलन उन्होंने किया तथा मध यकालीन जनमानस की भाव-धाराओं में जैसी गहरी डुबकी उन्होंने लगायी है, वह किसी और के लिए संभव नहीं। किंतु फिर भी, उन्होने अपना लक्ष्य आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित इतिहास के स्थूल ढांचे में ही अपनी धारणाओं को समेट देने तक का रखा है, जबकि उसे आमूलचूल परिवर्तित कर देने की शक्ति का भी उनमें अभाव नहीं था।कदाचित यही कारण है कि उनके इतिहास की रूपरेखा, काल-विभाजन-प(ति व काव्य धारा की नियोजना बहुत-कुछ आचार्य शुक्ल के इतिहास के ही अनुरूप है

(ड) इनके साथ ही इस क्षेत्र में डॉ. रामकुमार वर्मा 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938ई.) लिखा। इस ग्रंथ की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. डॉ वर्मा ने इस ग्रंथ में 693 से 1693 ई.तक की कालावधि का साहित्यिक इतिहास लिखा।
2. संम्पूर्ण ग्रंथ को सात प्रकारणों में विभक्त करते हुए सामान्यत: रामचंद्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया है।
3. डा.वर्मा ने युगों व धाराओं के नामकरण में किंचित् परिवर्तन कर उन्हे सरल रूप दे दिया गया है। यथा-'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', निर्गुण प्रेमगार्गी (सूफी) शाखा, जैसे लम्बे-लम्बे नामों के स्थान पर 'संतकाव्य' 'प्रेमकाव्य' आदि का प्रयोग किया गया है, जो अधिक सुविधा जनक है।
4. ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण-दोषों का ही विस्तार है, कवियों के मूल्यांकन में अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता और कलात्मकता का परिचय दिया है।

डॉ नगेंद्र कहते हैं कि-"अनेक कवियों के काव्य-सौन्दर्य का आख्यान करते समय लेखक की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ.वर्मा के कवि पक्ष का संकेत देती है। शैली की इसी सरसता और प्रवाहपूर्णता के कारण उनका इतिहास पर्याप्त लोकप्रिय हुआ। तथा पाठको को इस बात का अभाव प्राय: खलता रहा है कि यह भक्तिकाल तक ही सीमित क्यों रह गया।"

अन्य भारतीय परंपरा के प्रयास

(क) नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा भी 'हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास प्रकाशित करने की विशाल योजना बनी और फलीभूत भी हुई। इसके अंर्तगत-

1. समस्त हिंदी साहित्य के इतिहास को सोलह भागों में प्रस्तुत किया गया है।
2. इस ग्रंथ के लेखन के लिए कुछ सामान्य सि(ांतों और प(तियों का निर्धारण किया गया है,
3. प्रत्येक खंड अलग-अलग वि)ानों के संपादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हुआ है
4. संपूर्ण ग्रंथ के लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग लिया गया है।
5. ऐसी स्थिति में इसकी उपलब्धियां और सीमाएं सामान्य रूप से प्रभावी होकर सामने नही आ पाई।
6. वस्तुत: प्रत्येक खंड की सफलता-असफलता बहुत-कुछ उसके संपादक व सहयोगी मंडल पर निर्भर रहा है।

डॉ नगेन्द्र का मत है-"यदि सभी क्षेत्रों के शताधिक लेखकों के स्वतंत्र सहयोग की अपेक्षा कुछ चुने हुए अधिकारी विद्वानों के सामूहिक योग से इसका निर्माण होता तो निस्संदेह इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता, अन्विति एवं सजीवता आ पाती।"

(ख) डॉ धीरेन्द्र वर्मा का 'हिंदी साहित्य'

वस्तुत: यह विभिन्न विद्वानों के सामूहिक सहयोग के आधार पर लिखित इतिहास ग्रंथ डॉ धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित है।

इसमें संपूर्ण हिंदी साहितय का तीन कालों -आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य-परंपराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है।

NOTES

इस ग्रंथ के संबंध में अपने विचार रखते हुए डॉ नगेन्द ने लिखा है–'' जहाँ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहास की रूपरेखा को अधिक ध्यान में रखा गया है, वहीं इसमें यत्र तत्र अधिक स्वतंत्रता से काम लिया गया है।यही कारण है कि इसमें हम 'रासोकाव्य–परंपरा' जैसी नयी काव्य–परंपराओं को भी स्थापित देखते हैं। ''

साथ ही इसमें कुछ दोष भी हैं, जैसे विभिन्न अध्यायों में विभिन्न लेखकों ने इतिहास –लेखान की विभिन्न दृष्टियों और प(तियों का उपयोग किया है, जिसमें इसमें एकरूपता, अन्विति एवं संश्लेषण का अभाव परिलक्षित होताहै। फिर भी, हिंदी साहित्य की इतिहास–लेखन की परंपरा में इसका विशिष्ट स्थान है।

(ड़) इतिहास ग्रंथों की सूची – उपर्युक्त इतिहास ग्रथों के अतिरिक्त भी अनेक शोध–ग्रंथ और समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे गये जो हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास को तो नही किंतु उसके किसी एक पक्ष, अंग या काल को नूतन ऐहतिहासिक दृष्टि से नयी वस्तु प्रदान करते हैं। अत: यहां पर अभी तक के प्राप्त सभी इतिहास ग्रंथों की सूची छात्रों–शोधार्थियो की सुविध ा के लिए दी जा रही है–

साहित्येतिहासकार	साहित्येतिहास

1. गार्सा द तासी–इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐन्दोई ऐन्दुस्तानी–1939(फ्रेंच में लिखा गया हिंदी साहितय का पहला इतिहास–दो भागों में)।
2. ठाकुर शिवसिंह सेंगर–शिवसिंह सरोज, 1883(हिंदी भाषा में लिखा गया हिंदी साहित्य के इतिहास का पहला ग्रंथ)।
3. जार्ज ऐ ग्रियर्सन–माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आंफ हिन्दोस्तान1889(काल विभाजन और नामकरण का सर्वप्रथम प्रयास)
4. मिश्रबंधु (गणेश बिहारीमिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र)–मिश्रबंधु–विनोद (चार भाग)
5. रामचंद शुक्ल–हिंदी साहित्य का इतिहास, 1929–30(एक हजार कवियों का परिचय)
6. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–डा रामकुमार वर्मा
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी–हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास
8. राहुल सांकृत्यायन–हिंदी काव्यधरा
9. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–हिंदी साहित्य का अतीत (दो भाग)
10. गणपतिचन्द्र गुप्त–हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
11. डा नगेन्द्र–हिंदी साहित्य का इतिहास (संपादन)
12. नंददुलारे वाजपेयी–हंदी साहित्य का वृहद इतिहास(संपादित –दस भाग)
13. अज्ञेय–आधुनिक इतिहास
14. रामस्वरूप चतुर्वेदी–हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास
15. राममूति त्रिपाठी–हिंदी साहित्य का इतिहास
16. शिवकुमार शर्मा–हिंदी साहित्य: युग और प्रवृतियां
17. नामवर सिंह–आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां
18. प्रो. महेन्द्र कुमार–हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल
19. प्रभाकर माचवे–हिंदी साहित्य की कहानी
20. डॉ. भगीरथ मिश्र–हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास

21. डॉ. नगेन्द्र–रीतिकाव्य की भूमिका

22. श्री परशुराम चतुर्वेदी–उत्तरी भारत की संत परंपरा

23. श्री प्रभुदयाल मित्तल–चैतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य

24. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक–राधवल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य

25. चंद्रकांतबाली–पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास आदि।

26. डॉ. हाकिम सिंह तोमर–हिन्दी वीरकाव्य

27. डॉ मोतीलाल मेनारिया–राजस्थनी भाषा और साहित्य व 'राजस्थनी पिंगल साहित्य

28. डॉ. सियाराम तिवारी–मध्यकालीन खंडकाव्य

इसके अतिरिक्त डॉ सरला शुक्ल, डॉ हिरकांत श्रीवास्तव, डॉ ओमप्रकाश शर्मा प्राकृति विद्वानों के प्रेमाख्यान के काव्य संबंधी शोधप्रबंध आदि ऐसे शताधिक ग्रंथ हैं जिनके द्वारा हिंदी साहित्य के विभिन्न कालखंडों, काव्यरूपों, काव्य ध ाराओं, उपभाषाओं के साहित्य आदि पर प्रकाश पड़ता है।

इनके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि इन सबने साहित्य जगत को कुछ न कुछ नया अवश्य दिया तथा इन सब के आलोक में हिन्दी साहित्य की नूतन व्यख्या प्रस्तुत करने का प्रयास दिखाई देता है।

इस प्रकार गार्सा द तॉसी से ले कर अब तक की परंपरा के संक्षिप्त अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि लगभग एक शताब्दी की ही अवधि में हिन्दी साहित्य का इतिहास–लेखन अनेक दृष्टियों, रूपों और पद्धतियों को अपने में समेटे हिंदी साहित्य की सम्यक जानकारी प्रस्तुत करता है।

5. लेखन की आधारभूत सामग्री

यह एक विचारणीय तथ्य है कि आखिर उक्त इतिहास ग्रंथों के लेखन में इतिहासकारों ने लेखन सामग्री कहां से जुटाई। इसका आधार क्या है। जब हम इस पर दृष्टिपात करते हैं तो इन्हें हम पांच वर्गों में विभक्त पाते हैं।

(1) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएं

(ख) साहित्यकारों वा साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियां

(ग) साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृतियों की व्याख्या से संबंधित आलोचनात्मक व अनुसंधानपरक ग्रंथ

(घ) प्राचीन साहित्यकारों के काल–निर्धारण व रचनाकाल के निर्णय में योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री, जैसे–शिलालेख, वंशावलियां, प्रामाणिक उल्लेख आदि

(5) विभिन्न युगों की आंतरिक और बाहय परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामाग्री

उपयुर्क्त वर्गों में से प्रथम वर्ग के अंतर्गत आने वाली प्रकाशित रचनाओं की उपलब्धि तो विशेष कठिन नही है, किंतु अप्राकाशित सामग्री की उपलब्धियाँ अवश्य दुष्कर हैं। नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य कई साहित्यिक संस्थाए इस कार्य में वर्षों से लगी हुई हैं और उनके द्वारा उपलब्ध रचनाओं का विवरण खोज रिपोर्टों में प्रकाशित होता है। दुर्भाग्य इस प्रकार की सहस्त्राधिक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं।

द्वितीय वर्ग की प्राचीन रचनाओं में–

'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'चौरसी वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'गुरुग्रंथ साहब' में भक्तनामावली', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा' 'संतकवि गिराविलास', 'कवि नामावली', 'रगसागरोद्भव' 'रागकल्पद्रुम', 'श्रृगांर संग्रह' अदि उल्लेखनीय है।

इनका रचनाकाल सत्रहवीं सती से लेकर उन्नसवीं शती के अंत तक का है। तथा इनसे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों और काव्यों के संबंध में विभिन्न तिथियों का पता चलता है।

जहाँ तक आधुनिक काल के साहित्य के परिचय देने वाले ग्रंथों की बात है, डॉ माता प्रसाद गुप्त और डॉ प्रेम नारायण टंडन व अन्य कई लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत संग्रह, निर्देशिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए जो इतिहास लेखकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते है।

NOTES

6. पुनर्लेखन की आवश्यकता

डॉ नगेन्द्र कहते हैं—"हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है, इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण हैं—साहित्यचेतना का विकास और नवीन शोधपरिणाम।"

यहां एक बात विचारणीय है कि क्या आज वैसा समय और चिन्तन है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जमाने में था, स्पष्ट है नहीं बल्कि उसका विस्तार हुआ है। शोध कार्य बढ़े है। इंटरनेट और वेवसाईट के कारण हम विश्व से जुड़ गये है। इतना ही नही आज केवल हिंदी जगत ही नही विश्व के कोने कोने में रह रहे हिंदी प्रेमी इस विषय पर अपनी कलम चला रहे है, उनमें भारतीय मूल के एवं अभारतीय दोनों है। फिर ऐसे वातावरण में हम कूपमंण्डूक कैसे रह सकते हैं। आज हमारे शोध में सामग्री जुटाने में प्रिंट एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया पूरा हस्तक्षेप कर रही है। इसलिये साहित्य के मौलिक प्रतिमान भले ही अधिक नही बदले हो और वे ज्यादा बदल भी नही सकते किन्तु पिछले शोध परिणामों के कारण नवनी सामग्री प्रकाश में आयी है और अनेक स्वीकृत तथ्यों का संशोधन हुआ है, जिसमें पूर्ववर्ती निर्णय और निष्कर्ष अनिवार्यतः बदले गये हैं। इनके अतिरिक्त एक सूक्ष्मतम कारण और भी है, जैसा कि इलियट ने कहा है, –केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नही करता, वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इस तर्क से प्रत्येक युग में साहित्य के नये विकिसत रूप उसके पूर्वरूपों के मूलयांकन को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, मिश्रबंधुओं के समय श्रेष्ठ कवियों की जो परंपरा थी उसमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत आदि के अविर्भाव के बाद निश्चय ही परिवर्तन हो गया। हिंदी में काव्य –परम्परा में 'रामचरितमानस' की रचना के बाद आज फिर से विचार करना पड़ेगा। अतः नवीन शोध परिणामों के आधार पर विकासशील साहित्य चेतना के आलोक में, संपूर्ण परिदृश्य का पुनरावलोकन सर्वथा उचित एवं समय की मांग है।

इसके साथ ही जब हम साहित्य के इतिहास लेखन के बारे में विचार करते है तो हमारे सामने दो प्रश्न सहज खड़े होते हैं– (1) हिंदी का स्वरूप विस्तार कहां तक है? तथा (ख) साहित्य की सीमा क्या है?

(1) **हिंदी का स्वरूप विस्तार** : स्वरूप विस्तार के दो विचार आज के वातावरण में करना आवश्यक है। एक तो हिन्दी रचना की दृष्टि से रचना संसार ने देशकाल की भौगोलिक सीमा का सीमोलघ्न किया है और आज के वातावरण में हम चाह कर भी उसके विस्तार को रोक नही सकते और रोकना उचित भी नही है। हां उसे उसके क्षेत्र के रूप में परिभाषित करना है तो हिंदी के विद्वान और अन्य भाषाविद आरंभ से ही यह स्वीकार करते आये हैं कि भारतवर्ष के जितने भूभाग में वर्तमान हिंदी या खड़ीबोली, सामाजिक व्यवहार, अर्थ, पत्राचार, शिक्षा–दीक्षा, सार्वजनिक आयोजन, विचार–विनिमय तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि की माध्यम भाषा है, वह सब का सब हिंदी का क्षेत्र है।

हां यह विचार नया नही है, इसका स्वरूप उस समय निर्धारित हो गया था जब भाषाई राज्यों और उनके प्रलोभनों की कल्पना भी नही थी। हिंदी का यह 'वृहत्तर 'या विशाल' रूप राजनीतिक उद्देश्यों से विस्तारित रूप नहीं है। स्वाभाविक तर्कसम्मत रूप है जिसके विषय में अभी कुछ समय पूर्व तक कोई विवाद नही था। जहां आज मैथिली और राजस्थानी स्वतंत्र भाषाएं है, वहीं यह अवधारणा पुष्ट हो गई है कि उर्दू भी हिन्दी की ही एक इकाई है और इन दोनों बातों को मानने वालों की संख्या बढ़ी है। किंतु क्या हम प्रसाद और इकबाल को एक ही भाषा के कवि मान सकते हैं। ठीक है कुछ तत्वों की समानता मिल सकती है किन्तु इसके कारण दोनों को एक कैसे मान सकते हैं। यह बात सत्य है कि एक समय था जब विभिन्न बोलियों चाहे राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी हो या बिहारी, मैथली आदि के साहित्य के विकास का साधन नही था। इसी आधार पर आज विद्यापति, चंद, नरपति नाल्ह, पृथ्वीराज आदि कवियों को हिंदी साहित्य के इतिहास में जो निरंतर महतदपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है उसे कमतर करने का प्रयत्न चल रहा है। अतः इस विषय में बड़ी सतर्कता से विचार करना पड़ेगा। इस संपूर्ण वांड्मय का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए क्योंकि हिंदी की सही परिभाषा के आधार पर ये सब हिंदी के ही अंग हैं। अन्यथा जो एक विषय हिन्दी साहित्य के आदिकाल के बारे में उठ रहा है कि हिंदी का स्वरूप अपभ्रंश, डिंगल–पिंगल और सीमांतवर्ती क्षेत्रों में गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं के साथ इस प्रकार उलझा और जुड़ा है कि इतिहासकार भी भ्रम में पड़ जाता है। वस्तुतः आज विचार करते समय दो बातों को ध्यान में रखना पड़ेगा, एक–विभिन्न बोलियों का विकास जिस गति से हो रहा है क्या वे भविष्य में हिंदी के साथ रहेंगी? क्योंकि उनका हिंदी का उस समय का संबंध है जब आदिकाल था तथा सभी प्रकार से ये बोलियां अपने विकास का अवसर तलाश रहीं थी। किन्तु दूसरी बात यह है कि क्या इनको हम हिंदी के एक बड़े परिवार में समाहित नहीं रख सकते। यदि नही तो क्या यह बोली भाषा का अस्तित्व क्षेत्र और प्रांत का राजनीतिक हथकंडा

नही बन जावेगी ? अतः यह छूट रखते हुए की प्रत्येक बोलियों को अपना विस्तार करने की पूरी स्वयतता है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है कि ऐसी सभी रचनाओं को, जिनके अधिकाश भाषिक रूप हिंदी की उपभाषओं के भाषिक रूपों से अभिन्न हैं, हिंदी के अंतर्गत मान लेना चाहिए। दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से हिंदी संसार को मान्यता देनी चाहिए।

(ख) दूसरा प्रश्न साहित्य की सीमा कहा तक जाती है? आज इतिहासकार के सामने एक प्रश्न है कि वह साहित्य के प्राण रस को कायम रखे या ज्ञान के भंण्डार को अपने अन्दर समेटे। इसमें थोड़ा सा पीछे देखकर निणर्य करना चाहिए। जैसे आदिकाल में प्रचलित गोरखनाथ आदि की बानी या परवर्ती युग की वार्ता–साहित्य शुद्ध साहित्य की परिधि में नहीं आते हैं किंतु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है, उनके अभाव में विकास परंपरा की कुछ आवश्यक कड़ियाँ लुप्त नही हो जावेंगी। इसी तरह आधुनिक काल के आरंभ में दयानंद का सत्यार्थप्रकाश निश्चय ही ललिति साहित्य का अंग नहीं, परंतु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना संभव है? इसी प्रकार वर्तमान युग में भी ज्ञान के साहित्य भाषाविज्ञान, पाठविज्ञान, कौशविज्ञान, पत्रकारिता का हम क्या करे जो हिन्दी में ऐसे प्रवेश कर गये है कि रस के आभाव में भी इनके बिना हम नहीं चल पार रहे हैं।दूसरी तरफ इतिहास, दर्शन, भूगोल, राजीनीतिशास्त्र आदि के क्षेत्रों की उपलब्धियाँ किस प्रकार साहित्य में योगदान करती है अवश्य विचार करना होगा। तब इनका निषेध कैसे हो ? यह ठीक है कि जैसे साहित्य शब्द का प्रयोग आर्युवेद, ज्योतिष आदि के लिय होता है वैसे का वैसा प्रयोग साहित्य में हम न भी करें तो क्या ललित साहित्य के निर्माण में इनके योगदान को भुलाया जा सकता है।

वस्तुतः यही वे प्रश्न है जो आज हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन को पुनर्लेखन में ला खड़ा करते हैं।

7. इतिहास लेखन के आधार

पिछले कुछ दशकों से या यूं कहें की सातोत्तर के बाद से लगभग सभी दिशाओं में अनुसंधान का कार्य बढ़ा है उससे साहित्य भी अछूता नही रहा। जिसके कारण अनेक नवीन आधार स्त्रोतों का उद्‌घाटन हुआ और प्रचुर सामग्री प्रकाश में आयी है। वर्तमान शती के प्रथम चरण तक इस प्रकार के साधन अत्यंत सीमित थे और इतिहासकार को प्रायः सभा की खोज रिपोर्टों या विद्वानों के व्यक्तिगत प्रयास पर ही निर्भर करना पड़ता था परंतु आज सभी क्षेत्रों में अनेक संस्थाएं व्यवस्थित रूप से कार्य कर रही हैं और नित्य नवीन सामग्री का प्रकाशन हो रहा हैं। स्वभावतः इन शोध परिणामों का उपयोग करना इतिहासकार के लिय आवश्यक हो गया है। परंतु इस विषय में काफी सावधान होकर कार्य करना चाहिए। इतिहास में ऐसी सामग्री का ही उपयोग करना चाहिए जिसकी प्रामाणिता असंदिग्ध है। संदिग्ध सामग्री का भी, यदि वह साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, उल्लेख करना आवश्यक हो सकता है (परंतु उस पर प्रश्नवाचक चिंह अवश्य रहना है उसके प्रति मोह अनुचित है और इतिहासकार के सामने वस्तुथिति को स्वीकार करने के अतिरिकत और कोई विकल्प नही रहता हैं किंतु प्रामाणिकता के प्रश्न पर भी अत्यंत सतर्कता की आवयकता है।प्रत्येक नवीन शोध–परिणाम प्रामाणिक नहीं होता, प्रमाण सिद्ध स्थापनाओं को भी समय सिद्ध होने में देर लगती है(अतः नवीनतम के प्रति आग्रह भी इतिहास का गुण नहीं है। जिस प्रकार अप्रामाणिक मान्यताओं से चिपके रहना गलत है, उसी प्रकार हर नयी कच्ची–पक्की स्थापना के आधार पर समय सिद्ध धारणाओं को नकारना भी खतरनाक है।

डॉ. रामविलास गुप्त लिखते हैं कि इतिहास–लेखन एक सहज नहीं, अपितु दुष्कर कार्य है।यह विगत कालीन देश–समाज की गतिविधियों का वह दर्पण है, जिससे अपेक्षित स्वस्थ दृष्टि प्राप्त होती है। आचार्य रामचन्द्र ने हिंन्दी में जिस वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया, उससे वे हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखन के क्षेत्र में नवीन युग के प्रवर्तक कहे जाते है। सामान्यतः इतिहास–लेखक प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध आनुषंगिक विषयों की चर्चा यथार्थ भूमि पर करते हुए विचारों के कसाव को बढ़ा देता है, लेकिन शुक्ल जी ने अपने औदार्यपूर्ण व्यक्तित्व की झलक दिखाते हुए इसे कुछ मधुर और हल्का कर दिया है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य साहित्य पर अपनी पैनी नजर रखकर और उसके स्वस्थ प्रभाव को ग्रहण कर इतिहास–लेखन के प्रति अपने विशद पाडित्य, प्रौढ़–चिन्तन, सूक्ष्म–विश्लेषण, व्यापक अनुभव आदि सब कुछ अपने उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इससे वे हमारे सामने एक आचार्य और दार्शनिक के रूप में आते हैं।

आचार्य रामचनद शुक्ल के साहित्य–इतिहास लेखन का उल्लखनीय वैशिष्ट्य यह भी है कि उसमें उन्होंने अपने व्यापक और गम्भीर अध्ययन से रचनाकार विशेष के गुण–दोष को प्रकट करते हुए उसकी रचनागत मूल प्रवृतियों की छानबीन करके अपनी अद्‌भुत क्षमता और विश्लेषण–बुद्धि का अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया है। इससे उन्होंने न केवल निहित देशकाल सापेक्ष और शाश्वत तत्वों का उद्‌घाटन किया, अपितु व्यापक मानव–मूल्यों की दृष्टि से उसका महत्वांकन करने की एक ऐसी परिपाटी को जन्म दिया, जिसका विकास परवर्ती इतिहास–लेखन में दिखायी देता है। इसीलिए उनका शोधपूर्ण, विश्वसनीय,

NOTES

प्रामाणिक और अप्रतिम 'हिन्द साहित्य का इतिहास' छात्रों के लिये ही नही आज विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं के लिए भी उपयोगी है।

NOTES

वस्तुत: उक्त टीप हमारे सामने वह सब रहस्य उद्घाटित करती है जिसे आधार पर हम इतिहास लिख सकते हैं या जो हमें इतिहास लिखने के लिए आवश्यक है। अत: कहा जा सकता है कि इतिहास लेखन का आधार जहाँ शोधपूर्ण सामग्री है वही लेखक की अपनी प्रौढ़ता और देश–काल का अध्ययन महत्वपूर्ण है।अत: इतिहास न केवल सोचने से लिखा जा सकता और न केवल साहित्य की उपलब्धता से। अत: रचनाकार में नीर–क्षीर विवके भी होना आवश्यक है।

8. इतिहास लेखन की समस्याएँ

इतिहास के क्षेत्र में मौलिकता का केद बिंदु है–परिकल्पना अर्थात विकास–परंपरा का परिवर्तन वास्तव में इतिहास–लेखन, ऐतिहासिक अनुसंधान का पर्याय नहीं है। एतिहासिक अनुसंधान जहां जहां नवीन तथ्यों के अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों के नवीन आख्यान पर बल देता है, वहाँ इतिहास –लेखक इन दोनों दिशाओं में एक सीमा से आगे नही बढ़ सकता। उसके लिए नवीन की अपेक्षा प्रामाणिक और समय सिद्ध का अधिक महत्व है, नये तथ्यो के और नये शोध –निष्कर्षों का वह आदर करता है, किंतु उसके लिए वे तब तक ग्राहय नहीं होते, जब तक कि समय का प्रमाण पत्र उन्हें प्राप्त न हो जाये। इसी प्रकार कृतियों तथा कृतिकारो की समीक्षा एवं मूल्यांकन में उसका अपना मौलिक दृष्टिकोण हो सकता है, जो आलोचना के क्षेत्र में निश्चय ही महत्वपूर्ण है, परंतु इतिहास में एक सीमा से आगे उसका आग्रह करने से संतुलन भंग हो सकता है। इतिहास में तो समन्वयात्मक दृष्टिकोण और संतुलित विवेचन ही अधिक काम्य है। उपयुर्क्त विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है–

1. नवीन शोध परिणामों और विकसित साहित्यचेतना को ध्यान में रखते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन हो।
2. ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचनाशक्ति से युक्त एक अलोचक यदि यह कार्य संपन्न कर सके तो उत्तम होगा किंतु यदि यह संभव ना हो तो सुनिश्चित परियोजना के अंतर्गत, निदेशक सिद्धांतों का निर्धारण कर कुछ लेखकों का समुदाय, घनिष्ठ संपर्क सहयोग के आधार पर यह अनुष्ठान पूरा करे।
3. शैलीभेद होने पर भी ऐतिहासिक परिदर्शन की एकता इस प्रकार के समवेत प्रयास में एकान्विति स्थापित कर सकती है।
4. युगचेतना और साहित्यचेतना के समन्वय पर आधृत साहित्य के इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए।
5. हिंदी भाषी भू–भाग के सांस्कृतिक इतिहास के परिवेश में उसके प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष प्रभाव में विकसित और हिंदी के विविध रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त, साहित्य चेतना के विकासक्रम का आंकलन करना चाहिए अन्यथा इसमें कठिनाई होती है।
6. नवीन शोध सामग्री का उपयोग आवश्यक है पर इसमें सतर्कता बरतनी चाहिए की स्थापित विषय प्रामाणिक है अथवा नही, अन्यथा गलत तथ्य स्थापित होने का भय रहता है।
7. विषय प्रतिपादन में समन्वयात्मक पद्धति का अवलंबन करना ही उचित है, किंतु प्रकृति विश्लेषण तथा प्रमुख कवि, लेखकों और कृतियों के योगदान स्थान –निर्धारण का भी साहित्य के इतिहास में उतना ही महत्व है।
8. जीवन वृत तथा ग्रंथ–विवरण साहित्यिक विवेचन से पूर्व देना ही अधिक संगत है। कुछ इतिहास ग्रंथों में इस का विवरण पाद टिप्पणी के रूप मे देने की व्यवस्था है, जो विवेचन की स्वच्छता की दृष्टि से ग्राह्य हो सकती है।
9. समानुपात की रचना और उचित मूल्यांकन के लिए इतिहास के समग्र रूप की कल्पना उसके अनुसार पूर्व योजना तथा रूपरेखा की रचना अनिवार्य है, विषय–विवेचन का कलेवर विषय के महत्व के अनुरूप ही होना चाहिए। अन्यथा संतुलन और परिदर्शन में व्याघात उत्पन्न हो सकता हैं
10. विक्रम संवत तथा अन्य संवत् से आज के पाठक का जीवंत संपर्क न होने के कारण ईसवी सन् का संवत के साथ प्रयोग अवश्य होना चाहिए।

सारांश रूप में यह कहना ठीक होगा कि साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में हिंदी में अभी उचित प्रगति नहीं हुई है अन्य भाषाओं में तो स्थिति और भी खराब है इसका कारण यह है कि यद्यपि प्राचीन काल से हमारे देश में रामायण, विभिन्न पुराणों की लम्बी परंपरा रही है जो हमारे इतिहास विधा के प्रतिनिध ग्रंथ है किन्तु हमने उनकी उपेक्षा की और यह धारणा बना ली कि हमारे देश में विकसित परंपरा नहीं रही है और आज भी हम इस दिशा में विशेष उन्नति नही कर पाये हैं। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहास ग्रंथों के प्रकाशन के आद भी हिंदी मे सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है, जिसकी रचना सन् 1929 में हुई थी। यह स्थिति हिंदी के गौरव के अनुकूल नहीं है, विशेषत: तब, जबकि हिंदी का आलोचना–साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है।

नागरी प्रचारिणी सभा ने बृहत इतिहास की योजना बना एक महान अनुष्ठान का उपक्रम किया है। किन्तु इस प्रकार के सार्वजनिक कार्य की अपनी सीमाएं होती हैं, फिर भी इस महत्प्रयास के फलस्वरूप साहित्य–सामग्री की एक विशाल राशि भावी इतिहासकार के लिए एकत्र हो गयी है और हमारा विश्वास है कि शीघ्र ही साहित्य के कुछ प्रामाणिक इतिहास हमें हिंदी में उपलब्ध होगें।

9. सार-संक्षेप

1. प्रत्येक साहित्य के अभिव्यक्ति का साधन उसकी भाषा होती है। जिस देश जाति की जो भाषा होती है वहां का कवि, साहित्यकार अथवा रचनाकार जो भी कहें वह उसी भाषा में अपनी अभिव्यक्ति करता है।

2. हिन्दी शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है।

3. इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिंदीक' बना, जिसका अर्थ है 'हिन्दका'। यूनानी शब्द इंदिका या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं।

4. 'हिन्द' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिन्दी प्रदेश में बोली जाने वाली सत्रह बोलियों का द्योतक है। हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है,

5. जनता की चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखना ही 'साहित्य का इतिहास' लिखने का उद्देश्य है।

6. श्री कुप्पी हल्ली सीतारम्मया 'शुदर्शन' जी कहते हैं कि हिन्दी भारत की संम्पर्क भाषा घोषित होनी चाहिए। जिसे तामिलनाडु एवं सभी दक्षिण–पूर्वी राज्य मानने को तैयार हैं।

7. हिंदी साहित्य की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास'(1929)को प्राप्त है, जो मूलत: नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्द–सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत कर स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया।

8. आचार्य शुक्ल के अनुसार–"प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृति की संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चितवृति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है, आदि से अंत तक इन्हीं चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चितवृति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धर्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"

9. उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना हो चुकी थी, जिनमें हिंदी के विभिन्न कवियों के जीवनवृत एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, जैसे 'चौरासी वैष्णव की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'भक्तमाल', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा' आदि।

10. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान गार्सा द तॉसी का ही समझा जाता है। जिन्होनें फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर एंन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी'ग्रंथ लिखा, जिसमें हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है, इसका प्रथम भाग (1839 ई.) में तथा द्वितीय भाग (1847 ई.) में प्रकाशित हुआ था।

11. डॉ. नगेंद्र कहते है—वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में किए गए प्रारंभिक एवं प्राकृतिक प्रयास का महत्व प्रायः उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं, अतिपु नयी दिशा की ओर अग्रसर होन की दृष्टि से ही माना जाता है, यह बात तासी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु, उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिंदी साहित्येतिहास–लेखन की परंपरा में, यह उसके प्रवर्त्तक के रूप में, गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते है।

12. डॉ किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास' में लिखा है कि सन् 1888 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द मांडर्नयनेक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ, जो नाम से इतिहास न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिंदी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है।

13. ग्रियर्सन ने कहा—"मैं आधुनिक भाषा–साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, अंतः मैं संस्कृत में ग्रंथ रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ।"

14. ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ के आधार स्त्रोत के रूप में तासी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईं चरित्र, हजारा, काव्य–संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान–स्थान पर मूलाधारों के संदर्भ–संकेत भी दिये हैं,

15. तॉसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को जाता है, जिन्होंने 'शिवसिंह सरोज' (1883) में लगभग एक सहस्त्र भाषा–कवियों का जीवन चरित उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

16. मिश्र बंधुओं, द्वारा रचित 'मिश्रबंधु–विनोद' चार भागों में विभक्त है जिसका प्रथम तीन भाग (1913 ई.) में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग (1934 ई.) में प्रकाशित हुआ।

17. मिश्र बन्धुओं ने मिश्रबंधु–विनोद को परिपूर्ण और सुव्यवस्थित बनाने के लिए एक ओर इसमें लगभग पांच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक काल–खंडो में विभक्त किया है।

18. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सन् (1929 ई.) का लिखा हिन्दी साहित्य का इतिहास वस्तुतः हिंदी का मान्य इतिहास सर्वप्रथम सामने आया जिसमें शुक्ल जी ने सबसे बड़ा कार्य यह किया की उन्होंने रचनाकार को ज्यादा महत्व न देकर उसके रचना को अपना विषय बनाया।

19. आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन की एक अन्य विशेषता यह है उन्होंने पूरे भक्तिकाल को पहली बार चार भागों या शाखाओं में बांटकर उसे शुद्ध दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठत कर दिया। इस काल के विभाजन के साथ साहित्य को पहले निर्गुण धारा और सगुण धारा में और फिर प्रत्येक को दो–दो शाखाओं–ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखाओं में बांट दिया, जो धार्मिक एवं भक्त परम्परा और साहित्यानुसंधान करने वालों को एक रास्ता मिला।

20. हिंदी साहित्य की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929) को प्राप्त है, जो मूलतः नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द–सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृतकर स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया।

21. आचार्य शुक्ल के लेखन के लगभग एक दशाब्दी बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में आए और उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नाम से क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में पहला ग्रंथ हिन्दी साहित्य जगत को प्रस्तुत किया।

22. हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते है –"मै इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

23. इसके अतिरिक्त द्विवेदी ,जी ने हिंदी 'सहित्य:उद्भव और विकास', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' आदि रचनाएँ हिन्दीं संसार को दीं। वस्तुतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुकल की कुछ धारणाओं का खण्डन किया।

24. डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938 ई.) में 693 से 1693 ई. तक की कालावधि का साहित्यिक इतिहास लिखा। संम्पूर्ण ग्रंथ को सात प्रकारणों में विभक्त करते हुए सामान्यत: रामचंद्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया है।

25. नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा भी 'हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास प्रकाशित करने की विशाल योजना बनी और फलीभूत भी हुई इसके अंर्तगत समस्त हिंदी साहित्य के इतिहास को सोलह भागों में प्रस्तुत किया गया है

26. डॉ धीरेन्द्र वर्मा 'हिंदी साहित्य' नामक ग्रंथ लिखा, इसमें संपूर्ण हिंदी साहित्य को तीन कालों—आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य-परंपराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है।

27. कुछ अतिरिक्त इतिहास ग्रंथ—डॉ भगीरथ मिश्र का 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ. नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका', श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की संत परंपरा', श्री प्रभुदयाल मित्तल का 'चैतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य', डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का 'राधवल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य', श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'हिंदी साहित्य का अतीत', चंद्रकांतबाली का 'पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास' आदि प्राप्त होते है।

28. साहित्य लेखन की आधार भूत कुछ आवश्यक सामग्रियाँ—

(1) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएं,

(ख) साहित्यकारों वा साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ,

(ग) साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृतियों की व्याख्या से संबंधित आलोचनात्मक व अनुसंधानपरक ग्रंथ,

(घ) प्राचीन साहित्यकारों के काल-निर्धारण व रचनाकाल के निर्णय में योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री, जैसे—शिलालेख, वंशावलियां, प्रामाणिक उल्लेख आदि,

(5) विभिन्न युगों की आंतरिक और बाहय परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामाग्री।

28. डॉ नगेन्द्र कहते हैं—"हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण हैं— साहित्यचेतना का विकास और नवीन शोधपरिणाम।"

29. विक्रम संवत तथा अन्य संवत् से आज के पाठक का जीवंत संपर्क न होने के कारण ईसवी सन का संवत के साथ प्रयोग अवश्य होना चाहिए।

30. जब हम साहित्य के इतिहास लेखन के बारे में विचार करते है तो हमारे सामने दो प्रश्न सहज खड़े होते हैं—

(1) हिंदी का स्वरुप विस्तार कहां तक है? (ख) साहित्य की सीमा क्या है?

31. डॉ. रामविलास गुप्त लिखते हैं कि इतिहास-लेखन एक सहज नहीं, अपितु दुष्कर कार्य है।यह विगत कालीन देश-समाज की गतिविधियों का वह दर्पण है, जिससे अपेक्षित स्वस्थ दृष्टि प्राप्त होती है। आचार्य रामचन्द्र ने हिन्दी में जिस वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया, उससे वे हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के क्षेत्र में नवीन युग के प्रवर्तक कहे जाते है।

32. आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य साहित्य पर अपनी पैनी नजर रखकर और उसके स्वस्थ प्रभाव को ग्रहण कर इतिहास-लेखन के प्रति अपने विशद पाडित्य, प्रौढ़-चिन्तन, सूक्ष्म-विश्लेषण, व्यापक अनुभव आदि सब कुछ अपने उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इससे वे हमारे सामने एक आचार्य और दार्शनिक के रूप में आते हैं।

33. आचार्य रामचनद्र शुक्ल के साहित्य-इतिहास लेखन का उल्लखनीय वैशिष्ट्य यह भी है कि उसमें उन्होंने अपने व्यापक और गम्भीर अध्ययन से रचनाकार विशेष के गुण-दोष को प्रकट करते हुए उसकी रचनागत मूल प्रवृतियों की छानबीन करके अपनी अद्भुत क्षमता और विश्लेषण-बुद्धि का अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया है।

NOTES

10. अभ्यास-प्रश्न

1. सिद्ध कीजिए कि किसी भी साहित्यकार की अभिव्यक्ति उसके मूल भाषा में ही सहज और सरल रूप से निखरती है। हिन्दी भाषी रचनाकार स्वाभाविक रूप से किस भाषा में रचना करना चाहेगा।
2. हिंदी शब्द कैसे बना ?हिन्दी और उसकी बोलियों का परिचय दीजिये।
3. उन्नीसवीं शती के पूर्व लिखे हिंदी साहित्य के ग्रंथों के नाम तथा लेखको के नाम बताइये।
4. उन्नीसवीं शती के पूर्व के लिखे ग्रंथों की विशषताएं बताइये।
5. हिन्द साहित्य का भारत का सबसे प्रामाणिक इतिहास किसका माना जाता है और कब लिखा गया। उसकी विशेषताएं बताइये।
6. आचार्य रामचद्र शुक्ल और रामकुमार वर्मा के इतिहास ग्रंथों में समानता और अन्तर बताइये।
7. किन्ही पांच भारतीय साहित्य के इतिहासकारों और उनके एक–एक ग्रंथ के नाम बताइये।
8. साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता क्यों ? अद्यतन इतिहास ग्रंथों में किन्ही दो के नाम बताइये।
9. पुनर्लेखन की समस्याएं कौन–कौन सी हैं ?
10. इतिहास लेखन की आवश्यक सामग्री कौन–कौन सी है ?

अध्याय – 3

हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- परिचय
- अध्ययन उद्देश्य
- हिन्दी साहित्य का वर्तमान इतिहास
- विभिन्न काल विभाजन
- सीमा निर्धारण के आधार
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

NOTES

1. परिचय

हिंदी साहित्य का इतिहास निरन्तरता का इतिहास है। आठवीं–नवीं शताब्दी से लेकर आजतक के विकास परदृश्य के साथ साहित्यिक सृजनशीलता के विविध रूपों, प्रवृतियों और भाषा का ज्ञान हिन्दी साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही किया जा सकता है। अतः इसका अध्ययन सर्वथा सार्थक एवं समीचीन है।

डॉ नगेन्द्र ने लिखा है–**"गुण और परिमाण में समृद्ध कोई एक कृति लेखक ही लिख सकता है।"**

यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाय तो समझा जा सकता है कि पूर्व के लिखे इतिहास में निरन्तर परिमार्जन ही आज का इतिहास लेखन है। दूसरे शब्दों में तथ्यों का संकलन कर संपादन करना है। कालविभाजन और विभाजित कालों का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण समस्याएं हैं। इनके आधार सामन्यतः काल–विभाजन, और उनके नामकरण प्रत्येक इतिहास कार ने देने का प्रयत्न किया है।

आचार्य रामचंदशुक्ल जी अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' की भूमिका में लिखते है कि–

"इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ, तब से उसके साहित्य के विचार–शृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन–जिन प्रवृतियों के अनुसार हमारे साहित्य स्वरूप में जो–जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन–जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य–धारा की भिन्न–भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक्निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।"

सात–आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी पर ऐसी निर्विष्ट सारणियों की उद्भावना नहीं हुई थी, जिसके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न–भिन्न शाखाओं के हजारों कवियों की केवल कालक्रम से गुँथी उपर्युक्त वृतमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्याय में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं ? सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँद कर बाँट देना–यह भी न देखना कि खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं, किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

यहां फिर उस बात को स्मरण करना होगा कि हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है। क्योंकि साहित्यिक चेतना में निरन्तर परिवर्तन आ रहा है। वर्तमान युग का साहित्य अब वैसे का वैसा नहीं है जैसा आज से सौ साल पहले था। यहां हर बीस–पच्चीस साल में साहित्य अपने नये कलेवर के साथ सामने आ रहा है। साहित्य में नई–नई विधाएं आ रहीं है। बोलियां भाषा का स्वरूप प्राप्त कर रहीं है। साथ ही अनुशंधान भी तीव्र गति से हो रहे हैं। इतना ही नहीं गैर हिंदी प्रदेशों में हिंदी पर साहित्य रचा जा रहा है। विदेशों में हिंदी की पत्र–पत्रिकाएं नये कलेवर और परिचय के साथ सामने आ रहीं हैं। विश्व हिंदी सम्मेलन जैसे कार्यशालाएं हिंदी को विश्व भर से जोड़ रही है। एक ओर भाषा का व्यवसायीकरण हो रहा है, पारभाषिक शब्दावली की मांग बढ़ती जा रही है तो दूसरी तरफ आलोचना का विस्तार हो रहा है। इन सब के बीच भाषा और साहित्य के अन्तरसंबधों को बनाना तथा अनुदित साहित्य की पहचान हिंदी पाठको से कराना यह सब साहित्य का उत्तरदायित्व बढ़ता जा रहा है। देश का पढ़ा लिखा तपका प्रशासन और नौकरी को मूलाधार बना व्यवसायितकता की ओर जा रहा है। ऐसे में साहित्य का नित्य–नूतन, चिर पुरातन कलेवर कैसे रहे यह साहित्येतिहासकारों की भूमिका पर निर्भर है। हिंदी साहित्य में गियर्सन से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक जिस काल विभाजन की नीव पड़ी कमोवेश हम उसके ही चारों ओर घूम रहे हैं।

आज साहित्य के कालों के नामकरण के साथ अभिव्यक्ति का जो साधन भाषा है उस पर ही संकट मड़रा रहा है। एक ओर क्षेत्रीय बोलियों का आकर्षण बढ़ा है तो दूसरी ओर भाषा को आज भी गौरव नही प्राप्त हो पा रहा है। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में माध्यम अंग्रेजी होता जा रहा है। वहीं अंग्रेजी स्कूलों की गांव गांव तक जिस तरह से बाढ़ आ रही है वह हमारे सोच और संस्कारों को बदल रहा है। हमारी अनुभूति शहरी होती जा रही है। हमारे अन्दर का सांस्कृतिक परिवेश गायब होता जा रहा है। समाज में अर्थतंत्र और उसकी परिभाषा इस तरह दृढ़ हो रही है कि माता–पिता की सेवा भी अब अनुत्पादक कार्य होता जा रहा है। अर्थतंत्र का यह प्रभाव हमारे उन्मुक्त गगनचुंबी सोच को सीमित उत्पादकता की ओर बाँध रहा है।

ऐसे में साहित्य का चिंतन कहां और कितना रसोद्रेक कर पायेगा कहना कठिन है। जहां साहित्य प्रकृति के कार्य में विघ्न डालने से करुणार्द्र मन से प्रारंभ होता है वही आज प्रकृत के शोषण की होड़ में सम्पूर्ण धवलागिरि हिमच्छादन की जगह निर्वस्त्र होता जा रहा है।

साहित्य के अंतर्गत आज ज्ञान के अनेक साहित्य आ रहे हैं। इतिहास कार को यहां भी विवेकपूर्वक प्रमुख और गौण का भेद करते हुए वाङ्मय के दोनों रूपों को स्वीकार करके चलना चाहिए, अर्थात रस के साहित्य को प्रधान विषय बना कर उसके पोषक रूप में ज्ञान के साहित्य का आकलन करना चाहिए। इतिहास लेखन और कालविभाजन में हम दो स्तरों पर पहुचते हैं। पहले सामग्री का संकलन फिर प्राप्त सामग्री को गुण–धर्म और काल तथा अभिव्यक्ति की मुखरता के आधार पर अलग अलग करते हैं। इतिहास के कालविभाजन में पूर्व से स्थापित मान्यताओं को आधार बनाकर आगे बढ़ना पड़ता है। आचार्य रामचंद शुक्ल ने एक हजार कवियों की रचनाओं का परिचय अपने इतिहास ग्रंथ में रखा। इतिहास की लेखनी बृहत्तर से लघुतर की ओर बढ़ी है। हम निरन्तर घनत्व की ओर बढ़ते गये हैं।समग्र साहित्य हमारा भाषा, उपभाषा से बोलियों तक बढ़ा। हम आगे बोलियों के आधार पर रचना को साहित्य में स्थान देना प्रारम्भ किए। इससे जहां एक लाभ यह हुआ कि छोटे–छोटे रूपों में अनेक कवि, रचनाकारों का मूल्यांकन हुआ और उन्हें साहित्य में स्थान मिला वहीं समग्रता को एक जगह पाना कठिन होता जा रहा है।

आज का साहित्य कल का इतिहास होगा।और संभवतः वह इतिहास अधिक मौलिक और शु) होगा। किंतु इतिहास केवल कोरा इतिवृतात्मकता को लेकर चलेगा तो वह साहित्य का इतिहास नहीं होगा। रसोद्रेक हमारे साहित्य की पहली पहचान है। साहित्य तकनीकी केवल काल की विभाजन रेखा को तय कर सकता है। उसकी सरस रचनाओं, तीक्ष्ण आलोचनाओं को जो मन मस्तिष्क को झकझोर देती है, मशीनीकरण कर निष्प्राण न बना दें।

2. अध्ययन उद्देश्य

आज के हिंदू समाज में दो हजार वर्ष पूर्व से लेकर एक हजार तक जो ग्रंथ लिखे गये हिंदू समाज ने उन्हे बिना किसी किंतु परंतु के स्वीकार कर लिया। उसकी प्रामाणिकता पर किसी प्रकार का कभी कोई प्रश्न नही उठा। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियां, सूर्यादि पांचों सिद्धांत ग्रंथ, चरक और सुश्रुत की संहिताएं, यायादि छहोंदर्शन–सूत्र, प्रसिद्ध पुराण, रामायण और महाभारत के वर्तमान रूप, नाट्यशास्त्र, पातंजलि का महाभाष्य आदि कोई भी प्रामाणिक माना जाने वाला ग्रंथ क्यों न हो, उसकी रचना, संकलन या रूप प्राप्ति सन् ईसवी के दो–ढाई सौ वर्ष इधर उधर की है। उसके बाद की चार पांच शताब्दियां इन ग्रंथों के निर्दिष्ट आदर्श का बहुत प्रचार होता रहा और इसी प्रचार काल में संस्कृत साहित्य के अनमोल रत्नों का प्रादुर्भाव हुआ। अश्वघोष, कालिदास, भद्रबाहु वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त कुमारिल, शंकर दिङ्नाग, नागार्जुन आदि बड़े–बड़े आचार्यों ने इन शताब्दियों में उत्पन्न होकर भारतीय विचारधारा को अभिनव समृद्धि से समृद्ध किया।वेद अब भी आदर के साथ मान्य समझे जाते थे, पर साधारण जनता में उनकी महिमा नाम मात्र में ही प्रतिष्ठित रही।

अगर आज भारत वर्ष के उस मानचित्र पर देखे जिसकी साहित्यिक भाषा हिंदी मानी जाती है तो यह विशाल क्षेत्र एक ओर तो उत्तर भारत की सीमा को छुए हुए है जहां आगे फिर भिन्न जाति की भाषा और संस्कृति से संबंध होता है और दूसरी तरफ पूर्व की ओर भी भारतवर्ष की पूर्व सीमाओं को बनाने वाले प्रदेश की सीमाओं से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही संस्कृति, पर भिन्न प्रकृति के प्रदेशों से सटा हुआ है। भारतवर्ष का कोई ऐसा प्रांत या भाषा का क्षेत्र नहीं है जो इस प्रकार चौमुखी प्रकृति और संस्कृति से घिरा हो। इस घिराव के कारण उसे दो प्रकार की स्थितियों से गुजरना पड़ता है। एक तो संस्कृति और भाषा के अर्न्तसंबंध विकसित होते हैं और कभी विकास में सहायक होते हैं तो कभी संघर्ष की स्थिति भी बनती है।फिर भी वैदिक काल से लेकर आज तक यह क्षेत्र रक्षणशील और पवित्रता का पुजारी रहा है।

इसके सामने दोनों स्थितियां रही कि एक ओर अपने प्राचीनतम विचारों से चिपके रहना और दूसरी ओर नई–नई संस्कृतियों से संघर्ष और सामंजस्य बिठाना। हिंदी साहित्य के प्रादुर्भाव के साथ संस्कृति से निश्रित अपभ्रंश से निकली विभिन्न भाषाओं के साहित्य ने इसे अभिवृद्ध किया। और जैसे जैसे इसका भंडार बढ़ता गया इसे समेटने का भार भी बढ़ता गया। संस्कृत के अनमोल धरोहरों से अनुप्राणित होकर जनभाषाओं के माध्यम से निश्रित रसोद्रेक करने वाले साहित्य को सजाना हिंदी साहित्य के इतिहास कारो को चुनौती बना। उस पर भी रचना की प्रकृति को देख काल के आधार पर काल का विभाजन अपने आप में टेढ़ी खीर ही था। और आज भी बना हुआ है। क्योंकि जैसे जैसे शोध बढ़ रहे है यह सामग्री भी बढ़ रही है और पूर्व के निर्धारित मापदण्डों पर कुतूहल और नवीन उत्सुकता भी भर रही है। ऐसे में समग्रता को बनाए रखकर काल–विभाजन और नामकरण का मूल्यांकन करना तथा उसे कालानुकूल बनाकर भावी पीढ़ी को सौपना ही आज के साहित्यकार की महती भूमिका है।

1. जिस प्रकार वस्तु के समग्ररूप का दर्शन करने के लिए उसके अंगों का निरीक्षण करना पड़ता है, उसी प्रकार साहित्य के विभिन्न अंगों से साहित्य को पूर्ण रूप से समझा जा सकता है, अस्तु यह अध्ययन आवश्यक है। जैसे हमारी दृष्टि

NOTES

शरीर के अवयवों का अवलोकन करती है और उससे व्यक्तित्व का दर्शन करती है। साहित्य की छोटी से छोटी विधा और उसके महत साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करना फिर उसे तथ्य के साथ प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

2. इसी प्रकार साहित्य की अखंड परंपरा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य है, समय समय पर उपस्थित दिशा परिवर्तनों और रूप–परिवर्तनों के अनुसार विकासक्रम का अध्ययन करना वर्तमान शोध सामग्री से उनका मूल्यांकन करना तथा आलोचको, पाठकों के विचारों से उसके मूल उत्स को बचाकर बनाये रखना साहित्यिक श्रेष्ठता है।

3. काल विभाजन का सही आधार ज्ञात करना। कालविभाजन के आधार पर विचार करते समय जहां एक ओर परंपरा सामने आती है वहीं दूसरी ओर विश्व की वर्तमान साहित्यिक चेतना की गूढता ।इन दोनों के बीच से तथ्य में रस मिलाकर अभिधात्मक भाव से सामग्री को काल में पिरोना आज भी उतना ही कठिन है जितना आचार्य शुक्ल को रहा होगा। आचार्य जी ने एक रास्ता निकाला था।उन्होने रचनाकार को न लेकर रचनाओं को आधार बनाया। आज स्थिति विज्ञापन के युग की है। रचना छोटी हो जाती है और रचनाकार बड़ा। उसका कैनवास कभी कभी अपने व्यक्तित्व में कविता या साहित्य को छिपा लेता है। व्यक्ति का गुणगान कभी कभी एक या दो कविता, कहानी पर ही टिक कर रह जाता है। जब एक व्यक्ति के समग्र साहित्य का चिंतन कठिन हो जाता है तो समझना चाहिए कि समग्र साहित्य में से श्रेष्ठ को चुनकर व्यक्ति और वस्तु अर्थात सर्जना को स्थापित करना कितना कठिन कार्य है। फिर भी यह करणीय है, अनिवार्य भी।

4. काल–विभाजन के आधार को समझना एवं परीक्षण करना। आज से सौ वर्ष पहले सामग्री या तो राजमहलों में मिलती थी या फिर पुस्तकालयों में। सामान्य जनता को मात्र विनोद से ही मतलब था। प्रबुद्ध वर्ग ऐसी धरोहर से अपने को प्रकट करना चाहते थे। लोकमंगल के अभाव में ऐसी सामग्रिया लाना और उसे लोकमंगलकारी बनाना कितना दुष्कर कार्य रहा होगा। आज काल विभाजन का आधार वह नहीं हो सकता जो कल या वीरगाथा काल में था या भक्तिकाल में। आज दुनिया छोटी हो गई है। साहित्य परिक्रमा करता है। वह भ्रमणशील है। ऐसे में काव्य का विभाजन क्या हो यह समझना आवश्यक है। विभिन्न धर्मों का हस्तक्षेप, संविधान की मर्यादा, पड़ोसियों की भावनाओं का ख्याल, अपनी प्राचीनता का बोध, आनेवाली पीढ़ी का मार्गदर्शन और राष्ट्र और राष्ट्रीयता का बोध आदि सब ऐसे कारण है जो आज काल विभाजन को प्रभावित करते हैं। इनको समझना और इनके बीच से साहित्य के प्राणतत्व को बचाते हुए उसे काल की कड़ी में पिरोना अपेक्षित है।

5. जिस प्रकार काल के प्रवाह में अनेक धाराएं चलती रहती हैं उसी प्रकार साहित्य में भी अनेक प्रवृतियां होती हैं।और इन प्रवृतियों का आदि, अंत या उतार–चढ़ाव ही इतिहास का काल–विभाजन है, इस बात को समझना। आज विकलांगता के हाथ, पैर, आंखे भी हमें देख रही है, कान भी हमें सुन रहे हैं। ऐसे में काल के प्रवाह में उनकी अस्मिता को भी बचाना होगा। कभी एक सूरदास बिना तानपुरे के पूरे क्षेत्र में लोकमंगल का स्नेह सिंचित कर सका था

6. साहित्यिक प्रवृतियों और रीति–आदर्शों का साम्य–वैषम्य समझना ।

7. सामन प्रकृति और प्रवृतियों की रचनाओं का कालक्रम से, वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य तथा इतिहासकार की दृष्टि को समझना आदि।

3. हिन्दी साहित्य का वर्तमान इतिहास

हिंदी साहित्य के इतिहास की चर्चा अर्थात एक बार एक विहंगम अवलोकन उस पूरे परिदृश्य का जिसमें यह सारा साहित्य निर्माण हुआ। किंतु उसके साथ एक प्रश्न का समाधान भी होना आवश्यक है कि समाज परिवर्तन में साहित्य की भूमिका क्या? या दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य के इतिहास को देखने के लिए समाज को देखना क्यों आवश्यक है। साहित्य किसके लिये। तुलसी ने लिखा ''स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा''। और इस गाथा में पूरा लोक और उसकी संस्कृत प्रवाहित होती रही। वह भूत से लेकर वर्तमान तक ही नहीं तो भविष्य का पथदृष्टा बन कर सामने आई। आचार्य शुक्ल के अनुसार साहित्य का कार्य लोक मंगल होना चाहिए। हमारे यहां इस पर पहले से ही विचार होता रहा है। हमारे सुकृती कवि लेखक पहले से ही इसमें चर्चा करते आ रहे हैं। उनके लोक के भीतर समस्त इंद्रियगोचर जगत आता है। मनुष्य भी आता है। मनुष्य कुछ विशेष इसलिए भी कि उसके पास भाषा है।वह संवाद स्थापित कर सकता है। वास्तव में 'लोक'काफी बड़ा शब्द है किंतु आज पश्चिमी चिंतन का प्रभाव ऐसा बढ़ा कि समाज शब्द मनुष्य केन्द्रित बना और उसने लोक के अर्थ को सीमित करने का प्रयत्न किया। भारत के नाट्यशास्त्र में सामाजिक की भूमिका निश्चित है। सामाजिक वह सहृदय है जो अभिनीत प्रदार्थ के द्वारा नाट्यकार के अभिप्राय से अपना तादात्म्य स्थापित करता है। यहां सामाजिक का अर्थ जन साधारण नहीं है।अब एक परिभाषा कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इतना अभिभूत कर चुकी है कि सामाजिक शब्द का अर्थ ही बदल गया।

समाज और साहित्य के बीच एक अजीब रिश्ता है, इसका एक दूसरे के बिना कभी भी, किसी भी काल में काम नहीं चला। किंतु समाज साहित्य से संचालित नहीं होत और साहित्य भी समाज को जैसे के तैसा स्वीकार नहीं करता। वह उसे देखता है, जांचता है, प्रश्नचिंह लगता है और तब समाज की जड़ता को तोड़ता है, उसे गतिशील बनाता है। यह बात अलग है कि समाज साहित्यकार को कितना गंभीरता से लेता है। उसका एक कारण और भी है साहित्य चितवृति का प्रतिबिंब तो है किंतु चितवृति का नियामक और नियंत्रण करता नहीं है। साहित्य समाज के अवचेतन मन में रहता है।

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था थी उसने एक काल विशेष में समाज को गति भी दी किंतु कालांतर में जब उसमें दोष आने प्रारंभ हो गये तब उसे न केवल धर्म ने, दर्शन ने छोड़ बल्कि साहित्य ने उसे छोड़ा भी और उसके समाधान भी सुझाए। निरन्तर उस पर प्रहार करता रहा। साहित्य ने न केवल वर्ण व्यवस्था पर बात की बल्कि सभी उपेक्षित क्षेत्रों को भी छुआ। चाहे वह अस्पृश्यता हो या नारी का दमन या अशिक्षा या अवैज्ञानिकता।

इस प्रकार चितवृति तो सामने आती ही रही किंतु उसमें कहीं न कही देश की तत्कालीन परिस्थित उसको प्रभावित करती रही। आज की तरह राजाओं, जागीरदारों का भी क्षेत्र कुछ को छोड़कर कोई देश व्यापी नहीं था। यहां जो कुछ भी रचा जा रहा था वह अपनी सांस्कृतिक विरासत और परंपरा का ही प्रस्फुटन हो रहा था। संत समाज अवश्य देश व्यापी भ्रमण करता रहता था। उनमें कुछ ऐसे भी थे जो समाज से जुड़े थे तो कुछ ऐसे थे जो निरंतर ब्रह्म में लीन होकर समाज और आत्मतत्व का चिंतन कर रहे थे। भारतीय इतिहास पहली शती से ही विदेशियों से प्रभावित होने लगा था।यहां नाना वेशों से नाना उद्देश्य से लोग आ रहे थे। सातवी शती से लेकर उन्नीसवीं शती तक यह क्रम किसी न किसी रूप में निरंतर रहा। दूसरी बात यह हुई की भक्तिकाल के बाद संचार और बाह्य संपर्क ज्यादा बढ़ा।इसका भी प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा। अगर सातवी शती से लेकर वर्तमान परिदृश्य तक एक नजर डाली जाय तो हमारे समाने सारी परिस्थितियां, परिवेश सामने आते हैं।

संस्कृत–साहित्य

सन् 1880 में एलफिंस्टन नामक यूरोपियन पंडित ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य में जितने ग्रंथ विद्यमान हैं, उनकी संख्या ग्रीक–लेटिन में लिखे हुए ग्रंथों की संख्या से कही अधिक है। मगर उस समय तक संस्कृत के बहुत कम ग्रंथ पाए गये थे।इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि सन्1830 में फ्रेडरिक जैसे साहित्यन्वेषी कोकेवल साढ़े तीन सौ संस्कृत ग्रंथों का पता था और सन् 1852 में बेवर ने अपने संस्कृत–साहित्य के इतिहास में जिन ग्रंथे की चर्चा की थी, उन सब की संख्या 500 के ही आस–पास थी। बाद में बेवर की संगृहीत पुस्तकों की संख्या 1300 हो गई। यदि 1840 ई में ही एलफिंस्टन की बात ठीक थी तो आज तो कहना ही क्या है। सन् 1891 ई में बियोडोर आफ्रेख्ट ने 'कैटलागस केटलागारम' नाम की सूची तैयार की। इससमें उस समय तक के पाए गए समस्त संस्कृत ग्रंथों के नाम हैं। इसमें वर्णित ग्रंथों की संख्या 32 हजार के आस–पास थी और सन्1916 ई. में महामहोपाध्याय पं. हरप्रसादशास्त्री ने जिन्हे नेपा से बहुत –सी अज्ञात पुस्तकों को प्रकाश में लाने का श्रेय है की सख्या 40 हजार के आस–पास थी। आज संख्या इससे भी ज्यादा है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत –यात्रा ने इस संख्या को और भी अधिक बढ़ा दिया। इसके अन्तर्गत वैदिकसाहित्य (1000 ई.पू.तक), वेदांग–साहित्य (1000 ई.पू. से 400ई. तक), पुराण–साहित्य (ई.पू.600–400 ई.तक), दर्शन (200ई.800ई तक), संस्कृत बौद्ध साहित्य (200 ई.से 800ई. तक), संकीर्ण काव्य, धर्म और दर्शन की टीकाएं (800 ई.से 1400ई. तक), प्राप्त होती हैं।

हिंदी सहित्य के विकास क्रम में यदि हम संस्कृत साहित्य पर प्रकाश डालें तो देखेंगे कि सन् ईसवी के बाद का संस्कृत–साहित्य उत्तरोतर पंडितों की चीज बनता गया। इस साहित्य में लोक–जीवन से हटते हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसार का आभास मिलता है। महाभारत या रामायण जिस प्रकार लोक जीवन के प्रत्यक्ष भाव से जड़ित थे, उत्तरकालीन काव्य–ग्रंथ वैसे नहीं रहे। ज्ञान जो किसी समय प्रत्यक्ष साधना और तन्मय जीवन से उपलब्ध हुआ था, उत्तरकालीन टीकाकारों और ग्रंथकारों को बहस की चीज रह गया। असल में जो कुछ लिखा गया उसमें बुद्धि और प्रतिभा का तो काफी विकास हुआ परंतु यह निश्चित रूप से विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीन ज्ञान से निम्न कोटि का है। इसी मनोवृति का परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्रस्थान त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रम्हसूत्र, उपनिषद और गीता का सहारा लेना पड़ा। यह एक व्यापक भाव फैला हुआ सा जान पड़ता है कि बिना इनका सहारा लिए हुए कोई मतवाद टिक ही नहीं सकता।ईसा की पहली शहस्त्राब्दी में ही इस मनोभावना ने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोतर बद्धमूल होता गया। यहां स्मरण रखना अप्रसांगिक नहीं होगा कि यह चिंता परतंत्र मुसलमानी धर्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था। और परिवर्ती हिंदी–साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी बिल्कुल अनुचित है।असल में वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिंता में इस चिंता पारतंथ्य को जन्म दिया।

NOTES

हिंदी साहित्य का प्रारंभ चाहे अपभ्रंश साहित्य से माना जाय अथवा उत्तरकालीन देशी भाषाओं के अभ्युदय काल से, इतना स्पष्ट है क तत्कालीन समाज में संस्कृत भाषा एवं उसका साहित्य जन सामान्य की रुचि से दूर हो चुका था। और साहित्य जनभाषाओं की मधुरता स्वीकार करने लगी थी।

हिंदी साहित्य और अपभ्रंश

"हिंदी साहित्य के जन्म के बहुत पहले अपभ्रंश या लोकभाषा में कविता होने लगी थी। परंतु कई लोग इस बात में संदेह ही प्रकट करते हैं कि हिंदुओं के राजत्व–काल में उसे कोई प्रोत्साहन भी मिलता था। ऐसे लोगों का भ्रम बहुत ही निराधार युक्तियों पर अवलंबित है, जिसका निरास बहुत कठिन नहीं है। परंतु उक्त कार्य करने के पूर्व इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक है कि अपभ्रंश है क्य वस्तु। असल में बहुत–से लोगों में अपभ्रंश भाषा के विषय में बहुत–सी भ्रांत धारणाएं हैं। मैं अगर इस बात को ठीक–ठीक अपने रास्ते समझाने का करूं तो मुझे फिर कुछ पहले से ही आरंभ करना पड़ेगा।

प्राकृत के सर्वाधिक प्राचीन व्याकरण में चार प्रकार की प्राकृतों की चर्चा है: प्राकृत शौरसेनी, मागधी और पैशाची। प्राकृत एक प्रकार की स्टैण्डर्ड प्राकृत है। परंतु शौरसेनी को 'शेषंमहाराष्ट्रीवत' अर्थात् महाराष्ट्री के समान चाहिए। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राकृत के पहले रूप को महाराष्ट्री कह सकते हैं। मागधी मगध और बंगाल की प्राचीन भाषा का रूप है। पैशाची कहां की भाषा थी इस पर नाना प्रकार की अटकले लगाए गए हैं। प्राचीन ग्रंथों में कभी यह दर्दिस्तान की, कभी विंध्याचल की पहाड़ियों की, कभी सुदूर दक्षिण की भाषा मानी जाती रही है।जान पड़ता है उस समय की आर्येतर जातियों की बोली जाने वाली भाषा है। वं उसेा शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते रहे होगें और अपने नादाभ्यास के अनुकूल विकृत करके बोलते होंगे। रह गई शौरसेनी और महाराष्ट्री। वस्तुत: प्राकृत वैयाकरणों ने इनमें समानता ही बहुत देखी है, असमानता कम। जहां तक शौरसेनी का संबंध है, यह निश्चित है कि वह पश्चिमी हिंदी का पूर्वरूप है(पर महाराष्ट्री शब्द भ्रमात्मक है। हार्नले ने एकबार इसीलिए कहा था कि "शौरसेनी और महाराष्ट्री दो पृथक भाषाएं नहीं हैं बल्कि एक ही भाषा की दो शैलियां हैं, एक का प्रयोग पद्य में होता था और दूसरे का गद्य में।" इसी प्रकार वररूचि ने दो ही भाषाओं की चर्चा की है। शौरसेनीद्धअर्थात पश्चिमी हिंदी की पूर्ववर्ती भाषाद्ध और मागधी अर्थात बिहारी, बंगाली, उड़िया आदि की पूर्ववर्ती भाषा। पैशाची कोई स्वतंत्र भाषा नहीं, बल्कि आर्य भाषा का आर्येतर–भाषित विकृत रूप है(बहुत –कुछ वैसी ही जैसी 'शांति–निकेतन(में कामकरनेवाले संथालों की बंगला।"–हजारी प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी आगे कहते हैं–"जहां तक हिंदी का संबंध है, उसमें इन दोनों जातियों की भाषाओं को स्थान मिला है। असल में शौरसेनी और मागधी को बोलने वाले आर्यो के रहन–सहन और स्वभाव भी बहुत–कुछ भिन्न हैं। यह ध्यान देने की बात है कि भारतवर्ष के साहित्यों में हिंदी साहित्य ही ऐसा है, जिसमें इन दो भिन्न श्रेणी संस्कार वाले आर्यों ने समानभाव से काव्यादि रचना की।यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि प्राकृत में लिखे गए काव्यों के बाद ही अपभ्रंश भषा में काव्य लिखे गए, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृत नाम की कोई भाषा पहले बोली जाती थी और अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है जो नाना काल और नाना स्थान में नाना रूपों में बोली जाती थी। भाषा–शास्त्रियों ने लक्ष्य किया है कि अपभ्रंश नामक उत्तर–कालीन काव्य–भाषा में ऐसे बहुत–से–प्रयोग पाए जाते है, जो वास्तव में वररुचि के महाराष्ट्री और शौरसेनी के प्रयोगों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं।" –हजारी प्रसाद द्विवेदी

सन् 1877 ई में सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन पं. पिशेल ने जर्मनी के 'हाल' नगर से हेमचंदाचार्य के व्याकरण का बहुत अच्छा सुसंपादित संस्करण प्रकाशित किया था। आज भी यह ग्रंथ भाषाशास्त्रियों के लिए उतना ही महत्वपूर्ण बना हुआ है जितना कभी था। हेमचंद ने अपने व्याकरण के अंत में अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया है। और उदाहरण बताने के लिए ऐसे पूरे दोहे उ्त कए हैं जिनमें वे पद आए हैं। भामह और दण्डी सप्तम शताब्दि के समय में अपभ्रंश का साहित्य वर्तमान था। बाद के रुद्रट, राजशेखर, भोज आदि अलंकारिकों ने भी अपभ्रंश की चर्चा की है।

सातवीं से ग्यारहवी शती

सामान्यत: घटनाक्रम के अनुसार अपने इतिहास के दो काल–खण्ड हो सकते हैं, वे साधारणत ईसवी सन् से के सातसौवें वर्ष तक का प्राचीन भाग और सातसौवें वर्ष से आज तक की घटनाओं का आधुनिक भाग। चूंकि साहित्य का प्रादुर्भाव भी सातवीं शती से ही होता है अत: यहां सातवीं शती और उसके बाद का भारतीय इतिहास और उसका साहित्य के इतिहास पर प्रभाव या साहित्य पर प्रभाव को मद्देनजर रखते हुए विचार करना समीचीन होगा।

सन् ईसवी की सातवीं शताब्दि में युक्तप्रांत, बिहार, बंगाल, आसाम और नेपाल में बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनों की बात है, जब इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद का जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रभावशील होने का प्रमाण चीन

यात्री हुएंत्सांग के यात्रा-विवरण में मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित था। क्योंकि उत्तरी बौद्ध धर्म यदि हीनयानीय शाखा का भी था तो भी महायान शाखा के प्रभाव से अछूता नहीं था। बौद्ध धर्म यद्यपि प्रकारांतर से हिंदू धर्म का ही एक रूप था किंतु दुर्भाग्य से इसमें हिंदुओं और इनके बीच कुछ खींचतान रही। जिसका परिणाम हम तब देखते हैं जब ये वैदिक हिंदुओं के राज्य पर परधर्मीय एवं परकीय मुसलमान कहलाने वाले द्धतात्कालीनऋ लोगों का आक्रमण देखकर इन भारतीय बौद्धों को अतीव आनंद हुआ। और उसका कारण था कि उन्हें लगा कि जिस प्रकार पहले यवनों के द्धग्रीक लोगों केऋ मिनैंडर प्रभृति परकीय राजाओं अथवा परकीय कुषाणों के राजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर भारत में बौद्ध राज्य की स्थापना की थी उसी प्रकार ये नवीन परधर्मीय मुसलमान भी ऐसा करेंगें। अरबी मुसलमानों के उस सेनापति ने आक्रमण के पहले झोर्के में जैसे ही सिंध में महत्वपूर्ण देवल नामक सिंधुद्वार (बंदरगाह) को दाहिर राजा के हाथ से छीनकर जीता वैसे ही वहां स्थित बौद्ध नेताओं ने आगे बढ़कर उस परकीय सेनापति का स्वागत किया और कहा कि "दाहिर के समान वैदिकधर्मीय राजा और उनके लोगों से हमारा कोई संबंध नहीं है। हमारा और उनका धर्म अलग-अलग है। हमारे गुरु ने अहिंसा व्रत की पक्की दीक्षा दी है, हम शस्त्र धारण कर राज्यों से संघष में हिस्सा नहीं लेगें। जो विजयी होकर राजा बनेगा चाहे वह कोई भी हो-ऐहिक व्यवहार में हम उसकी ही आज्ञा मानते हैं। अब आप विजयी हुए हैं तो आप ही हमारे राजा हैं इसलिए हम लोग दाहिर की सशस्त्र सेना में सामिल हो जावेगें अथवा उससे मिल जावेगें आप ऐसी शंका न करें। आप लोग हम बौद्धों को किसी प्रकार का कष्ट न दें।" शरणागत सूचक इस बिनती पर राजनीति -कुशल मुहम्मद बिन कासिम ने उक्त समय तक के लिए उन्हें अभयदान दे दिया।

देवल के बन्दरगाह पर मुसलमानें के अधिकार की सूचना पाते ही दाहिर अपनी सशस्त्र सेनाओं के साथ उनका सामना करने के लिए समरांगण में आ डटा। मुहम्मद बिन कासिम भी देवल के आसपास की सिंध की भूमि पर अपना अधिकार करते हुए आगे की ओर बढ़ चला।अरबों के इस आक्रमण का वृतांत लिखनेवाले मुसलमान इतिहासकारें ने लिखा है कि 'सिन्ध। प्रांत पर विजय प्राप्त करके आगे बढ़ती हुई कासिम की सेना को उस प्रदेश के दुर्गम मार्गों की जानकारी देने, सेना को स्थान-स्थान पर रसद पहुंचाने और दाहिर की सेना के सभी आवश्यक रहस्य बताने में सिंध के बौद्धों और उनके भिक्षओं ने सभी प्रकार की संभव सहायता दी। कुछ वैदिकों ने भी देशद्रोह किया, परंतु वैयक्तिक और अपवादस्वरूप में ही।" अब इस तथ्य को मुसलमान इतिहास कारों की साजिस कहा जाय या वस्तुस्थिति यह शोध का विषय है किंतु वर्तमान में उपलब्ध सत्य यही है।

संग्राम में राजा दाहिर की मृत्यु होती है किंतु यह प्रसंग बड़ा ही रोचक और तत्कालीन परिस्थिति का परिचायक है, अतः यहां उल्लेख करना भावी इतिहासकारों और शोधार्थियों, विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। ब्रह्मणाबाद नामक स्थान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। हिंदुओं ने जमकर सामना किया। उस समय यद्यपि मुसलमानों के पास तोपें नहीं थीं।तथापि एक प्रकार का ऐसा दूरमारक अस्त्र था जो हिंदुओं के पास नहीं था, इस कारण हिंदुओं का बल म पड़ने लगा। दाहिर की सेना में कुछ अरबी मुसलमान सैनिक भी थे। इस युद्ध में उनकी भी कुछ टुकड़ियां थीं।कासिम की सेना से दाहिर की सेना का सामना होते ही उन किराये के अरबी टट्टूओं ने दाहिर को स्पष्ट रूप से यह संदेश भेजदिया कि "सेनापति कासिम अरबी मुसलमान है।हम भी मुसलमान हैं। यह धर्मयुद्ध है।इसलिए तुम जैसे काफिर की ओर से हम कासिम के विरूद्ध युद्ध नहीं करेंगे।" ऐसा कह उन्होंने दाहिर की सेना पर ही युद्ध बोल दिया। अंत में लड़ते-लड़ते वह वीर गति को प्राप्त हो गया।

राजा दाहिर के वीरगति पाने की सूचना मिलते ही उसकी तेजस्विनी रानी ने सैकड़ों हिंदू वीरांगनाओं के साथ अग्नि की प्रचण्ड धधकती हुई चिताओं में कूदकर जौहर का वरण किया।फिर भी इस भीषण कोलाहल में राजा दाहिर की दो पुत्रियां-सूर्यादेवी और परिमला देवी मुसलमानों के हाथ में पड़ ही गई। दाहिर की दोनों कन्याओं और सैकड़ों हिंदू नारियों जो उनके हाथ लगी को दासी बनाकर ले गये।हिंदुओं के धन-संपत्ति की लूटमार की।

इस राष्ट्रीय संकट में भी बौद्ध भ्रमित रहे और उन्होंने विजयी कासिम की सेना का स्वागत किया। किंतु अंतिम युद्ध जीतते ही मुसलमान तूफान की तरह जब सिंध में प्रवेश किये तब उन्होंने जिस तरह हिंदुओं का कत्लआम किया उसी प्रकार बौद्धों की भी कत्ल किया। मुसलमानों में प्रचलित शब्द 'बुतपरस्त' मूलतः बौद्धों के संस्कृत शब्द 'बुद्धप्रस्थ' का अपभ्रंश है। हिंदुस्थान में घुसते समय मुसलमानों को बैक्ट्रिया, पार्थिया आदि प्रांतो में बौद्ध-विहारों के प्रस्थों में ही अधिकतर मूर्तियां दिखाई दी। इसी प्रकार वे मूर्तिपूजकों की बुतपरस्त अर्थात बुद्धप्रस्थ कहने लगे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका में लिखते है कि "सातवीं शताब्दी के बाद उस धर्म का क्या हुआ, इसका ठीक विवरण नहीं मालूम।" अतः इस पर भी यहां प्रकाश डालना आवश्यक है। बौद्धों का बल पूर्वक नाश किये जाने की कल्पना भारतीय इतिहास कारों की रही है। किंतु कालान्तर में वे स्वयं लिखते हैं-'बौद्धों के नाश की उनकी

कल्पना मिथ्या सिद्ध हुई है।'' बहुत समय पूर्व विशेषकर पाश्चिमात्य इतिहासकारों का यह पूर्वाग्रह बन गया था कि कभी न कभी अथवा समय-समय पर वैदिक धर्मावलंबी राजसत्ताओं द्वारा बौद्धों को तलवार के बल पर उच्छेद कर निर्मूलन किया गया होगा अथवा उन पर वैदिक धर्म बल पूर्वक लादा गया होगा। किंतु यह सत्य नहीं है। आज भी अधिकांश इतिहासकारों, प्रचारकों और सामान्य लोगों के मन में यह भ्रामक धारणा व्याप्त है कि भारतीय बौद्ध अस्पृश्ता और छुआछूत को नहीं मानते थे। बौद्धधर्म एवं बौद्धों के राज्यकाल में किसी को अछूत नहीं माना जाता था। किंतु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। इतिहासकार लिखते है कि ''जिन जातियों ने बौद्धधर्म के अनुसार अहिंसा धर्म का पालन नहीं किया और जिन्होंने अपने हिंसात्मक धंधों को नहीं त्यागा उन चांडाल आदि जातियों को इस अपराध के लिए नगर से बाहर निकाल दिया जाता है। उन्हे गांव से दूर कोदियों की तरह निवास करना पड़ता है। यदि कभी बाजार के दिन अथवा किसी अन्य कार्य के लिए उन्हे आने की अनुमति मिलती है तो अन्य ग्रामीणों एवं नागरिकों को उनकी छूत न लग जाय ? इसलिए उन निर्वासित अछूतों को अपने हाथ में घुघुरू बधी एक लकड़ी लेकर अथवा टिमकी बांध कर उसे बजाते हुए जाने की सक्त आज्ञा है, जिससे उनकी आवाज सुनकर अन्यान्य पथिक सावधान हो जाय और उनकी छूत से बचे रहें।''

अत: बौद्धों का हिंदुस्तान से लोप होना प्रतिक्रिया नहीं उनके स्वयं के कर्तित्व हैं जिस ईसवी सन् 700 के कालखण्ड के विषय में हम यह लिख रहे हैं अर्थात मुसलमानों को भारत की सीमा में सिंधु की ओर कदम रखने के पूर्व भारत में चारों ओर बौद्धों की सख्या निरंतर कम होती जा रही। बौद्धमत निरंतर विनाश की ओर बढ़ता जा रहा था। बौद्ध तत्वाज्ञान और बौद्ध धर्म धुरंधरों ने जो सफल खण्डन किया वही केवल भारत से बौद्धों के समूल नाश का कारण नहीं था। अपितु अनेक राजकीय और सामाजिक घटनाएं भी उनके विनाश का कारण बनी। बौद्धों के इस राष्ट्रद्रोही प्रवृति के कारण राष्ट्राभिमानी एवं जागरूक जनता उनको उखाड़ फेकने के लिए सन्न) हो गई। भारतीय राष्ट्रभक्त जनता की बौद्धों के संबंध में ऐसी निश्चित धारणा बन गई थी कि ''स्वाभाविक राष्ट्रद्रोह की प्रवृति वालों का संघ ही बौद्ध संघ है।'' अत: समस्त भारत में बौद्धों को राजाश्रय मिलना दुष्कर हो गया। साथ ही साथ ई सात सौ के काल में कम से कम उत्तर भारत में वैदिक धर्म के कट्टर उद्धारकर्ता एवं अभिमानी राजपूतों को राज्य उत्कर्ष पा रहे थे। जिससे बौद्ध संघ एवं बौद्ध संप्रदाय संपूर्ण भारत में अनाथ और बहिस्कृत एवं पंगु हो गया। आशोक और श्रीहर्ष के शासन के समान नगण्य समय के लिए बौद्धों के हाथों में राज्यसत्ता आई उसमें उन्होंने राजसत्ता के डर और दबाव से वैदिक जनात पर बौद्ध धर्म लादा था। तत्कालीन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अशोक के अनुसार ही श्रीहर्ष ने मांसभक्षण और किसी प्राणी की हत्या करने के लिए प्राण दंड का आदेश जारी किया।

(क) बौद्ध मत का प्रभाव—धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर बौद्ध धर्म का अमिट प्रभाव पड़ा। आठवीं शताब्दी में बंगाल में पाल-राज्य कायम हुआ। यही वंश भारतवर्ष में बौद्धधर्म का अंतिम शरणदाता रहा। यहां आकर और नेपाल तथा तिब्बत में जाकर बौद्ध धर्म का संबंध तंत्रवाद से और भी अधिक बढ़ गया। जिन दिनों हिंदी साहित्य का जन्म हो रहा था, उन दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में बड़े-बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे, जो अपने मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण की विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव छोड़ रहे थे।उड़ीसा का सिद्धमा संप्रदाय, बंगाल के रमाई पंडित का शून्यपुराण, वीरभूमि में पाईजानेवाली धर्मपूजा आदि बातें आज भी इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के भग्नावशेष हैं।

महिमा संप्रदाय की कहानी बड़ी मनोरंजक है।सन्।857 ई. में इस संप्रदाय के एक अंध मनुष्य को, जिसका नाम 'भीमभोई' था, बुद्ध ने स्वप्न दिया कि वह उनके धर्म का प्रचार करे। इस कार्य के पुरस्कार-स्वरूप बुद्धदेव ने भीम भोई की आंखे पहले ही ठीक कर दी। देखते देखते हजारों के शिष्य बन गये। और इन सबों ने जगन्नाथ के मंदिर में आक्रमण कर दिया। किंतु तत्कालीन उड़िसा के राजा ने भीमा भोई को दबा दिया और तब से उसके शिष्य आज भी किसी न किसी रूप में अपने गुरु के विचार को जिंदा किये हैं।

''इन सब बातों से यह अनुमान आसानी से किया जा सकता है कि हिंदी साहित्य के जन्म-काल के समय बौद्ध धर्म एकदम नष्ट तो हो ही नहीं गया था, जीवित जोश के साथ वर्तमान भी था। जन साधारण के साथ उसका योग तो था ही। मगध और बगाल में मुसलमानी आक्रमण में बौद्ध और हिंदू मंदिर समान भाव से आक्रांत हुए।मंदिरों, मठों और विहारें को समान भाव से ध्वंस किया गया। फिर भी पौराणिकधर्म बच गया। बौद्ध नहीं बच सका क्योंकि पहले का संबंध उन दिनों समाज से था और दूसरे का केवल विहारों से।''– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

नवीं और दसवीं शताब्दीयों में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह संप्रदाय काल-क्रम से हिंदी-भाषी जन समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था।कबीरदास, सूरदास, और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा।

NOTES

ग्यारहवीं शती तक हिंदी अपभ्रंश के प्रभाव से प्रायः मुक्त हो चुकी थी। उस समय से लेकर चौदहवीं शती के मध्य तक हिंदी भू-भाग के सांस्कृतिक इतिहास का प्रवाह दो परस्पर विरोधी-सामंतीय और धार्मिक काव्य धाराओं को लेकर एक नयी भाषा की अनगढ़ भूमि पर बहता रहा। इसके बाद भक्ति का व्यापक आंदोलन संपूर्ण देश में प्रारंभ हो गया और हिंदी भाषी प्रदेश में नयी भाषा-हिंदी के विविध रूपों के माध्यम से उसकी प्रचुर अभिव्यक्ति होने लगी। यह निश्चय ही एक नये युग का उदय था, जिससे सांस्कृतिक चेतना और उसके फलस्वरूप साहित्यिक चेतना में एक नया मोड़ आया।

"अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि यहाँ से यानी चौदहवीं शती के मध्य से, साहित्य के इतिहास का दूसरा युग आरंभ होता है।इस युग के विषय में दो मत हैं एक के अनुसार संपूर्ण मध्यकाल उन्नीसवीं शती के मध्य तक चलता है और दूसरे के अनुसार इसके दो खंड हैं।एक, चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक और दूसरी, सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक, इनमें दूसरा मत ही अधिक मान्य है।" – हजारी प्रसाद द्विवेदी

बौद्ध तत्ववाद जो निश्चित ही बौद्ध आचार्यों की चिंता का देन था मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद चिंह छोड़ गया। जिसे संत साहित्य नाम दिया गया। शास्त्र सापेक्ष भाव धारा के भक्तों के अवतारवाद को जो रूप है उस पर महायान संप्रदाय का विशेष प्रभाव है। आज शोध की दुनियां बदल गई है, ईसाईधर्म में जो भक्तिवाद है, वहीं महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है ।क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व एशिया की सीमा में सिद्ध हो चुका है। और कुछ पण्डित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आए थे और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए हैं। लेकिन ये अवांतर बातें हैं।

आचार्य द्विवेदी कहते हैं –''मैं जो कहना चाहता हूँ कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था। और उसका निश्चित चिंह हम हिंदी साहित्य में पाते हैं।इतने विशाल लोकधर्म का थोड़ा पता भी यदि हिंदी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।''

ग्यारवीं शताब्दी में इन ग्रंथों भाष्यों और उनकी टीकाओं की परंपरा बहुत अधिक बढ़ गई थी। यह आगे चलकर और भी बढ़ती चली गई। टीका परंपरा की नई शाखा को हम निबंध साहित्य कहते हैं। ग्यारवीं शताब्दी के बाद निबंध ग्रंथों की परंपरा बढ़ने लगी।

'टीका' शब्द यहां बहुत व्यापक अर्थ में लिखा गया है। असल में सभी प्रकार की व्यख्याओं को टीका नहीं कहते।कम-से-कम शब्दों से जब अधिक-से-अधिक अर्थ प्रकट करने की कोशिश की जाती है तो इन छोटे-छोटे वाक्यों को सूत्र कहते हैं।जिसमें सूत्रों के सार मर्म बताए जाते हैं उसे वृति कहते हैं। सूत्र और वृति के परीक्षण को पद्यति कहते हैं।सूत्र और वृति में बताए गये सिद्धांतों पर आक्षेप करके फिर उनका समाधान करके उन सिद्धांतों के स्पष्टीकरण को भाष्य कहते हैं।भाष्य के बीच में जो विषय प्रकृत हो उसे त्यागकर और दूसरे उसे से संबंध किंतु अप्रकृत विषयों पर जो विचार किया जात है, उसे समीक्षा कहते हैं। इन सब में बताए गये विषयों का टीकन या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं।सिद्धांत मात्र का जिसमें प्रदर्शन हो उसे कारिका कहते हैं। और मूलग्रंथ के कथन के औचित्य विचार को वार्तिक कहते हैं। इनमें सूत्र, वार्तिक, और कारिका के सिवा बाकी जितने हैं उन सब को यहां पर एक साधारण शब्द टीका द्वारा प्रकट किया जाता है।'' –हजारी प्रसाद द्विवेदी

यह ठीक ही है कि संतकाव्य प्रेमाख्यानकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य,

नीतिकाव्य तथा वीरकाव्य की धाराएं पूरे मध्य-युग में प्रवाहित रहीं और रीतिकाव्य की रचना के पूर्वार्द्ध में भी प्रवाहित हो रही थी, परंतु मुगल वैभव का आरंभ होते-होते अर्थात सत्रहवी शती के मध्य तक आत-आते मुख्य प्रवृति बदल चुकी थी। भक्ति-भावना का प्राधान्य समाप्त हो चुका था और अलंकरण तथा श्रृंगार-विलास की प्रवृति प्रमुख बन गयी थी, यहां तक कि भक्तिकाव्य में भी भक्तिभावना के क्षीण पड़ जाने से विलास तथा अलंकार-रीति का समावेश हो गया था और इससे काव्य की चेतना तथा काव्य के रूप दोनों में स्पष्ट अंतर आ गया था ।

आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि उपयुक्त बातों से यदि कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यही हो सकता है कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्त्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना, अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार, न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता।उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिए जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था। प्रोफेसर हेवेल ने अपने हिस्ट्री आंफ आर्यन रूल' में लिखा है कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित

होते ही हिंदू राजकाज से अलग कर दिए गए। इसलिए दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिए एमकात्र आश्रय–स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ। यह गलत व्यख्या है।

NOTES

सन् 1857 या उन्नीसवीं शती का मध्य

शुक्ल जी अथवा उनके पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने मध्य–युग को दो कालखंडों में बांट दिया है और यही ठीक है। इसके बाद उन्नीसवीं शती के मध्म में भारत में एक बहुत बडी घटना घटी और वह थी सन् 1857 की क्रांति। राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागरण का यह आंदालोन वास्तव में मध्ययुग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का पहला उद्घोष था। भारतीय चेतना में व्याप्त मध्ययुगीन संस्कार सहसा विक्षुब्ध हो उठे, भाग्यवाद पर आश्रित अकर्मण्यता की भावना, जो हर प्रकार से परिवर्तन के प्रति सशंकित थी, नीदन परिस्थितियों के आघात से आंदोलित हो उटी और जनमानस में अपने राजनीतिक, सामाजिक स्वत्व को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी ।

आधुनिक काल के प्रारंभ के पूर्व तक साहित्य अथवा काव्य शब्द प्राय: कविता का ही पर्याय था। अन्य काव्य रूपों के अभाव में कविता का विवेचन ही काव्य–शास्त्र का एकमात्र कार्य था। गद्य के विकास के अभाव में वार्ता, वचनिका आदि गद्य में लिखे जानेपर भी उनका समावेश काव्य में नही होता था। संस्कृत आचार्यों ने गद्य और पद्य दोनों में काव्य का अस्तित्व स्वीकार किया किंतु हिंदी के आचार्यों ने पद्य में ही काव्य का दर्शन किया। अत: उनकी दृष्टि पद्यमात्र पर ही केन्दित रही हिंदी के अपने साहित्य को ध्यान में रखने के कारण एवं साहित्य शास्त्रीय विवे चन का प्रमुख चक्ष्य न होने के कारण तथाकथित रीतिकाल में साहित्य–शास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई–नई बातों की उद्भावना का अभाव है।अत: इन रीतिग्रंथों को कवि शिक्षा मात्र के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इन रीति ग्रंथों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्य ज्ञान कच्चा भी समझाना चाहिए।

इसके बाद ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई। खंडों मे विभक्त भारत एक संगठित राज्य बन कर विदेशी साम्राज्य का प्रमुख अंग बन गया। पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान तथा सभ्यता संस्कृति से भारतीय मानस का संपर्क और संघर्ष हुआ। जिसके फस्वरूप आधुनिक युग का जन्म हुआ। अत: आधुनिक युग की पूर्व सीमा सन् 1857 या उन्नीसवीं शतीका मध्य ठीक ही है। यह युग आज डेढ़ शताब्दी पार कर चुका है पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा इसमें परिवर्तन बड़ी तेजी से हुए हैं और आधुनिकता का रूप भी बदलता गया है ।अत: इसके पूरे कलेवर को एक ही वृत में समेट लेना उचित नहीं होगा।

हिंदी के अपने साहित्य को ध्यान में रखने केकारण एवं साहित्य शास्त्रीय विवेचन तथा नई–नई बातों की उद्भावना का

आधुनिक युग का आरंभ होने पर देश के राजनीतिक –सामाजिक जीवन और उसके प्रभावस्वरूप साहित्य में पुनर्जागरण की जो चेतना उत्पन्न हुई थी, वह प्राय: शताब्दी के अंत यानी 1900ई. तक चली। उस समय स्थिति में फिर कुछ परिवर्तन हुआ, राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट हुआ, देश को स्वराज्य चाहिए, यह भावना स्थिर हुई, सामाजिक, आर्थिक, और नैतिक स्थिति में सुधर की आवश्यकता पर बल दिय गया। यह आत्मनिरीक्षण और आत्मसुधार का समय था, जब देश में अपने घर को ठीक करने की भावना सर्वप्रमुख थी और उसका प्रतिफलन साहित्य में पै हो रहा था। किंतु दूसरी ओर ऐतिहासिक कारणों से, पश्चिम के संपर्क में आने के बाद एक अधूरा जागरण प्रारंभ हुआ, उस जागरण में एक अधूरी पहचान हुइ, हमने न संपूर्ण जीवन स्वीकारा न भक्तिकी परिशुद्धि स्वीकारी, खंडित ज्ञान से हमने कर्म को जोड़ा और उसे नाम दे दिया आधुनिकता।हमने राष्ट्रीयता की एक जातीय और भौगोलिक अवधारणा की, हम उसमें फंसकर हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई और पारसी रह गए।मनुष्य नहीं रहे। जागरण ठीक था किंतु उसकी दिशा सही नही थी। हमारे केन्द्र से मनुष्य हट गया था। ऐसे अधूरे नवजागरण से या तो दुःख बढ़े रहते हैं या फिर वस्तुएं अधूरी दिखती हैं।

आचार्य विद्यानिवास मिश्र जी कहते हैं –**"मैं अजमा चुका हूँ, कभी नजदीक साफ दिखता है, दूर नहीं दिखत(कभी दूर दिखता है, नजदीक नहीं दिखता।ठीक–ठीक देखने के लिए अपनी आंखें नपवानी पड़ती हैं, दृष्टि की अपेक्षा नपवानी पड़ती है। आधुनिक साहित्य में इसी अपेक्षा के कारण अपने आसपास के परिवेश के लिए बड़ी सघन आत्मीयता दिख रही है। साहित्य की जरूरत 'चंद तिनकों' के बिना नहीं पूरी होती, जिन्हें तोड़ते–तोड़ते दो मित्र घंटो तक बात करते रहते हैं, यह तिनका दुर्लभ हो गया है।"**

साहित्य में आदर्शवाद की नवीन चेतना

उक्त स्थिति में बीसवीं शती के दूसरे दशक के अंत यानी सन् 1918–19 तक चलती रही, तब राजनीतिक सामाजिक जीवन में गांधी तथा साहित्य में गांधी व रवींद्र दोनों के प्रभाव से एक मोड़ फिर आया और अंतर्मुखी आदर्शवाद की एक नवीन चेतना का उदय हुआ। यह चेतना भी चौथे दशक के अंत में, 1938–39 के आसपास गांधी के प्रभाव के साथ क्षीण हो गयी और

इसके स्थान पर एक अत्यंत भिन्न यथार्थवादी सामाजिक चेतना का आविर्भाव हुआ, जिसमें देश में बढ़ते हुए समाजवादी प्रभाव का गहरा रंग था। उस समय के साहित्यकार विचारों से प्रभावित होते रहे किंतु किसी ने अपने संपूर्ण साहित्य में उसको ढोया नहीं।यहां रमेश चंद्रशाह का एक पंत जी के बारे में कथन समझने के लिए पर्याप्त है–

"जिस तरह मार्क्सवाद से प्रभावित होने के बावजूद वे मार्क्सवादी नहीं हैं, उसी तरह अरविंद दर्शन से अत्यधिक प्रभावित होने के बावजूद उन्हें अरविंद वादी भी नहीं कहा जा सकता।"

प्रतिनिधि के रूप में पंत जी का स्वयं का कथन दृष्टव्य है–

"मै सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस तथा रामतीर्थ से प्रभावित था, पर मेरे मन ने उन्हें पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। मैं गांधी और मार्क्स से प्रभावित हुआ पर मेरे मन ने उन्हे भी पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। मैं श्री अरविंद के संपर्क में आया पर पूर्णतया उन्हें भी स्वीकार नही किया।"

तब से अब तक छह दशक और बीत चुके हैं : इस अवधि में भी नया लेखक कई बार सन् 1953, 60, 80 आदि में युग–परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, परंतु अत्यधिक सामीप्य के विषय में अभी कुछ निर्णय देना कठिन है।

4. विभिन्न काल विभाजन

काल के संबंध मे हमारा सामान्य ज्ञान इतना ही है कि काल समय को कहते हैं और काल माने 'मृत्यु' या जीवन का अंत।व्याकारण के विद्यार्थी काल को–भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में जानते है। संस्कृत साहित्य में लट्, लोट्, लिंड्, लड्, लिट्, लुड्, लृट्, आर्शीलिंड्, लृड् का प्रयोग होता है।ये दस काल भेद अंग्रेजी में मूड कहलाते है।

साहित्य मे काल विभाजन का अर्थ भी समय के साथ रचना को बाधना है।साहित्य में कालविभाजन का अर्थ होता है साहित्य के इतिहास को व्यवस्थित ढांचे में बांधना।यही यह बुनियादी योजना–सूत्र है जो इतिहास के कालविभाजन को एक आतरिक गठन, तर्कमूला अन्विति और लक्ष्यनिष्ठता प्रादन करता है। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने हिंदी साहित्य के प्रथम सस्करण में काल विभाजन की उपादेयता को रेखांकित करते हुए लिखा है, "शिक्षित जनकाकी जिन–जिन प्रवृतियों के अनुसार साहित्य के स्वरूप में जो परिवर्तन होते आये हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए काल–विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।" यह सत्य है कि शुक्ल जी जिस काल विभाजन तक पहुच सके है वह आकस्मिक नही था। वह एक विकास प्रक्रिया की परिणति थी। आचार्य शुक्ल के पूर्व डॉ ग्रियर्सन के 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आंफ नार्दन हिंदुस्तान' तथा मिश्रबंधुओं के मिश्रबंधु–विनोद में काल–विभाजन के प्रयत्न हो चुके थे।आचार्य शुक्ल अपने कालविभाजन में उक्त दोनां ग्रंथों से विशेष लाभान्वित हुए हैं।उन्होने पूव्रवर्ती वर्गीकरणों को ध्यान में रचाते हूए, काल–क्रम के साथ साहित्यिक प्रवृतियो को भी वर्गीकरण का आधार बनाया। काल और प्रवृति के उकत आधारों कोग्रहण करने केकारण ही उनहोंने विभिन्ना वर्गो के दुहरे नाम दिये है–

1. आदिकाल (वीरगाथाकाल सं.1050–1375)
2. पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल, सं.1375–1700)
3. उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल, सं. 1800–1900)
4. आधुनिककाल (सं. 1900–1984)

उपयुक्त वर्गीकरण की अनेक विशेषताएं हैं। इसमें शुक्ल जी ने प्रथमबार कालगत आधार के साथ प्रवृतिगत आधार को स्थान दिया।यह प्रवृतिगत वर्गीकरण ही आगे चलकर विशेष लोकप्रियता अर्जित कर सका। आचार्य शुक्ल ने कालगत आधार मिश्रबंधुओं से प्राप्त करते हुए उसे संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार प्रवृतिगत आधार की प्रेरणा डॉ ग्रियर्सन से मिली।डॉ ग्रियर्सन का 'पन्द्रहवी शती का धार्मिक उत्थान' ही आचार्य रामचन्द्रशुक्ल के इतिहास में "भक्तिकाल' का प्रेरक बना। डॉ ग्रियर्सन के 'चारण–काल'को आचार्य जी ने 'वीरगाथाकाल' नाम दिया।डॉ ग्रियर्सन का "रीतिकाव्य" शुक्ल जी का "रीतिकाल" हुआ। काल और प्रवृति के संयुक्त आधार ने शुक्ल जी के इतिहास को युगीन परिवेश और साहित्यिक प्रवृति की कारण–कार्यमूलक श्रृंखला में गूंथकर युक्तिसंगत, एवं विकासात्मक रूप प्रदान किया। इस वर्गीकरण की एक उल्लेखनीय विशेषता है सरलीकरण। डॉ ग्रियर्सन ने गयारह और मिश्रबंधुओं के आठ वर्ग यहां सरलता से चार वर्गो में समाहित कर लिये गये है।

आचार्य शुक्ल के काल–विभाजन की महत्ता इसी से सिद्ध होतीहै किअनेक इतिहासकारों ने जब जहां–तहां छिट–पुट परिवर्तन करने के प्रयास तो किये हैं, किंतु वे शुक्ल जी के मूल ढांचे को हिला पाने में असफल रहे हैं।डा.गणपतचंद्र गुप्त ने

अवश्य आचार्यशुक्ल के कालविभाजन के मूल ढांचे में गुणात्मक परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया, किंतु अति वैज्ञानिकता के दुराग्रह के कारण उनका वर्गीकरण लगभग दो दर्जन उपवर्गों के व्यूह में फंसकर रह गया।काल–गति ने निश्चय ही आचार्य शुक्ला के वर्गीकरण के सामने प्रश्नचिंह लगा दिया है। सन्।941 में मृत्यु हो जाने के कारण वे स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद के परिवेशगत परिवर्तन और साहित्यिक प्रवृतियों के बदलाव को अपने अध्ययन की परिधि में नहीं समेट सके।राजनीतिक और प्रवृत्यात्मक स्तर पर गुणात्मक परिवर्तन होने के कारण स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद केकाल–खण्ड को शुक्ल जी के स्वतंत्रता–प्राप्ति के पूर्व ''आधुनिक काल'' के अन्तर्गत नहीं समाहित किया जा सकता। इसे एक स्वतंत्रवर्ग के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता है।यहां शुक्ल जी के काल विभाजन के कतिपय वर्गों उपवर्गों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करना प्रासंगिक होगा। जिन रचनाओं के आधार पर शुक्ल जी ने वीरगाथा काल या आदिकाल की स्थापना की, उनमें से कुछ तो अस्तित्वहीन, कुछ अप्रामाणिक और कुछ परिवर्तित हो चुकी हैं।इस प्रकार रचनाओं की दृष्टि से उनका वीरगाथाकाल बिल्कुल आधार–शून्य हो चुका है।

कालविभाजन सामान्य दृष्टि

आचार्य रामचंदशुक्ल काल विभाजन पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं, जिस कालविभाग के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है, वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बनाया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी एक की रचना को लें वह परिमाणों में प्रथम के बराबर न होगी। यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। .... दूसरी बात है, ग्रंथों की प्रसिद्धि।आचार्य शुक्ल मानते हैं कि प्रसिद्धि भी किसी काल की लोकप्रवृति की प्रतिध्वनि है। एक ही काल की एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न–भिन्न प्रकार की परंपराएँ चली हुई पायी गयी हैं, वहाँ अलग–अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है।

काल–विभाजन और विभाजित कालों का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। साहित्य के काल विभजान के पूर्व परंपरा से प्राप्त आधार सामान्यत: इस प्रकार माने गये हैं–

1. ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार– :
   आदिकाल,
   मध्यकाल,
   संक्रांतिकाल,
   आधुनिक काल
2. शासक और उसके शासनकाल के अनुसार :
   एलिजाबेथ युग,
   विक्टोरिया युग,
   मराठाकाल
3. लोकनायक और उसके प्रभावकाल के अनुसार :
   चैतन्यकाल (बांग्ला),
   गांधीयुग (गुजराती),
4. साहित्य–नेता एवं उसके प्रभाव–परिधि के आधार पर :
   रवीद्रयुग
   भारतेंदुयुग ।
5. राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आंदोलन के आधार पर :
   भक्तिकाल
   पुनर्जागरणकाल
   सुधारकाल
   युद्धोत्तरकाल

6. साहित्यिक प्रवृति के नाम पर:

रोमानीयुग

रीतिकाल

छायावाद ।

NOTES

कालविभाजन की आवश्यकता क्यों

उक्त प्रकार के कालविभाजन की आवश्यकता क्या है? उत्तर है समग्र रूप को खण्ड-खण्ड करके देखना। जैसे हम मानव को या किसी भी प्राणी के वाह्य-अन्तरंग को एक नजर में नही देख सकते उसी प्रकार साहित्येतिहास के वाह्य अभ्यांतर पक्ष को देखने हेतु खण्ड कर देखना आवश्यक है किंतु शर्त इतनी की इस खण्ड परंपरा में संपूर्ण को देखने समझने की जिज्ञासा हो। इस प्रकार नामकरण के पीछे कुछ न कुछ तर्क अवश्य रहता है इसलिए इस प्रकार के खण्ड करके काल का विभाजन का अर्थ मात्र इतना ही होना चाहिए कि जो उसकी मूल साहित्य-चेतना को प्रतिबिंबित कर सके। शासक के नाम पर भी कालखड का नामकरण तभी मान्य हो सकता है या हुआ है जब उस शासक विशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में एलिजाबेथ और विक्टोरिया दोनों के राजनीतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एवं शासनतंत्र ने अपने युग-जीवन को प्रभावित करते हुए साहित्य की गतिविधि पर भी गहरा प्रभाव डाला था। चैतन्य और गांधी का अपने युग में प्रभाव रहा है। इसी तरह रवींद्रनाथ या भारतेन्दु व्यक्ति न होकर एक संस्था थें, युगनिर्माता थे, जिनके कृतित्व ने अपने-अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृतियों को प्रभावित किया था। उसके अनुसार नामकरण की सार्थकता स्वतःसिद्ध होती है। कहने का अभिप्राय मात्र इतना है कि साहित्य के इतिहास में नामकरण का मूल आधार है काल विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिफलन, जिसका माध्यम सामान्यतः उस युग की सर्व प्रमुख साहित्यिक प्रवृति ही हो सकती है। लेकिन इसमे भी एक सीमा का निर्धारण होना चाहिए। कालखंड में कोई एक प्रवृति समग्र साहित्य -चेतना का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकती है। जहां ऐसा हुआ वहां नामकरण पर प्रश्न चिंह लगता है। व्यक्ति के व्यकितत्व के आधार पर किया गया नामकरण फिर प्रवृति को प्रभावित करता है या ऐसा कहें कि वहां फिर प्रवृति प्रभावी नही रहती। इसी तरह प्रवृति का आधार भी कभी कभी आधा अधूरा पैमाना दिखता है। नाम ऐसा होना चाहिए जो युग की चेतना का सही ढंग से प्रतिफलन करता हो, यदि साहित्यिक नामकरण से भ्रांति उत्पन्न होती हो, तो अन्य उचित आधार ग्रहण करने में कोई आपति नही होनी चाहिए। नाम के लिए रूप का बलिदान नहीं करना चाहिए। रेने वेलक ने अपने निबंध में इस मिश्रित पद्धति की आलेचना की है:"फिर भी, प्रचलित नामों का यह मिश्रित आधर कुछ-न कुछ परेशानी अवश्य पैदा करता है जैसे 'सुधरवाद' चर्च इतिहास से आया, 'मानववाद', मुख्यतः प्राचीन मानविकी विधाओं के इतिहास से 'पुनर्जागरण' कला के इतिहास से 'प्रजाधिपत्य' और 'पुनर्स्थापन' का संबंध विशेष राजनीतिक घटनाओं के साथ है।

अठारहवीं शती पुराना संख्यावाचक पद है जिससे 'आगस्टन', नव्यशस्त्रवाद', पूर्वस्वच्छंदतावाद मुख्यतः साहित्यिक शब्द हैं, जबकि 'विक्टोरियायुग', 'एडवर्डयुग' और जार्जयुग नाम व पद राजाओं के शासनकाल से ग्रहण किये गये हैं। इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि नामावली राजनीति साहित्य और कला के शब्दों का गोरख धंधा मात्र है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से यह मंतव्य एक सीमा से आगे मान्य नही हो सकता। कम से कम व्यवहार में अभी तक, केवल साहित्यचेतना के आधार पर, काल-विभाजन तथा नामकरण के आधार की एकरूपता का निर्वाह संभव नहीं हुआ है औ उसको सायास सिद्ध कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेजी साहित्य के सभी कालखंडों के नाम ठीक हैं। नामकरण के लिए प्रमुख साहित्यिक प्रवृति का आधार ग्रहण करना अधिक संगत है। किंतु प्रत्येक स्थिति में किसी युग की साहित्यचेतना का द्योतन केवल साहित्यिक प्रवृति के द्वारा ही संभव है। यह मानना कम से कम व्यवहार में कठिन हो सकता है और है। इसलिए इस आधार को लचीला रखना होगा और यह मानकर चलना होगा कि कोई नाम पदार्थ के संपूर्ण व्यक्तित्व का वाचक नहीं हो सकता। सामान्यतः नाम संकेत मात्र होता है, विशेष परिस्थिति में प्रतीक हो सकता है, किंतु पूर्ण बिंब तो वह नहीं हो सकता। इतिहास में नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप में करना ही अधिक संगत है और जहां यह संभावना न हो, वहां संकेत मात्र से काम चल सकता है।

विवेचन का सारंश

1. काल-विभाजन साहित्यिक प्रवृतियों और रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर होना चाहिए।

2. युगों का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य-चेतना का आधर मानकर साहित्यिक प्रवृति के अनुसार करना चाहिए, किंतु जहां ऐसा नहीं हो सकता, वहां राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृति को आधार बनाया जा सकता है या फिर कभी-कभी विकल्प न

होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किंतु उसे सायास सिद्ध करने के लिए भ्रांतिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।

NOTES

3. युगों का सीमांकन मूल प्रवृतियों के आरंभ और अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहां साहित्य के मूल स्वर अथवा उसकी मूल चेतना में परिवर्तन उचित हो और नये स्वर एवं चेतना का उदय हो, वहां युग की पूर्व सीमा और जहां वह समाप्त होने लगे वहां उक्त सीमा माननी चाहिए। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में काल–विभाजन के लिए प्रायः चार पद्धतियों का अवलंब लिया गया है।

पहली पद्धति के अनुसार, संपूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगों अथवा कालखंडो में किया गया है यथा–

1. आदिकाल,
2. भक्तिकाल,
3. रीतिकाल,
4. आधुनिककाल।

आचार्य शुक्ल द्वारा और उनके अनुसरण पर नागरीप्रचारिणी सभा के इतिहास मे इसी को ग्रहण किया गया है। दूसरे क्रम में केवल तीन युगों की कल्पना ही विवके सम्मत है यथा–

1. आदिकाल,
2. मध्यकाल
3. आधुनिककाल

भारतीय हिंदी परिषद के इतिहास में इसे ही स्वीकार किया गया है।

डॉ गणपति चन्द गुप्त ने भी अपने वैज्ञानिक इतिहास में इसी का अनुमोदन किया है। इसके पीछे तर्क यह है कि मध्यकालीन साहित्य की चेतना प्रायः एक है। उन्नीसवीं शदी के मध्य में या उसके आगे पीछे कोई ऐसा परिवर्तन नही हुआ है कि जिसके आधार पर युग परिवर्तन की मान्यता सिद्ध हो।

संतकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य, रीतिकाव्य आदि की धाराएँ पूरे मध्यकाल में पांच शताब्दियों तक अखंड रूप से प्रवाहित होती रहीं, उनमें उतार–चढ़ाव अवश्य आये किन्तु मौलिक परिवर्तन नही हुआ हिंदी साहित्य के आचार्य रसज्ञ, प्रसिद्ध इतिहासकार का भी यही मानना रहा है।

तीसरी पद्धति साहित्य के विधा–क्रम की रही है। इसका आधार यह है कि समस्त साहित्यराशि का एकत्र अध्ययन साहित्यशास्त्र के अधिक अनुकूल है। इस प्रकार के अनेक इतिहास या खंड इतिहास में उपलब्ध हैं।

इसके अतिक्ति एक और ;जु पद्धति है, जो शुद्ध कालक्रम के अनुसार वस्तुगत विभाजन को ही अधिक यथार्थ मानती है। इसके प्रवक्ताओं का तर्क है कि किसी विचारधारा अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण का आरोपण करने से परिदृश्य विकृत हो जाता है और यथार्थ दर्शन में बाधा पड़ी है, अतः स्वाभाविक कालक्रम के अनुसार ही सामग्री का विभाजन करना समीचीन है। इस पद्धति का अवलंबन आरंभ में विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तु कुछेक इतिहास में ही आंशिक रूप से किय गया है।

इन सभी पद्धतियों में अपने गुण–दोष हैं, परंतु यहां भी समनवयात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। अतः साहित्य के विभाजन में भी ऐतिहासिक कालक्रम और साहित्य–विधा दोनों का आधर ग्रहण करना होगा। साहित्य के कथ्य अर्थात संवेद्य तत्व के विकास का निरूपण करने के लिए संपूर्ण युगों को आधार मान कर चलना होगा, और उसके रूप का विकास समझने के लिए अलग–अलग विधाओं को। इससे काल–विभाजन की समस्या का समाधान हो जाता है।

उक्त सम्पूण विवेचन के बाद एक बात जो ध्यान में आई है कि एक ओर जहाँ आचार्य शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास हमें महत्वपूर्ण तथ्य और दिशा देता है, जैसा कि नीचे उन्हे उद्धृत कर यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि इतिहास लेखन निरंतर कार्य है। उसी प्रकार डॉ नगेन्द्र का ग्रंथ अद्यतन तक अपने को पहुचाने का प्रयास है। इन दोनों ग्रंथों के आधार पर आगे कार्य किया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का मतः आचार्य शुक्ल कहते है 'आदिकाल के भीतर बजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिए करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण संतमत के प्रचार

के लिए किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य कोटि में नहीं आतीं और योगधरा काव्य या साहित्य की कोई नयी धरा नहीं मानी जा सकती।

'भक्तिकाल' के अंतर्गत स्वामी रामानंद और नामदेव पर विशेष रूप से विचार किया गया है (क्योंकि उनके संबंध में अनेक प्रकार की बातें प्रचलित हैं। 'रीतिकाल' के 'सामान्य परिचय' में हिंदी के अलंकार ग्रंथों की परंपरा के उद्गम और विकास को कुछ अधिक विस्तार के साथ दिखाया गया है। घनानंद आदि कुछ मुख्य-मुख्य कवियों का आलोचनात्मक परिचय भी विशेष रूप से मिलेगा।

आधुनिक काल के भीतर खड़ीबोली के गद्य का इतिहास, इधर जो कुछ सामग्री मिली है उसकी दृष्टि से, एक नये रूप में सामने लाया गया है। हिंदी के मार्ग जो-जो विलक्षण बाधाएँ पड़ी हैं, उनका भी सविस्तार उल्लेख है।

NOTES

विभिन्न विभाजन : एक दृश्य

(क) (1) आदिकाल (वीरगाथाकाल, संवत् 1050–1375)

(2) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375–1700)

(अ) निगुर्ण काव्यधारा

(ब) सगुण काव्य धारा

(स) निगुर्ण काव्यधारा

(1) ज्ञानमार्गी धारा (कबीर)

(2) प्रेममार्गी धारा (जायसी)

(ब) सगुण काव्य धारा

(1) रामकाव्यधरा (तुलसी)

(2) कञ्ज मणकाव्यधारा (सूर)

(3) उत्तर मध्यकाल द्धरीतिकाल, संवत् 1700–1900ऋ

(4) आधुनिककाल द्धगद्यकाल, संवत् 1900–1984ऋ

(ख) अन्य आधार पर काल विभाजन–

आदिकाल : सातवीं ाती के मध्य से चोदहवीं ाती के मध्य तक।

भक्तिकाल : चौदहवीं ाती के मध्य से सत्रहवीं ाती के मध्य तक।

रीतिकाल : सत्रहवीं ाती के मध्य से उन्नीसवीं ाती के मध्य तक।

आधुनिक काल : उन्नीसवीं ाती के मध्य से अब तक

1. पुनर्जागरणकाल द्धभारतेन्दुकालऋ 1857–1900
2. जागरण सुधारकाल द्धद्विवेदीकालऋ 1900–1938ई.
3. छायावादकाल 1918 से 1938 ई.
4. छायावादोतरकाल

(क) 1937–1953ई.

(ख) 1953से अब तक

डॉ रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास को इन सात प्रकरणों में विभक्त किया है:

(1) संधिकाल,

(2) चारणकाल,

(3) भक्तिकाल की अनुक्रम

(4) भक्तिकाल,

(5) प्रेमकाव्य

(6) रामकाव्य

(7) कृष्णकाव्य।

संक्षेप में हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन करने वाले प्रथम इतिहासकार डॉ.ग्रियर्सन हैं। उन्होंने आदिकाल की अंतिम सीमा 1400ई. तक मानी। मिश्रबंधुओं ने एतदर्थ 1389ई. का वर्ष स्वीकार किया है। रामचन्द्र शुक्ल आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई. तक मानते हैं

NOTES

5. सीमा निर्धारण के आधार

युगों का नामकरण हिंदी साहित्य के इतिहास में आज भी अनसुलझा पहलू है।आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहितय के इतिहास का चार कालों में विभाजन कर उनका नामकरण क्रमशः आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिककाल। इसमें उन्होंने मिश्र बंधुओं और जार्ज ग्रियर्सन से कुछ आधार अवश्य लिये। परंतु काल–विभाजन और नामकरण की अंतिम तर्क पुष्टि व्याख्या उनकी अपनी है इनमें से भक्तिकाल और आधुनिक काल को तो यथावत स्वकार कर लिया गया। परंतु वीरगाथाकाल और रीतिकाल के विषय में विवाद रहा। वीरगाथाकाल नाम के विरुद्ध अनेक आपतियां की गयी है, प्रमुख यह है कि जिन वीरगाथाओं के आधार पर शुक्ल जी ने यह नामकरण किया है, उनमें से कुछ बातें अप्राप्य हैं और कुछ परवर्तीकाल की रचनाएं हैं इनके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि में लिखा गया है, उसमें सामंतीय और धार्मिक तत्वों के प्राधन्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपों की ऐसी विविधता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आदिकाल जैसा निर्विशेष नाम, जो भाषा और साहित्य की आरंभिक आवस्थसा मात्र का द्योतन करता है विद्वानों को अधिक मान्य है और मैं समझता हूं कि इसका कोई विकल्प नहीं हैं।

रीतिकाल के विषय में मतभेद की परिधि सीमित है वहां विवाद का विषय इतना नहीं है कि उस युग के साहित्य रीति तत्व प्रमुख है या श्रृंगार तत्व? प्राचुर्य दोनों का ही है, पर इन दोनो में भी अधिक महत्व किसका है? हमारा विचार है कि जिस युग में रीति तत्व का समावेश केवल श्रृंगार में ही नहीं भक्तिकाव्य और वीरकाव्य में भी हो गया था अथवा यह कहें कि जीवन का स्वरूप भी बहुत कुछ रीतिबद्व हो गया था, उसका नाम रीतिकाल ही अधिक समीचीन होगा। इसके विकल्प श्रृंगारकाल अतिव्याप्ति है।

आधुनिक काल को शुक्ल जी ने तीन चरणों में विभक्त किया है और उन्हें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान कहा है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने यह संकेत भी कर दिया है कि इन्हें क्रमशः भारतेंदुयुग और द्विवेदीकाल भी कहा जा सकता है। तीसरे उत्थान का कदाचित उसके प्रवाहमय रूप के कारण, उन्होंने कोई नाम नहीं दिया।

पहला कालखंड जीवन और साहित्य में पुनर्जागरण का युग था, जब अतीत की गौरव– भावना के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की चेतना विकसित हो रही थी, अतः इसे पुनर्जागरणकाल नाम दिया जा सकता है और चूंकि भारतेंदु के व्यक्तित्व और कृतित्व में जिन्होंने अपने जीवनकाल में इस युग का नेतृत्व किया ओर जिनका प्रभाव मरणोपरांत भी बना रहा, यह चेतना समयकृत प्रतिफलित हो रही थी। इसलिए इसका नामकरण भी किया जा सकता है। उसे हम औचित्य पूर्वक जागरण–सुधार काल या विकल्पतः द्विवेदीयुग कह सकते हैं।

तीसरे चरण की सर्वप्रमुख साहित्य प्रवृति है छायावाद अतः उसका उचित नाम छायावादकाल ही हो सकता है उसका परवर्ती काल हमारे अत्यंत निकट है और उसकी मूल चेतना इतनी जल्दी–जल्दी बदल रही है कि किसी एक स्थिति के आधार को लेकर इसका नामकरण नहीं किय जा सकता।

आरंभ में प्रगतिवाद का दौर था जो कुछ ही वर्षो में समाप्त हो गया, इसके कुछ समय बाद प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ जो थोडे समय तक इसके समानांतर चलकर1953 के आसपास नवलेखन में परिणत हो गया। अत्याधुनिक लेखन का दावा है कि नवलेखन का युग भी सन् 1960के बाद खत्म हो गया है और इसके बाद की साहित्य –चेतना यथार्थ बोध की प्रखरता के कारण अपनी पूर्ववर्ती साहित्य चेतना से भिन्न है अतः इस अस्थिर और त्वरित गति से बढ़ते हुए साहित्य प्रवाह को किसी एक नाम में बांधा जाये या नहीं? कुछ आलोचक पूर्वार्द्ध को प्रगति–प्रयोगकाल और उतरार्द्ध को नवलेखन काल कहना चाहते हैं और कुछ इस पूरे कालखड को छायावादोत्तर काल के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें से पहले दोनों नाम कुछ अधिक निश्चित और भावात्मक और तीसरा नाम उतना ही अनिश्चित तथा अभावात्मक लगता है। पहले दोनों नामों में प्रमुख प्रवृतियों को रेखांकित किया गया है।जबकि दूसरा छायावाद के अवशिष्ट, प्रभाव, विस्तार तथा विरोधी प्रतिक्रिया को अधिक महत्व देता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति इसी युग की घटना है पर यह साहित्यक चेतना को कोई नया मोड़ नहीं दे सकी, इसलिए नामकरण में उसकी कोई विशेष संगति नहीं है।

अतः निर्णय उक्त दोनों विकल्पों के बीच ही करना है। सन् 1938–39 से आरंभ होन वाले वर्तमान युग का उपविभाजन किया जाय या नहीं ? यदि इस तर्क के आधार पर कि इतिहास को अति छोट–छोटे खंडों में विभक्त करने सेसमग्र दर्शन में

बाधा आती है अथवा यह मानकर कि समसामयिक साहित्य का स्वरूप स्थिर होने में कुछ देर लगती है, वर्तमान युग को एक नाम ही देन है तो छायावादोत्तर काल नाम अभावत्मक होते हुए भी असंगत नही है। इस लक्ष्य के आधार पर हिन्दी साहित्य का काल विभाजन तथा नामकरण सामन्यतः उक्त आधार पर किया जा सकता है।

NOTES

6. सार-संक्षेप (स्मरणीय बिन्दु)

(1) हिंदी साहित्य का इतिहास निरन्तरता का इतिहास है।

(2) आठवीं-नवीं शताब्दी से लेकर आजतक के विकास परदृश्य के साथ साहित्यिक सृजनशीलता के विविध रूपों, प्रवृतियों और भाषा का ज्ञान हिन्दी साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही किया जा सकता है।

(3) जिस प्रकार काल के प्रवाह में अनेक धाराएं चलती रहती हैं उसी प्रकार साहित्य में भी अनेक प्रवृतियां होती हैं(और इन प्रवृतियों का आदि, अंत या उतार-चढ़ाव ही इतिहास का काल-विभाजन है।

(4) संतकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, नीतिकाव्य तथा वीरकाव्य की धाराएं पूरे मध्य-युग में प्रवाहित रहीं।

(5) चैतन्य और गांधी का अपने युग में प्रभाव रहा है। इसी तरह रवींद्रनाथ या भारतेन्दु व्यक्ति न होकर एक संस्था थे, युगनिर्माता थे, जिनके कृतित्व ने अपने-अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृतियों को प्रभावित किया था।

(6) युगों का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य-चेतना का आधर मानकर साहित्यिक प्रवृति के अनुसार करना चाहिए, किंतु जहां ऐसा नहीं हो सकता, वहां राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृति को आधार बनाया जा सकता है या फिर कभी-कभी विकल्प न होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किंतु उसे सायास सिद्ध करने के लिए भ्रांतिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।

(7) हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में काल-विभाजन के लिए प्रायः चार पद्धतियों का अवलंब लिया गया है पहली पद्धति के अनुसार, संपूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगों अथवा कालखंडों में किया गया है यथा- आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिककाल। आचार्य शुक्ल द्वारा और उनके अनुसरण पर नागरीप्रचारिणी सभा के इतिहास में इसी को ग्रहण किया गया है।

(8) विभिन्न विभाजनः

(क) (1) आदिकाल द्धवीरगाथाकाल, संवत् 1050-1375ऋ

(2) पूर्व मध्यकाल द्धभक्तिकाल, संवत् 1375-1700ऋ

(अ) निगुर्ण काव्यधारा

(ब) सगुण काव्य धारा

(अ) निगुर्ण काव्यधारा

(1) ज्ञानमार्गी धारा (कबीर)

(2) प्रेममार्गी धारा (जायसी)

(ब) सगुण काव्य धारा

(1) रामकाव्यधरा (तुलसी)

(2) कृष्णकाव्यधारा (सूर)

(3) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् 1700-1900)

(4) आधुनिककाल (गद्यकाल, संवत् 1900-1984)

(ख) अन्य आधार पर काल विभाजन-

आदिकाल : सातवीं ाती के मध्य से चौदहवीं ाती के मध्य तक।

भक्तिकाल : चौदहवीं ाती के मध्य से सत्रहवीं ाती के मध्य तक।

रीतिकाल : सत्रहवीं ाती के मध्य से उन्नीसवीं ाती के मध्य तक।

आधुनिक काल : उन्नीसवीं ाती के मध्य से अब तक

1. पुनर्जागरणकाल (भारतेन्दुकाल) 1857-1900

NOTES

2. जागरण सुधारकाल (द्विवेदीकाल) 1900–1938ई.
3. छायावादकाल 1918 से 1938 ई.
4. छायावादोतरकाल (क) 1937–1953ई., (ख) 1953 से अब तक

डॉ रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास को इन सात प्रकरणों में विभक्त किया है:

(1) संधिकाल,

(2) चारणकाल,

(3) भक्तिकाल की अनुक्रमणिका,

(4) भक्तिका

(5) प्रेमकाव्य,

(6) रामकाव्य,

(7) कृष्णकाव्य।

(9) "मै सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस तथा रामतीर्थ से प्रभावित था, पर मेरे मन ने उन्हे पूर्णतया स्वीकार नहीं किया मैं गांधी और मार्क्स से प्रभावित हुआ पर मेरे मन ने उन्हे भी पूर्णतया स्वीकार नहीं किया मैं श्री अरविंद के संपर्क में आया पर पूर्णतया उन्हें भी स्वीकार नही किया।" –सुमित्रानंदन पंत

(10) आचार्य विद्यानिवास मिश्र जी कहते है –"मैं अजमा चुका हूँ, कभी नजदीक साफ दिखता है, दूर नही दिखत(कभी दूर दिखता है, नजदीक नहीं दिखता ठीक–ठीक देखने के लिए अपनी आंखे नपवानी पड़ती हैं, दृष्टि की अपेक्षा नपवानी पड़ती है। आधुनिक साहित्य में इसी अपेक्षा के कारण अपने आसपास के परिवेश के लिए बड़ी सघन आत्मीयता दिख रही है। साहित्य की जरूरत 'चंद तिनकों' के बिना नहीं पूरी होती, जिन्हे तोड़ते–तोड़ते दो मित्र घंटो तक बात करते रहते है, यह तिनका दुर्लभ हो गया है।"

(11) "भाषा–शास्त्रियों ने लक्ष्य किया है कि अपभ्रंश नामक उत्तर–कालीन काव्य–भाषा में ऐसे बहुत–से–प्रयोग पाए जाते हैं, जो वास्तव में वररुचि के महाराष्ट्री और शौरसेनी के प्रयोगों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं।" हजारी प्रसाद द्विवेदी

(12) "सातवीं शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म का क्या हुआ, इसका ठीक विवरण नही मालूम।"– हजारी प्रसाद द्विवेदी

(13) "गुण और परिमाण में समृद्ध कोई एक कृति लेखक ही लिख सकता है।" –डॉ नगेन्द्र ने लिखा है

7. अभ्यास–प्रश्न

1. इतिहास और हिंदी साहित्य के इतिहास में क्या अन्तर है।
2. इतिहास के विस्तार को देखते हुए इतिहास और साहित्य के इतिहास में अन्तर बताइये।
3. क्या सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों को विभाजन का आधार बनाय जा सकता है।
4. आचार्य रामचंद शुक्ल के अनुसार काल विभाजन के मोटे तोर पर आधार क्या होने चाहिए।
5. विभिन्न काल विभाजनों का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर डॉ नगेन्द्र तक आते आते काल विभाजन में क्या प्रगति हुई हैं, स्पष्ट करें।
7. काल विभाजन का अर्थ क्या है।
8. आचार्य शुक्ल के काल विभाजन से आप कहां तक सहमत हैं।
9. 1900 के बाद के साहित्य के काल को किन नामों से बांटना उचित होगा।
10. काल–विभाजन की सीमा का आधार राजनीतिक परिस्थिति उचित है?

अध्याय – 4

NOTES

आदिकाल : प्रमुख धाराएँ, कवि और उनकी कृतियाँ

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन उद्देश्य
- परिचय
- प्रमुख धराएँ
- अप्रमाणिकता को दर्शनों वाले दृश्य
- प्रमाणिकता को दर्शाने वाले तथ्य
- लोक साहित्य धरा
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

NOTES

1. अध्ययन उद्देश्य

इस इकाई का लक्ष्य है कि छात्र जान सकें :

(1) आदिकाल के प्रारंभ तथा समापन काल की तिथियों के बारे में।

(2) आदिकाल के नामकरण के संबंध में विद्वानों के विचार।

(3) आदिकालीन काव्य प्रवृत्तियों की विविध धाराएँ और उनके रचनाकार तथा प्रमुख कृतियाँ की विशेताएँ।

(4) संबंधित लघु उत्तरीय, दीर्घ उत्तरीय तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर देने की क्षमता का विकास।

(5) विवेचन क्षमता एवं विशेष ज्ञान वृ) के लिए क्या करना है ।

2. परिचय

आदिकाल का प्रारंभ 769 ई. से माना जाता है। महा पंडित राहुल सांस्कृत्यायन, डॉ. नगेन्द्र तथा अन्य इतिहासकारों ने यह सि) किया है कि सरहवाद हिन्दी के प्रथम प्रमाणिक कवि है। अत: उन्हीं के काल से इसका प्रारंभ माना जाये। शिवसिंह सेंगर, मिश्राबाधु, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बहुत दूर तक इस मत से सहमत से दिखाई देते हैं। आदिकाल की अंतिम तिथि भी विवादग्रस्त रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई. तक मानते है। मिश्राबंधुओं ने 1389 ई. तक मानी है। डॉ. रामकुमार वर्मा तथा रसाल जी 1343 ई. मानने के पक्ष में है। चूंकि साहित्य इतिहास के कालखण्डों को कड़ाई के साथ किसी एक निश्चित तिथि में नहीं बाँधा जा सकता इसलिये अदिकाल की अंतिम सीमा चौदहवी शताब्दी के आसपास कहना अधिक उपयुक्त है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल का वीरगाथा काल नाम दिया है। किन्तु आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि जिन रासो– काव्यों को वीरगाथा काव्य कहा जाता है, वे प्रमाणिक नही है और उनका अधिकांश बाद के कालों में लिखा गया है। अत: उनके आधार पर दिया गया यह नाम उचित नहीं है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी भी वीरगाथा काल नाम से सहमत नहीं है उनका कथन है कि जिस तरह भक्तिकाल में वैष्णव धर्म संबंधी साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया उसी तरह आदिकाल की प्रमाणिक रचनाओं में सि), नाथ तथा जैन धर्म के तत्वों की प्रचुरता है और उनमें साहित्यिक कला तत्व भी है। अत: जिन रचनाओं को शुक्ल जी सम्प्रदायिक मानकर छोड़ दिया है वे इसकाल की साहित्यिक निधि हैं और उन्हीं के आधार पर नामकरण होना चाहिए। राहुल जी ने आदिकाल को सि) सामंतकाल नाम दिया है। उनका तर्क है कि इसकाल की रचनाओं के सि) रचनाकार थे और सामंत उनके प्रेरक 1 साथ ही राजप्रशस्ति भी इसकाल की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। अत: इस नाम से दोनों का बोध होता है। किन्तु इस नाम से नाथ पंथी और हठयोगी साहित्य तथा जैन साहित्य का बोध नही होता। इसीलिए जब तक इस काल के सम्पूर्ण साहित्य और उनकी प्रधान प्रवृत्तियों का पूरा पता नहीं चलता तब तक विद्वान आदिकाल नाम के ही पक्ष में है।

3. प्रमुख धराएँ

आदिकाल के साहित्य को निम्नांकित धाराओं में वर्गीकृत किया जा सकता है :

सि) साहित्य धारा – बौ)धर्म की वज्रयान शाखा की मान्यताओं एवं साधना प)ति के तत्वों से समन्वित भावनाओं को जागृत करने वाले साधकों के साहित्य को इस धारा के अंतर्गत रखा जाता है। ये सि) 84 है। इनमें सरहपा से इस काव्यधारा का आरंभ होता है। सि)धारा के अन्य कवियों में शबरपा, लुइपा, डोम्बिपा एवं कुक्कुरिपा मुख्य है। इन रचनाकालों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय निम्नानुसार है :

1. **सरहपाद** – जैसा कि कहा गया है इनके अन्य नाम सरोजवज्र, राहुल भद्र भी प्रसि) है। इन्होने 32 ग्रंथों की रचना की थी । इनमें साहित्यिक दृष्टि से 'दोहाकोश' प्रसि) है। राहुल जी के मतानुसार यह 769 ई. में विद्यमान थे। यह सहजयानी सि) साधक थे। सहजयानी सि) साधना में प्रधान रूप से नैरात्म्य भावना, काया योग, सहज शून्य की साधना, और भिन्न प्रकार की समाधि जन्य अवस्थाओं को प्राप्त करने पर बल दिया गया है। अत: सरहपाद ने भी अपनी तियों में इनसे संबंधित उपदेश तथा अनुभूतियों को प्रकट किया है इस साधना प)ति में जाति–पाति, कुल विचार को व्यर्थ माना गया है। अत: इन्होने जाति प्रथा का खुलकर विरोध किया है वे कहते हैं कि, वर्णाश्राम तथा जाति प्रथा के समर्थक ऊँची जाति के लोग

द्धब्राह्मणोंऋ को ब्रह्मा से उत्पन्न कहते हैं। लेकिन वे ब्रह्मा से उत्पन्न जब हुये थे तब हुये होंगे इस समय तो वे भी जिस तरह दूसरे लोग पैदा होते हैं उसी तरह पैदा होते है। तो फिर ब्राह्मणत्व कहा रहा? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चांडाल को भी संस्कार दो वह भी ब्राह्मण हो जायेगा। यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है तो क्यों नही चांडालों को वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने देते। सच पूछो तो शूद्र भी तो व्याकरण आदि पढ़ते हैं। और इन व्याकरण आदि ग्रंथों में भी वेद के शब्द हैं। फिर शूद्र का भी तो वेद पढ़ना हो गया। और यदि आग में ही डाल देने से मुक्ति हो जाती तो सबको क्यों नही यज्ञ हवन करने देते ताकि सब मुक्त हो जायें। सरहपाद आध्यात्म की साधना के लिये जिस प्रकार जाति प्रथा को निरर्थक मानते हैं। उसी प्रकार अन्य वैदिक कर्मकांडों को भी निरर्थक मानते है। वे वेद और ब्राह्मण को झूठा मानकर विरोध करते हैं और कहते है कि ब्राह्मण ब्रह्म ज्ञान और वेद चिल्लाते रहते हैं। किन्तु अर्थ वेद को सत्ता में ही नही है। तीन वेद के पाठ भी सि) नही हैं। इसलिये वेद का कोई प्रमाण्य ही नही है। वेद में न परमार्थ है वह तो कोरी बकवास है शिव की उपासना करने वाले कर्मकांडियों के संबंध में भी सरहपाद द्धसरोरूह बज्रऋ कहते है कि, यह शिव द्धईसाऋ के भक्त शरीर में राख मलते हैं। सिर पर जटा धारण करते हैं, दिया जलाकर घर में बैठे रहते हैं। और ईशान कोण में बैठकर घंटा बजाया करते हैं। आसन बांधकर आंखें मूंदा करते हैं। और लोगों को नाहक धोखा देते हैं। अनेक रंडी, मुण्डी और नाना वेश धारी इन गुरूओं के मत में चलते हैं । लेकिन जब कोई पदार्थ है ही नही, जब वस्तु नही, पदार्थ नही तो ईश्वर भी नही है। क्यों कि ईश्वर भी तो पदार्थ ही है। इस प्रकार सरहपाद ने अन्य मतों का तार्किक ढंग से खंडन और अपने मत का मंडन अपनी कृतियों में किया है। गुरू की महत्ता के संबंध में भी सरहपाद ने अपनी भावनायें प्रगट की हैं। इनके मतानुसार बिना सदगुरू की कृपा के साधना प्रक्रियाएँ कारगर नही होती। इन्होने पाखंडी एवं सांसारिक लोभ, लालच में फसे और अंधविश्वासों में जकड़े गुरूओं का त्याग कर ऐसे सदगुरू की शरण में जाने का संदेश दिया है जो लौकिक इच्छाओं का त्याग करने वाला हो और अध्यात्म साधना की विधियों से भलीभांति परिचित हो, ऐसे सदगुरू के ऊपर अपार श्रृ)ा भक्ति, सेवा और सम्पर्ण के भाव रखने का उपदेश सरहपाद ने अपनी रचनाओं में दिया है। वे बाह्य आचारो की तुलना में आंतरिक शुि) अर्थात मनोविकारों और इच्छाओं पर विजय प्राप्ति को अध्यात्म साधना में अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। अनेक बार तो वे आंतरिक भाव शून्य बाह्य आचारों का मखोल उड़ाते हैं। इन्होने धार्मिक नियमों पर चलने पर विशेष जोर दिया है। कथनी और करनी के अंतर को ये पाखंड मानते हैं। वाह्याचार यदि आंतरिक शु)ता का साधन नही है तो ये उसे आडम्बर कहकर निंदनीय बतलाते है। इन्होने अपने दोहों में उन सभी बाहय नियमाचारों का विरोध किया है जो मात्र धार्मिक प्रदर्शन के लिये किये जाते हैं। सरहपाद ने धर्म के ज्ञान और उससे संबंधित आचरण धारण करने के लिये गुरू को बहुत महत्व दिया है। गुरू के प्रति श्रृ)ाभक्ति उसकी सेवा को ये धार्मिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक एवं उच्च महत्व का मानते हैं, सहज साधना के माध्यम से महासुख अवस्था में पहुचाने वाले उपायों का काव्यात्मक निरूपण इन्होने किया है। भाव और शिल्प पक्ष की दृष्टि से सरहपाद की रचनाओं का प्रभाव परवर्ती हिन्दी साहित्य पर स्पष्ट दिखायी देता है।

2. **शबरपा** – इनका जन्म क्षत्रिय परिवार में सन् 780 ई. में हुआ था, यह सरहपाद के साधक शिष्य थे। यह सांसारिक विषय भोगों को त्याग कर शबरों जैसा सादा जीवन बिताते थे। इसी कारण इन्हें यह नाम दिया गया। चर्यापद इनकी प्रसि) रचना है। इसने सहज साधना तत्वों को अपनाकर तथा सदगुरू की आज्ञानुसार आचरण के विविध सोपानों पर बढ़ते रहने का संदेश दिया गया है। सरहपाद की भांति इन्होने भी जाति, वर्ण संबंधी ऊँच–नीच की मान्यताओं का खण्डन अपनी रचनाओं में किया है। सहज साधना को अपनाने और अन्य मतों के खंडन से संबंधित इनकी काव्योक्तियाँ बड़ी ही प्रभावशाली है, इन्होने सरल, सीधी प)ति में भी कवितायें लिखीं हैं और प्रतीक प)ति में भी इनकी प्रतीक प)ति की कविताओं को आलोचकों ने संधा भाषा नाम दिया है। इस प्रकार की प्रतीकात्मक कविताओं में शब्दार्थ, लोक विरोधी तथा असंगत प्रतीत होता है। किन्तु उसका अन्य अर्थ सहज साधना के अनुभवों को प्रकट करता है।

3. **लुईपा** – इनका जन्म कायस्थ परिवार में हुआ था इन्होने शबरपा से दीक्षा लेकर सि) साधना को अपनाया था इनकी साधना तथा काव्यात्मक उपदेश प)ति इतनी प्रभावशाली थी कि तत्कालीन राजा धर्मपाल इनसे प्रभावित होकर इनके शिष्य हो गये थे उनका मंत्री भी इनका शिष्य हो गया था। सि) साधकों में प्रभावना की दृष्टि से इनका स्थान सबसे ऊँचा माना गया है। इनकी कविता में रहस्यात्मक सत्ता के प्रति एक साधक के मनोभावों का सुंदर चित्रण उपलब्ध होता है, एक उदाहरण दृष्टव्य है।

काआ तरूवर पंच विडाल ।
चंचल चीए पइठो काल।।

NOTES

दिट करिअ महासुख परिमाण ।
लुई भरमई गुरू पुच्छि अजाण ।।

4. **डोम्बिपा** – यह क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुये थे, इनका जन्म स्थान मगध माना गया है। इन्होने विरूपा नाम के सि) साध क से ज्ञान प्राप्त कर दीक्षा ली थी। इनके द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या 21 है। इनमें डोम्बिक गीतिका, योगचर्या तथा अक्षर ि)कोपदेश महत्वपूर्ण माने गए हैं। इन्होने प्रतीकात्म शैली में सहज साधना तत्वों का निरूपण किया है। इनमें धार्मिक शिक्षाओं के साथ–साथ साधनात्मक अनुभूतियों का काव्यात्मक प्रतिपादन किया गया है। डोम्बिपा की रचनाओं में भी जाति–पाति, छुआ–छूत, बाह्यय कर्मकांडों का विरोध प्रबल है, गुरू भक्ति तथा साधना की गुह्य क्रियाओं को अनुभूतियों के साथ प्रगट किया है।

5. **कन्हपा** – इनका जन्म 820 ई. में हुआ था। जालंधर नामक सि) से इन्होने दीक्षा ली थी । इनके अनेक शिष्य सि) साध कों में प्रसि) हुए। इनके लिए 74 ग्रंथ है। इनके गीतों में निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति रहस्यात्मक भावनाओं का निरूपण हुआ है। इन्होने आचरण विहीन शासत्रज्ञान तथा विवेक शून्य रूढ़ियों का सशक्त वाणी में विरोध किया है। योग साधना तत्वों के प्रति आकर्षण पैदा करने वाले भाव तत्वों का निरूपण इनके काव्य में हुआ है। इनकी कविता का एक उदाहरण दृष्टव्य है, जिसमें वेद, पुराण एवं ब्राह्मण का विरोध किया गया है, तथा उन्हें मिथ्या मानकर, उनके स्थान पर योगमार्गी भक्ति व साधना के प्रति आस्था जगाई गई है।

आगम वेद पुराणे, पंडित मान बहंत ।

पक्का सिरीफल अलिय जिमि बाहेरित भ्रमयंत।।

6. **कुक्कुरिपा** – इनका जन्म कपिल वस्तु नगर के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। प्रसि) गुरू चर्पटी नाथ से इन्होंने दीक्षा ली थी। इनके द्वारा लिखे सोलह ग्रंथ माने जाते हैं। इन ग्रंथों में सांसरिक भोग विलस का त्याग कर सहज साधना से युक्त सादा जीवन चर्या को उपादेय माना गया है। डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथ में इनकी कविता का निम्न उदाहरण दिया है।

हाउ निवासी खमण मतारे।
मोहोर विगोआ कहण न जाइ।।
फेटलेड गो माए अंत उडि़ चाहि।
जा एथु बाहाम सो एथु नहिं।।

सिद्ध साहित्य की शिल्पगत सौन्दर्य – सि) साहित्य के कवियों ने अपने मत का प्रचार करने के लिये जन सामान्य के व्यवहार की भाषा को विशेष प्रश्राय दिया है। इन्होने अन्य मतों की मान्यताओं पर तीखे व्यंग करने वाली तर्क योजना तथा व्यंगात्मक शैली का प्रयोग भी किया है। सि) साहित्य धारा के कवियों ने साधनात्मक अनुभवों को प्रगट करने के लिये प्रतीक विध ान पर आधारित शैली का भी प्रयोग किया है। इन प्रतीकों में अनेक प्रतीक इस प्रकार के हैं कि उनका शब्दार्थ अटपटा, ऊटपटांग, लोक विरू) तथा कहीं–कहीं अश्लील व्यापारों का सूचक भी होता है। लेकिन उसका प्रतीकात्मक अर्थ अभिप्रेत भाव की व्यंजना बड़े सटीक ढंग से करता है। ऐसी रचनाऐं साधना प्रक्रिया को मूर्त रूप देने की विवशता माना गया है।

2. **जैन साहित्य धारा** – जैन सि)ांतों पर आधारित साधना प)ति के प्रति आस्था मूलक भाव जगाने वाले कवियों का काव्य इस धारा के अंतर्गत आता है। जैन साधुओं ने अपने मत के प्रचार के लिये हिन्दी कविता को माध्यम बनाया। इनकी रचनाएँ 'आचार', 'रास', 'फागु', 'चरित', आदि विभिन्न काव्य शैलियों में मिलती है।

चूंकि आचार शैली की रचनाओं में भावोद्रेक की जगह सि)ांत तिरूपण की प्रमुखता है अतः काव्योत्कर्ष की वृष्टि से ये कम महत्वपूर्ण है। रास नाम से पद्यब) की गयी जैन तीर्थंकरों एवं अन्य धर्म–पुरूषों की गाथाएँ काव्य दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इनमें कुछ महापुरूष वैष्णव धर्मग्रंथों के नायक भी है। जैन कवियों ने इन महापुरुषों की जीवन वृत्तों और उनके आदर्शों आचारों का वर्णन जैन साधना प)ति के रंग में रंग कर किया है। इस प्रकार के ग्रंथों में कुछ ग्रंथों का परिचय निम्नानुसार है।

(1) श्रावकाचार – इसकी रचना देवसेन आचार्य ने की थी। इसमें 250 दोहे हैं। इनमें मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ाने वाले श्रावकों के कर्तव्यों का काव्यात्मक निरूपण है। यह रचना दोहा छंद में निबद्ध है। भाषा पुरानी हिन्दी के अत्यधिक निकट है। एक उदाहरण इस प्रकार है :–

जो जिन शासण भाषियउ, सो मैं कहयउ सारू।
जो पालइ सइ भाउकर, सो सरि पावइ सार।।

(2) भरतेश्वर बाहुबली रास – इसके रचयिता शालिभद्र सूरि हैं। इस काव्यग्रंथ में भरत और उनके भाई बाहुबली के चरित का वर्णन है। ये अयोध्या के राजा ऋषभदेव के पुत्र थे। भरत आयु में बड़े थे। दोनों भाई पराक्रमी थे। भरत को अयोध्या का राजा बनाया गया और बाहुबली को तक्षशिला का राज्य दिया गया। किन्तु भरत की राज्य विस्तार लिप्सा से दोनो भाईयों में अनेक प्रकार के युद्ध हुए। अंत में बाहुबली ने अपने भाई को मल्लयुद्ध में पछाड़कर धरती पर पटकने के इरादे से दोनों भुजाओं से ऊपर उठा लिया। किन्तु उसी क्षण उनके मन में आत्मग्लानि तथा वैराग्य के भाव प्रबल हो उठे। उन्होंने जिनदीक्षा लेकर घोर तप किया और अंत में क्रोध मान माया लोभ कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर मोक्ष गए । इस प्रकार वीर और शृंगार का अंत निर्वेद में होकर शांत रस की सृष्टि कराना इसका लक्ष्य रहा है। 205 छंदों में रचित यह खण्ड काव्य आदिकाल की महत्वपूर्ण प्रबंध रचना है। कवि ने आरंभ में ऋषि जिनेश्वर, सरस्वती एवं गुरू की वंदना की है। इसके बाद कृति रचने के हेतु को बतलाते हुये लिखा है कि मैं रास छंद में उसी चरित्र का वर्णन करना हूँ जो जन, मन को हरने वाला एवं स्थाई सुख को देने वाला है। हे भव्य जन उसे मनोयोग पूर्वक सुनो। भरत बाहुबली की काव्य में वर्णित इस कथा का आधार पुष्पदंत द्वारा रचित महापुराण के चौदह से अठारह संधियों के बीच का इतिवृत्त है। यद्यपि सांसारिक उत्कर्ष और अंतिम फल प्राप्ति की दृष्टि से इसके नायक भरतेश्वर ही प्रतीत होते हैं तथापि चरित्र चित्रण में कवि ने दोनो भाईयों में जिनके उदात्त गुणों को अधिक दर्शाया है वह बहुबली हैं। इनका चरित्र भरत की तुलना में अधिक प्रभावशाली है। प्रारंभ में तो भरतेश्वर धन, बल ऐश्वर्य आदि से युक्त सम्राट की भूमिका में रहते है, उन्हें इन शक्तियों का अभिमान भी है। इसलिये वे अपने दूत द्वारा बहुबली को आत्म समर्पण के लिये भेजते हैं। दूत जब अपने स्वामी की (भरतेश्वर) की बड़ी, बड़ी डींगे हांकता है और बाहुबली में भय उत्पन्न कराना चाहता है तो बाहुबली पूरे आत्म विश्वास के साथ उसकी उपेक्षा कर देते हैं और उत्तर देते हैं :–

कहिरं भरतेश्वर कुण कहीइ।
मइ सिउँ रणि सुरि असुरि न रहीइ।।
चक्र धारइ चक्रवर्ती विचार।
तउ अह्मा पुरि कुंभार अपार।।

बाहुबली की उक्तियों में वीरोचित गुण इस कृति को विशेष आर्कषक बनाते है। दूत के कठोर वचनों को सुनकर बहुबली जिस धैर्य का परिचय देते हैं। उससे ही उनकी गंभीरता का परिचय मिलता है। कवि ने यु) का वर्णन विस्तार से किया है। किन्तु इस विस्तृत यु) वर्णन के द्वारा वह लौकिक पराक्रम, साहस आदि को आदर्श के रूप में स्थापित नही करना चाहता। इसके स्थान पर कवि का लक्ष्य यु) से होने वाली हिंसा तथा अन्य पाप मूलक प्रवृत्तियों, छल, कपट, मान, दम्भ आदि के दुष्प्रभावों को दर्शाना है। कवि ने प्रारंभ से ही यह दिखलाने में सफलता प्राप्त की है। कि यह विराट व भयानक यु) तुच्छ राज्य विस्तार, व मान दम्भ की तुच्छ आकांक्षा पूर्ति के लिये लड़ा जा रहा है। बाहुबली की ओर से उपेक्षा भाव की पीड़ा के साथ भ्रातृत्व भावना की अभिव्यक्ति दर्शायी गयी है। वे बड़े भाई के प्रति बार बार दूत के समक्ष आदर और हितकामना दर्शाते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि मेरा यशस्वी, पराक्रमी भाई दुष्टों के बहकावे में है। वे भाई से प्रेम प्राप्ति की अभिलाषा भी प्रगट करते है किन्तु निर्भीकता पूर्वक किन्तु प्रभुता की भूख बड़े भाई को छोटे भाई के सात्विक स्नेह को ठुकराने को मजबूर करती है। जिसका परिणाम अति हिंसक यु) के रूप में सामने आता है। इस हिंसक यु) की परिणति वैराग्य में होती है। बाहुबली संभावित विजय को ठुकराकर विरक्त हो जाते हैं। और भरतेश्वर भी आत्मग्लानि से ओत प्रोत होकर कहते है कि इस संसार को धिक्कार है। रानी और राज्य वैभव को धिक्कार है, जो इतनी मात्रा में जीव–संहार होता है । मुझे इस राज्य, पुर, घर – नगर – महल की कोई

आकांक्षा नहीं है। भाई मुझ पर दया करो। हे नये मुनिराज मेरी बात मान जाओ। यदि रूठे रहे तो मुझे साल– छह साल का व्रत लेना पड़ेगा। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त के मतानुसार वस्तुत: यह काव्य न केवल शांत रस का उत्कृष्ट नमूना है अपितु इस स्थापना का भी आधार है। कि शांत रस का आधार शुष्क नीरसता में नहीं अपितु स्वच्छ स्निग्ध एवं सच्चे स्नेह में है।

पात्रों के संवाद, वस्तु वर्णन, अभिव्यंजना शैली और छंद विधान की दृष्टि से भी इस कृति में विविधता तथा आकर्षण के तत्व दिखायी देते हैं। इसकी भाषा में राजस्थानी एवं गुजराती शब्दों का मेल है। यद्यपि राजस्थानी शब्द अधिक है और उत्तरकालीन अपभ्रंश के शब्द रूप भी प्रचुर मात्रा में है।

(3) चंदनवाला रास एवं जीव दया रास – यह भी जैन साहित्य धारा का महत्वपूर्ण खण्ड काव्य है। इसका रचनाकाल 1200 ई. है। आसगु नाम के कवि ने इसकी रचना की थी। चंपानगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री चंदनवाला इस काव्य की कथानायिका हैं। चंदनवाला की चारित्रिक पवित्रता एवं धार्मिक साधना के सदपरिणाम को दर्शाना इस कृति का उद्देश्य है। कोशाम्बी के राजा शतानीक ने दधिवाहन पर आक्रमण करके उसकी पुत्री चंदनवाला को माता धारणी सहित कैद कर लिया था। धारणी ने तो अपने प्राणों का त्याग किया किन्तु चंदनवाला ऐसा नहीं कर सकी। उसे बाजार में बोली लगाकर बेचा गया उसे एक दयालु धार्मिक सेठ ने खरीद लिया । सेठ चंदनवाला को पुत्रीवत स्नेह करता था। किन्तु सेठ की पत्नी को यह संदेह हो गया कि चंदनवाला सौत के रूप में रखी गई है। वह चंदनवाला को असहय दुख देती है। किन्तु चंदनवाला अपनी चरित्रगत पवित्रता व संयम साधना पर अटल रहती है। पुण्य के फलस्वरूप चंदनवाला को भगवान महावीर स्वामी को आहार दान देने का अवसर मिलता है। इस पुण्य वृद्धि से उसके सारे संकट दूर हो जाते हैं। अंत में चंदनवाला जिन दीक्षा लेकर तपश्चर्या में रत हो जाती है। धार्मिक होते हुये भी इस कृति की काव्यात्मकता समृद्ध है। नारी–सौन्दर्य, नायिका के सदाचरण रति, करूणा, उत्साह, भावों की व्यंजना के कारण यह एक सरस रचना बन पड़ी है कवि आसगु के द्वारा लिखित दूसरी प्रबंध रचना जीव दया रास भी आदि काल की महत्वपूर्ण कृति है यद्यपि इसमें उपदेशों की प्रधानता है किन्तु रूपक अलंकार के सुंदर प्रयोग ने इसे काव्यात्मक आकर्षण से मंडित किया है। जैसे

देहा सरवर मँझिह कमलु,
तहि वइसउ हंसा धुरि धवलौ।
कालु भमरू उपरि भमई,
आउखए रस गंधुतिबिले सई।
अणखूटई नहु जिउ मरइ,
खूटा उपर धारी न दी सइ।

(4) स्थूलिभद्र रास – यह जिनधर्म सूरि कृत रचना मानी गई है। इसमें जैन तपस्वी स्थूलि भद्र की संयमशीलता पर दृढ रहने के पुरूषार्थ का (नारी आकर्षण पर विजय) का प्रतिपादन प्रभावशाली ढंग से किया गया है। मुनिराज स्थूलिभद्र वर्षात के चार माह (चार्तुमास) व्यतीत करने एक कोशा नामक वेश्या के यहाँ ठहरते हैं। वेश्या उनको प्रेम पाश में बाँधने हेतु शारीरिक चेष्टाओं द्वारा प्रयत्न करती है। किन्तु मुनिवर अपनी अंकप आस्था के कारण संयम मार्ग से नहीं डिगते दूसरी और एक अन्य कमजोर आस्था वाले मुनिराज संयम से डिग जाते हैं और कोशाम्बी के चरणों में लोट जाते हैं। इस प्रकार समान परिस्थितियों में सम्यम दर्शन की दृढ़ता किस तरह संयमी की रक्षा करती है। इसका प्रतिपादन करना इस कृति का लक्ष्य है। इस काव्य का स्थाई भाव निर्वेद है जो शांत रस की सृष्टि करता है। कोशा की सुंदरता कामातुरता उसके अनुभाव, प्रकृति के उद्दीपक रूप वर्णन लौकिक श्रृंगार की श्रृष्टि करते है इस तरह यह कृति काव्य कला सम्पन्न हो गई है।

(5) रेवंत गिरि रास – इसमें जैन तीर्थस्थल रेवंत गिरि के महत्व, उसकी पौराणिकता, ऐतिहासिकता एवं प्राकृतिक सौंदर्य के माध्यम से सुंदर भावों का वर्णन किया गया है। गिरनार, नेमिनाथ, गिरनार के संघपति, अंबिका, यक्ष तथा मंदिरों की भव्यता और पुण्यार्जन की दृष्टि से रेवंतगिरी के दर्शन पूजा का महत्व बताना

इस कृति का उद्देश्य है । दानवीरों की उदारता, धर्मनिष्ठा, मूर्ति की अतिशयकारी शक्तियों का महिमागान भी इस कृति में किया गया है। किन्तु सामान्य सहृदय के लिये वे स्थल अधिक रमणीक लगते हैं जिसमें प्राकृतिक सौंदर्य के चित्र अंकित किये गये हैं। कवि ने यह भी दर्शाया है कि गिरनार पर्वत की यात्रा का यह पुण्य प्रताप है कि, ज्यों ज्यों उसके शिखर पर भक्त आरोहण करता है वैसे वैसे उसके चित्त से सांसारिक वासनायें स्वतः हटती जाती है। जैसे जैसे ठंडा जल अंग पर बहता है वैसे वैसे कलियुग की विषय वासनायें भी धुलती जाती हैं। निझर को छूती हुई शीतल वायु के स्पर्श से सांसारिक दुखों की अनुभूति से तीर्थयात्री मुक्त हो जाता है। इस कृति में अर्थालंकार, शब्दालंकार का प्रयोग बड़ी निपुर्णता के साथ किया गया है। वे रसानुभूति में सहायक की भूमिका निभाते हैं।

(6) नेमिनाथ गिरि रास – यह 58 छंदों का काव्य ग्रंथ है। इसके रचयिता सुमतिगणि है। इस कृति में नेमिनाथ और कृष्ण को रिश्ते का भाई बताया गया है। दोनों की चारित्रिक विशेषताएँ जैन धर्म के आदर्शों को ग्रहण किये दर्शायी गई हैं।

नेमीनाथ रास – इसमें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ के बाल्यकाल से वैराग्य तक का संक्षेप का वर्णन किया गया है। यह 58 छंद की रचना है। नेमिनाथ के पराक्रम, विवाह, वैराग्य तथा तपस्या से संबंधित प्रसंगों प्रसंग है। इसमें आत्मा को कर्मबद्ध संसारी दशा से कर्ममुक्त परमात्म दशा तक पहुँचने के पुरूषार्थ का वर्णन है। अंत में निर्वेदभाव के निरूपण द्वारा शांत रस की सृष्टि की गई है। इसमें नेमिनाथ की बारात के मांसाहारी राजाओं के भोजन हेतु पकड़े गये हिरणों के करूण चीत्कार की घटना को वैराग्य का निमित्त बताया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, पांच पापों का त्याग कर क्रोध मान माया लोभ का जीतने के तपश्चरण को मोक्ष का मार्ग निरूपित किया गया है। नायिका राजमती जिसका विवाह नेमिनाथ से होने वाला था वह भी जिन दीक्षा लेकर तपश्चर्या करती दर्शायी गयी हैं।

(7) फागु काव्य – रास परम्परा की भाँति फागु काव्य परम्परा भी आदिकालीन जैन कवियों की महत्वपूर्ण काव्य विधा रही है। गुजरात एवं राजस्थान में फागुन मास में बसंतोत्सव के अवसर पर जनसाधारण द्वारा विभिन्न प्रकार के लोक काव्य गाये जाते थे। इनकी लोकप्रियता देखते हुये जैन कवियों ने तीर्थंकरों एवं अन्य मोक्ष मार्गी महापुरूषों के उपदेशों के प्रचार के लिए फागु–शैली की रचनाओं को माध्यम बनाया। जैन कवियों ने प्रारंभ में नारी सौंदर्य एवं मादकता के चित्र प्रस्तुत कर बाद में उनकी क्षण भंगुरता दिखायी है। और जीवन की मादकता को निरर्थक और अंततः दुखरूप दर्शाकर उनसे विरक्ति धारण, मोक्ष मार्ग अपनाने की प्रेरणा इन कृतियों के माध्यम से दी है। जिन चिन्द सूरिफागु, स्थूल भद्र फागु, नेमिनाथ भागु, बसंत विलास फागु इस शैली की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

(8) चतुष्पदी काव्य – आदिकाल के जैन काव्य धारा में चतुष्पदी या चौपई संज्ञाक प्रबंध रचनाएँ भी उपलब्ध होती है। इनमें जिनदत्त चौपाई एवं नेमिनाथ चौपई उल्लेखनीय हैं। जिनदत्त चौपई के रचयिता श्ल्ह कवि माने जाते हैं। इसकी रचना 1297 ई. में हुई थी। इसमें 554 छंद हैं। मुख्य रचना चौपाई में होते हुए भी बीच–बीच में वस्तुबंध, दोहा, नाराच और अर्ध नाराच छंदों का भी व्यवहार किया गया है।

नेमिनाथ चौपाई के रचनाकार विनयचन्द्र सूरि है। राजमती के विवाह की तैयारियाँ, नेमिनाथ की बारात का आगमन, पशुदया के कारण वैराग्य और सबकुछ त्याग कर आत्मा से परमात्मा बनने के लिए तपश्चरण के लिए जाने की घटना इस कृति का मुख्य प्रतिपाद्य है। बारह–मासा शैली में राजुल की विरह वेदना का चित्रण और अंत में स्वयं मोहनी कर्म पर विजय हेतु आर्यका दीक्षा लेकर जाना आदि प्रसंगों के भावात्मक वर्णन ने कृति को काव्यात्मक ऊँचाई प्रदान की है।

जैन साहित्य धारा की सामान्य विशेषताओं पर विचार करने पर निम्न तथ्य सामने आते हैं।

1. इन कृतियों में सांसारिक भोग वैभव की परिणति दुखात्मकता में दर्शायी जाती है।

NOTES

2. व्यक्तियों के चारित्रिक अधःपतन का कारण आत्मा से विमुख होकर सांसारिक पदार्थों में राग द्वेष करना बताया जाता है।

3. इनमें क्रोध मान, माया, लोभ को जीतकर आत्मा का परमात्मदशा ग्रहण करना दर्शाया जाता है।

शिल्प की दृष्टि से जैन कवियों का झुकाव जनभाषा, उसके मुहावरों लोकोक्तियों की ओर रहता है। जैन साहित्य धारा की कृतियों में लोक प्रचलित नायक–नायिकाओं के वृतान्त लिये जाते हैं। हिन्दू धर्म के तथा अन्य सम्प्रदायों के देवी देवताओं तथा महापुरूषों को जैन दर्शन पर आधारित मोक्ष मार्ग पर चलते दिखाया जाता है।

3. **नाथ साहित्य धारा** – आदिकाल में सिद्धों की योगसाधना में भोग की प्रधानता हो गई। इसकी प्रतिक्रिया से योग साधना की हठयोगी पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। राहुल जी ने नाथपेथ को सिद्धों का ही विकसित रूप माना है। इसके आदिगुरू गोरखनाथ थे। ये सिद्धों में भी गिने जाते हैं। ये मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य थे। इन्होने साधना के क्षेत्र में भोग तत्वों का विरोध किया है। इनके द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या 40 बतायी जाती है। किन्तु गोरखवाणी के संकलनकर्ता बड़थ्वाल इनकी संख्या 14 मानते हैं। कहा जाता है कि गोरखनाथ के प्रभाव से शैवों एवं शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन साधना पद्धतियों के योगमार्गी गोरखपंथ में मिल गए थे। इनकी रचनाओं में गुरू की महिमा, ऐन्द्रिक इच्छाओं पर नियंत्रण, प्राण साधना, सांसारिक विषय वस्तुओं से विरक्ति, मन को वश में करना, कुण्डलिनी जागरण, शून्य समाधि से संबंधित प्रक्रियाओं का वर्णन मिलता है और इन्हें अपनाने की प्रेरणा देने वाले भाव प्रगट किये गये हैं। इनके काव्य में जीवन की अनुभूतियों को महत्व दिया गया है। गोरखनाथ की हठयोग साधना में ह का अर्थ सूर्य नाड़ी है। ठ का अर्थ चन्द्र नाड़ी है। इनके अनुसार मस्तिष्क में ब्रह्माकमल नामक स्थान में ब्रह्मा का वास है। और मूलाधार चक्र (रीढ़ की हड्डी का सबसे निचला भाग) में प्राण वायु ससुप्त अवस्था में सर्प के समान कुण्डलिनी मारकर पड़ी रहती है। जब तक ऐसी अवस्था रहती है जीव दुखमय अवस्था में रहता है। किन्तु जब शरीर और मन को पवित्र करने के बाद कुंडलिनी शक्ति (प्राण वायु) को सूर्य और चन्द्र नाड़ी से रोककर सुषुम्नामार्ग से ब्रह्मा कमल की ओर ले जाया जाता है तो जीव को ब्रह्मानुभूति की अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार की साधना पद्धति में सहायक उपायों के प्रति अपनत्व भाव तथा अन्य सांसारिक विषय वासनाओं के प्रति विरक्ति मूलक भावों का प्रतिपादन ही नाथ साहित्य का प्रतिपाद्य रहा है। इनकी कविताओं में उलटवासी शैली का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार की शैली में शब्दों का अभिधार्थ उसके प्रतीकार्थ या अभिप्रेत अर्थ से एक दम उल्टा होता है। परम्परागत ज्ञान एवं कल्पना के आश्राय से ही अभिप्रेत अर्थ तक पहुँचा जाता है। कबीर पर नाथों का प्रभाव इस शैली के अनुकरण में दिखायी देता है।

नाथ पंथी साहित्यकारों में चौरंगी नाथ, गोपीचंद भरथरी, चुणकर नाथ तथा जलंधरी पाव ग्रसि) है। इन कवियों ने अपनी साधना तत्वों के वर्णन के साथ–साथ अन्य मतों में प्रचलित विश्वासों एवं रीतियों का खंडन अपनी उक्तियों में किया है। इनके साहित्य में अवतारवाद का निषेध किया गया है और ब्रह्मा के रहस्यात्मक रूप और उसे पाने के उपायों का मंडन किया गया है। जाति पातिगत ऊँच–नीच, छुआ–छूत तथा बाह्य क्रियाकांडों को धार्मिक मानने का इन्होने प्रबल विरोध किया है। सि)ों तथा जैन साहित्यकारों की भांति नाथ पंथियों ने भी जनभाषा को महत्व दिया किन्तु जहाँ प्रतीकात्मक शैली या संधा भाषा का प्रयोग किया है वहाँ क्लिष्टता आ गयी है। उलटवासियों में तो प्रतीक एकदम क्लिष्ट हो गए हैं। कहीं कहीं अश्लीलता दोष भी दिखायी देता है।

नाथ साहित्य के ग्रंथ – गोरखनाथ या गोरक्षनाथ के नाम से अनेक ग्रंथ प्राप्त हुये हैं। डॉ. बड़थवाल ने गोरखबानी में इनमें से कुछ का प्रकाशन कराया था। सबदी, गोरखनाथ की सबसे प्रमाणिक रचना है। गोरखनाथ के नाम से गोरखबोध ग्रंथ भी प्राप्त हुआ है। यह दो साधकों की संवाद शैली में लिखा गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार यद्यपि यह ग्रंथ गोरखनाथ के द्वारा लिखा कहा जाता है। तथापि इसे उनके गुरू मत्स्येन्द्र नाथ के सि)ांतों का व्याख्यात्मक ग्रंथ ही कह सकते है। इसमें गौरखनाथ प्रश्न करता है और उत्तर देने वाले गुरू मत्स्यन्द्र नाथ। इसमें आत्मा, मन, पवन, नाद, बिन्दु, सुरति और निरति आदि का सुंदर का निरूपण किया गया है। गौरख के पदनाम से जो रचनायें मिली हैं, उनकी प्रमाणिकता खोजना एक कठिन कार्य है क्यों कि इनकी भाषा काफी बदली हुई है। इसमें से कई पद कबीर, दादू और नानक के नाम से भी प्रचलित किये गये हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर चुके हैं। इनमें से कुछ का जोगीड़ा रूप में व्यवहार होता है और कुछ लोक में अनुभव सि) ज्ञान के रूप में चल पड़े हैं यह पद मूलतः योगियों के लिये लिखे गये

है अतः उसमें साधना मूलक प्रक्रियाओं का वर्णन है। कुछ पदों में नैतिक विश्वासों का प्रतिपादन है जो आगे चलकर ब्रह्मरहस्यानुभूतिक्र में विकसित हुये प्रतीत होते हैं। इन पदों में चित्त की शु)ता गुरू का महत्व, मानसिक दृढ़ता, काम, क्रोध, लोभ पर विजय और संसार के इष्ट, अनिष्ट प्रसंगों में समता रखने की इच्छा व्यक्त की गई है, निम्न पद उदाहरण दिया जा रहा है।

हसिबो खेलिबो रहिबा रंग
काम, क्रोधा न करिबा संग
हँसिबा, खेलिबा, गाइबा, गीत
दिढ़ करि राखिबा अपना चीत
हँसिबा खेलिबा धारिबा ध्यान
अहि विधि कथिबा ब्रह्मा ज्ञान
हँसे खेले ना करे मन भंग
ते निहचल सदा नाथ के संग

इसी तरह

नौ लख पातरि आगे नाचे पीछे सहज अखाड़ा
ऐसे मन ले योगी खेले तब अंतरि बसे भंडारा

सहज जीवन और योगिक क्रियाओं को जो नहीं कर सकते नाथ पंथी उन पर दया और क्षोभ के भाव प्रगट करते हैं तथापि इनके द्वारा ऐसे पद भी लिखे गये हैं जिनमें प्रतिपादित आर्दशों का पालन प्रत्येक गृहस्थ कर सकता है जैसे–

हबकि न बोलिबा, ढबकि न चालिबा, धीरे धीरे धरिबा पाँव
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणन्त गोरख राव

सहज शीलवान गृहस्थ को गोरखनाथ गंगाजल के समान पवित्र मानते हैं, वे कहते हैं–

सहज शील का धरे शरीर, सो गिरही गंगा का नीर

इन पदों में ब्रह्मचर्य, वाणी में संयम, तन और मन की पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, पाखंड तथा वाह्य कर्मकाण्डों की उपेक्षा का निरूपण है, गौरखनाथ ने मद्य, मांस, मदिरा के पूर्ण त्याग पर जोर दिया है। अनेक पदों में इस प्रकार की साधना विधियाँ भी बतायी गयी है, जिनके करने से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। नाथ पंथी मान्यता के अनुसार मानव शरीर में पांच अत्यंत रहस्यमय वस्तुएँ हैं। इनमें से किसी एक को भी वश में कर लेने से मनुष्य को सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह पांच रहस्यमय वस्तुएँ हैं मन, प्राण, शुक्र, वाक और कुण्डलिनी। इन्हीं पांचों के संयमन के तरीकों को राजयोग, हठयोग, वज्रयान, जपयोग और कुण्डलिनी योग कहा जाता है नाथपंथी योगियों ने अपने ग्रंथों में उक्त योगिक क्रियाओं से संबंधित साधना क्षेत्र में आयी विकृतियों को दूर करने वाले संदेश भी दिये है।

5. **रासो काव्य–धारा** – इस काव्यधारा के काव्य जैन साहित्य धारा के कवियों द्वारा रचित रास–काव्य से भिन्न हैं। वीरगाथापरक रासो काव्यों का संबंध राजाओं की प्रशंसा से है। इनका आकार प्रकार राजाओं की वेश–परम्परा के साथ बढ़ता रहा है। रासो काव्यों में प्रायः यह बात देखने को मिलती है कि उसके मूल रचयिता ने जिस राजा की प्रशंसा में काव्यग्रंथ लिखा उसी राजा के उत्तराधिकारी ने उसी कवि से अथवा अन्य दरबारी कवि से उस ग्रंथ में स्वयं के बारे में प्रशंसात्मक वर्णन जुड़वा लिये हैं। यही कारण है कि आदिकाल में लिखे रासो ग्रंथ में मध्यकाल तक के उत्तराधिकारी राजाओं के प्रसंग जुड़े हुए दिखायी देते हैं। इस तरह आदिकालीन रासो ग्रंथों में बहुत से अंश प्रक्षिप्त हैं और शोधकर्ताओं को मूल अंश का पता लगाने में काफी मेहनत करना पड़ती है। आदिकालीन वीरगाथा परक रासो काव्यों में कतिपय उल्लेखनीय काव्य ग्रंथों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :

(1) खुमाण रासो – इसका मूल रूप नवीं शताब्दी में लिखा गया। यह खुमाण नरेश की प्रशस्ति में लिखा काव्य है। उन्हीं के समकालीन कवि दलपत विजय द्वारा यह रचित है। इस ग्रंथ की प्रमाणिक हस्तलिपि पूना संग्रहालय में सुरक्षित है। यह 5 हजार छंदों की विशाल काय कृति है। इसमें राजाओं के युद्धों, विवाहों श्रृंगारिक प्रसंगों, दानवीरता, कला मर्मज्ञाता का वर्णन है। श्रृंगारिक वर्णन हेतु नायक नायिका भेद, षट ऋतु वर्णन के परम्परागत साँचों का प्रयोग भी किया गया है। राज्य विस्तार हेतु युद्ध, आत्मरक्षा हेतु युद्ध के साथ–साथ विवाह हेतु युद्धों का वर्णन भी किया गया है। युद्ध में सफलता एवं विवाह के बाद श्रृंगार की स्थितियों का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसमें दोहा, सवैया, कवित्त छंदों का प्रयोग बहुतायत से किया गया है। इसकी भाषा राजस्थानी हिन्दी है।

(2) बीसल देव रासो – इसकी रचना नरपति नाल्ह कवि द्वारा हुई थी। वस्तुतः यह वीर गाथा न होकर एक श्रृंगार गाथा है। इसका रचनाकाल 1016 ई. माना गया है। डॉ. नगेन्द्र का मत है कि बीसलदेव रासो मूलतः गेय गीत था अतः इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है। यह 128 छंदों की रचना है। जिसमें भोज परमार की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव के विवाह का वर्णन है। विवाह के बाद राजा का राजमती की बात पर रूष्ट होकर परदेश चले जाना, उसके वियोग में राजमती की मनः स्थिति, पश्चाताप, मिलनाकांक्षा, चारित्रिक दृढता बनायें रखना तथा अंत में मिलन होना इन प्रसंगों के भावात्मक वर्णन कवि ने प्रस्तुत किये हैं। इसमें सामंतकालीन पुरूषों के मनमाने पन, बड़बोलापन, मिथ्या अहंकार का वर्णन करते हुए नारी की कारूणिक स्थिति का मार्मिक वर्णन है। नारी के स्वाभिमान, एक निष्ठ पतिव्रता धर्म का आदर्श भी कवि ने प्रस्तुत किया है। कवि ने प्रकृति के रमणीय दृश्यों को नायिका की भावनाओं को उद्दीप्तता प्रदान करने वाली क्षमता के साथ चित्रित किया है।

(3) हम्मीर रासो – प्राकृत पिंगल में इस ग्रंथ के कुछ छंद मिले हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुमान था कि इसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन होगा तथा उसके माध्यम से हम्मीर की बहादुरी और अन्य गुणों की प्रशंसा की गयी होगी किन्तु राहुल जी का मत है कि इन छंदो की रचना जज्जल नामक कवि ने की है। शार्गधर नामक कवि द्वारा रचित हमीर रासो की प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।

(4) परमाल रासो – इसे आल्हा खण्ड भी कहा जाता है। यह लोक में गये काव्य था अतः इसका मूल रूप परिवर्तित हो गया है। इसमें स्पष्ट रूप से अनेक अंश बाद में जोड़े गए दिखते हैं। श्याम सुंदरदास ने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा इसके मूल रूप को निर्धारित करके प्रकाशित कराया है फिर भी इसे निर्विवाद रूप से प्रमाणित रूप नहीं कहा जा सकता। इसके रचयिता जगनक कवि माने जाते हैं। ये महोबा के राजा परमर्दिदेव के आश्रित थे। आल्हा–ऊदल नामक दो सरदारों की वीरता पूर्ण लडाइयों के वर्णन द्वारा इसमें स्वामी भक्ति, राज्य भक्ति, साहस शौर्य के प्रभावशाली विम्ब प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें वीरता का अत्यंत प्रौढ़ रूप दिखायी देता है। भावों के अनुरूप शब्द चयन, ओजगुण का समावेश तथा लय और तालबद्ध गेयता इसकी विशेषता है।

(5) पृथ्वीराज रासो – पृथ्वीराज रासो आदिकालीन वीरगाथा परक रासो काव्य धारा की सबसे महत्वपूर्ण कृति है। यद्यपि इसके संबंध में विद्वानों में सबसे अधिक विवाद रहे हैं। इसके रचयिता चंद वरदायी माने जाते है। ये पृथ्वीराज चौहान के सखा, सामंत, मंत्री और राजकवि थे। इसकी 60 से भी अधिक प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिन्हें 4 भागों में विभाजित किया गया है। इतिहास को कसौटी मानने वाले विद्वानों ने इसे सर्वथा अप्रमाणिक ग्रंथ माना है। किन्तु डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि यह मानते है कि काव्यग्रंथों के मूल रूप में परिवर्तन होने से उसके अस्तित्व को पूर्णतः नकारना उचित नहीं। काव्य ग्रंथों में कल्पना तो प्रधान रूप से रहती ही है। अतः उसका महत्व काव्य गुणों के आधार पर ही आंकना चाहिए। कर्नल टाड ने इसकी वर्णन शैली की महत्ता देखते हुये 30 हजार छंदों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने भी इसका प्रकाशन आरंभ किया था। किन्तु बूलर ने पृथ्वीराज विजय ग्रंथ के आधार पर इसे अप्रमाणिक कहकर विवाद खड़ा किया। बाद के कुछ विद्वानों ने अतिवादी दृष्टि से विचार कर इसकी प्रमाणिकता अप्रमाणिकता के संबंध में ज्यादा जोर दिया। किन्तु आधुनिक साहित्य मनीषियों ने इसे साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान माना है और मूल रूप की खोज को एक महती आवश्यकता बतलाया है।

अप्रमाणिकता को दर्शनों वाले दृश्य

1. रासों में वर्णित अनेक प्रसंग एवं घटनाएँ इतिहास से मेल नहीं खातीं।
2. पृथ्वीराज की मां का नाम कर्पूरी था रासों में कमला बताया गया है।
3. पृथ्वीराज द्वारा राजा भीमसिंह का बध इतिहास विरू) है।
4. रासो मैं पृथ्वीराज के 14 विवाह ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नही खाते।
5. पृथ्वीराज के हाथों गौरी का बध इतिहास विरू) है।
6. रासो में दी गयी तिथियाँ इतिहास सम्मत नहीं ।

प्रमाणिकता को दर्शाने वाले तथ्य

1. रासों की लघुतम प्रति में इतिहास संबंधी बेमेलपन नहीं है।
2. रासो इतिहास ग्रंथ नहीं है काव्य ग्रंथ है। अतः इतिहास की घटनाओं तथा तिथियों को मापदंड बनाना निरर्थक है।
3. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार रासों में शुक–शुकी संवाद की काव्य रूढि का प्रयोग किया गया है। इस शैली में लिखित अंश मूल मानना चाहिए। अन्य अंशों के प्रक्षिप्त होने (परिवर्तित होने या नया जुड़ा होने) की संभावना मानना चाहिए।
4. चूंकि चंद लाहोर का निवासी था अतः अरबी–फारसी के शब्दों का मेल देखकर अप्रमाणिक कहना गलत है।

डॉ. नगेन्द्र जैसे विद्वानों का कथन है कि घटनाओं की ऐतिहासिकता को कसौटी बनायेंगे तो रामचरित मानस, सूरसागर, पद्मावत भी निरर्थक कृतियाँ हो जायेंगी। अतः यही मानना उचित है कि पृथ्वीराज रासो मूल रूप में आदिकाल में लिखा गया काव्य ग्रंथ है। इसके रचनाकार पृथ्वीराज के दरबारी कवि और मित्र चंद बरदायी थे। इसमें प्रक्षिप्त अंश भी है जिन्हें खोज करके शैन–शैन अलग भी किया जा सकता है। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से पृथ्वीराज आदि काल की महत्वपूर्ण रचना है। इसमें वीर और श्रृंगार दो रसों की प्रधान रूप से निष्पत्ति करायी गयी है। कवि ने पृथ्वीराज की वीरता और शौर्य का चित्रण जितने प्रभावशाली ढंग से किया है। उसी प्रकार उसकी चित्तवृत्ति श्रृंगार की व्यंजना में भी रमी है। यद्यपि यु) की प्रेरणा नारी का रूपाकर्षण और उसे पाने की ललक है। फिर भी प्रेम और शौर्य के चित्रण में नैतिक मूल्यों की सुरक्षा प्रतिपाद्य भाव को सत्विकता देती है। वीर और श्रृंगार रस के सहयोगी अन्य भावों का वर्णन भी पृथ्वीराज रासो में मार्मिक है। इस कृति की भाषा में ब्रजभाषा और राजस्थानी बोलियों का मिश्राण है। प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों का मेल भी इसमें दिखायी देता है। इसमें अनेका अनेक अलंकारों का सफलता से प्रयोग किया गया है। कथा को विस्तार देने के लिए पृथ्वीराज रासों में कुछ कथानक रूढियाँ अपनायी गई है। कुछ प्रमुख रूढ़ियाँ इस प्रकार है :

(1) कहानी कहने वाला सुग्गा, (2) स्वप्न में प्रिय का दर्शन पाकर आसक्त होना, चित्र देखकर किसी पर मोहित हो जाना, भिक्षुओं या बंदियों के मुख से कीर्ति वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना, (3) मुनि का शाप, (4) रूप परिवर्तन, (5) लिंग परिवर्तन, (6) परकाय प्रवेश, (7) आकाश वाणी, (8) अभिज्ञान या सहिदानी, (9) परिचारिका का राजा से प्रेम और अंत में राजकन्या और रानी की बहिन के रूप में अभिज्ञान, (10) नायक का औदार्य, (11) षड्ऋतु और बारह मासा के माध्यम से विरह वेदना, (12) हंस कपोत आदि से संदेश भेजना, (13) घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँच जाना, मार्गभूलना, मान सरोवर पर किसी सुंदरी या उसकी मूर्ति का दिखायी देना फिर प्रेम और प्रयत्न, (14) विजनवन में सुंदरियों से साक्षातकार, (15) युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से, या कापालिक की बलिवेदी से सुंदरी स्त्री की रक्षा और प्रेम, (16) गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार, गणिका माता का तिरस्कार, (17) भरण्ड और गरुड़ आदि के द्वारा प्रिय युगलों का स्थानांतरण, (18) जल की खोज में असुर का दर्शन और प्रिया का वियोग, (19) उजड़े शहर में नायक द्वारा सम्मान पाना, (20) प्रिया की काम पूर्ति के लिए प्रिय द्वारा असाध्य संकल्प लेना तथा (21) शत्रु संतापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना परिणाम स्वरूप युद्ध इत्यादि।

रासों में प्रेम संबंधी सभी कथानक रूढ़ियों का समावेश कुशलतापूर्वक किया गया है।

NOTES

6. लोक साहित्य धरा

आदिकाल में दरबारी तथा धार्मिक मत प्रचारक साहित्य के अतिरिक्त ऐसे जनकवियों द्वारा रचे साहित्य की भी एक धारा दिखायी देती है। जिसे लोक साहित्य धारा कहा जा सकता है। इस धारा के काव्य में निम्नकृतियाँ प्रसि) है।

ढोला–मारूरा दोहा – यह 11 वी शती का लोक भाषा काव्य है। इसकी रचना दोहों में हुई थी। किन्तु 17 वीं शती के आस पास कुशल राय वाचक ने इसमें कुछ चौपाइयाँ भी जोड़ दी है। इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राज कुमारी की प्रेम कथा का वर्णन है। पूगल में अकाल पड़ने के कारण राजा पिंगल विवश होकर राजा नल के राज्य में गए। पिंगल राजकुमार ढोला पर रीझ गई और उन्होने अपनी बेटी मारवणी का विवाह ढोला के साथ कर दिया। इस समय ढोला तीन वर्ष का था और मारवणी डेढ़ वर्ष की थी। जब ढोला बड़ा हुआ तो उसका दूसरा विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी के साथ कर दिया गया। इस पर मारवणी विरह में दुखी हो गई। उसने अपना विरह संदेश ढाढ़ियों के माध्यम से ढोला तक पहुँचाने की कोशिक की लेकिन मलवणी के अवरोधों के कारण वह संदेश ढोला तक नहीं पहुँचा। अंत में मारवणी का संदेश जब ढोला को मिला तो वह प्रेम विहल होकर मारवणी के पास गया। इस प्रकार इस लोक गाथा के द्वारा प्रेम श्रृंगार का मार्मिक चित्रण इस कृति में हुआ है। इसमें नारी ह्रदय की करूणाजनक स्थितियों का प्रभावी वर्णन हुआ है। ;तुओं का वर्णन उद्दीपन रूप में होकर प्रभाव को बढ़ाने में सहायक हुआ है। इस ति को आदिकालीन श्रृंगार परम्परा की अत्यंत महत्वपूर्ण कड़ी माना जाता है। रोडा कवि द्वारा रचित राउरवेल से आरंभ हुई प्रेम वर्ण न की परम्परा का विकास इसमें लक्षित होता है।

जयचंद प्रकाश और जयमयंक जस चन्द्रिका – इसकी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हुई हैं। जयचंद प्रकाश के रचनाकार भट्ट के दार माने जाते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार यह एक महाकाव्य था जिसमें जयचंद के प्रताप और श्रेष्ठ चारित्रिक गुणों का वर्णन था। जयमयंक, जसचंद्रिका के रचनाकार मधुकर कवि कहे जाते हैं। राव्ेडगरी ख्यात में इन दोनों कृतियों का उल्लेख मिलता है किन्तु इनकी प्रतियाँ अभी अप्राप्त हैं।

बसंत विलास – यह ति आदिकालीन हिन्दी साहित्य में अनुपम स्थान रखती है। इसकी रचना 1451 ई. पूर्व मानी जाती है। इसके रचना का का नाम विदित नहीं है। इसमें चौरासी दोहे हैं। इनमें बसंत ;तु तथा स्त्रियों की सुंदरता उनकी विलासपूर्ण मुद्राओं का प्रभावशाली वर्णन है। इसमें श्रृंगार रस की सृष्टि इतने शक्तिशाली रूप में हुई है कि आदिकाल के बारे इस धारणा को बदलना पड़ा कि यह युग मात्र धार्मिक साधना संबंधी उक्तियों तथा वीर भावना प्रधान राज प्रशस्ति का युग है। आदिकाल के लोक साहित्य में प्रेम श्रृंगार की ही प्रधानता लक्षित होती है।

खुसरो की पहेलियाँ – जनजीवन के साथ घुल मिलकर काव्य रचना करने वाले कवियों में खुसरों का नाम प्रमुख है। जन रंजन के लिए इन्होने पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी थीं। ये खड़ी बोली के प्रथम कवि माने जाते हैं। इनके द्वारा रचित बीस इक्कीस ग्रंथ प्राप्त है। इनमें ख़ालिक बारी, पहेलियाँ मुकरियाँ दो सुखने तथा गजल अधिक प्रसि) है। इनकी रचनाओं में मनोरंजन के साथ जीवन की विडम्बनाओं पर व्यंग्य भी किया गया है। रहस्य, चमत्कार, कुतूहल भावों का अच्छा प्रतिपादन खुसरों के काव्य में मिल जाता है। भावनाओं की गहराई तथा तीव्रता की दृष्टि भले ही खुसरो को काव्यात्मक उत्कृष्टता प्राप्त न हुई हो किन्तु खड़ी बोली की परम्परा विकसित करने में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। जनरंजन और विसंगतियों पर व्यंग्य की शुरूआत करने की दृष्टि से भी खुसरों का साहित्य विशिष्ट माना गया है। लिखित साहित्य में भले ही पहेली रचना शैली का विस्तार न हुआ हो किन्तु जनता में मौखिक रूप से इस शैली का प्रसार देखा जाता है। आधुनिक युग के बाल साहित्यकारों ने भी खुसरो की पहेली शैली का अनुकरण करना प्रारंभ किया है।

संदेश रासक – इसके रचयिता अब्दुल रहमान हैं। ये मुल्तान के निवासी थे और जाति के जुलाहे थे। राहुल सांकृत्यायन तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनका समय 11वी शती माना है। इसमें 223 छंद है। कुल मिलाकर 21 प्रकार के छंदों का प्रयोग इसमें किया गया है। रासा, गाहा, अडिल्ला, प)ड़िया प्रमुख हैं। इसकी नायिका एक पथिक से संदेश के रूप में अपनी विरह व्यथा का निवेदन करती है। इस निवेदन में विरह विदग्ध नारी की करुणामयी मन:स्थितियों का मार्मिक चित्रण है। विरहणी नायिका एक स्थल पर पथिक से कहती है कि मेरे स्वामी से कहना कि तुम्हारे जैसे पौरुष सम्पन्न पति के रहते हुए भी मेरा पराभव हो रहा है इसे कैसे सहन करूँ ? जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है वे ही विरह द्वारा जलाये जा रहे हैं। भाषा की दृष्टि से इसमें संक्रातिकालीन भाषा का अच्छा परिचय मिलता है।

सार–संक्षेप

हिन्दी साहित्य का आरंभ हिन्दी भाषा के आरंभ से जुड़ा है। चूंकि उत्तरकालीन उपभ्रंश या पुरानी हिन्दी भाषा का आरंभ सरहपाद की रचनाओं से माना जाता है। अत: उन्हीं से द्ध769 वी शतीऋ से हिन्दी साहित्य के आदिकाल का आरंभ माना जा सकता है।

हिन्दी के आदिकाल को वीरगाथा काल, सि)सामंत काल, प्रारंभिक काल, संधिकाल, चरणकाल नाम दिये गये। इन नामों का विवाद अभी खत्म नहीं हुआ अत: सर्वसम्मति के अभाव में प्रचलित आदिकाल नाम से काम चलाना उचित है।

आदिकाल में तीन स्रोतों से साहित्य सृजन हुआ।

(क) राजाश्राय प्राप्त कवियों द्वारा।

(ख) धार्मिक मतों के प्रचारक साधकों द्वारा।

(ग) लोक जीव से आये सामान्य वर्ग के कवियों द्वारा।

धर्म प्रचारकों के द्वारा रचित साहित्य धाराओं को सि) धारा, जैन साहित्य धारा, नाथपंथी साहित्यधारा में विभाजित करके अध्ययन किया जाता है।

राजाश्राय प्राप्त कवियों द्वारा रचित काव्य वीर गाथा काव्य धारा या रासो काव्य धारा कहलाती है। यह जैन कवियों की रास काव्य तथा लोक साहित्य की रासक काव्यधारा से भिन्न है।

बीसल देव रासो अन्य वीरगाथा परक रासो से भिन्न है। इसमें प्रेमश्रृंगार का निरूपण है। यह नायिका प्रधान ति है।

सि(ों तथा नाथों ने अपने मत के निरूपण के साथ अन्य मतों के विश्वासों तथा क्रियाकांडों एवं एकता विरोधी प्रथाओं जैसे जाति पांति, छुआ–छूत आदि का खण्डन किया है।

सि(ों तथा नाथों के काव्य में हठ योग साधना की क्रियाओं तथा अनुभवों को प्रतीकात्मक शैली में वर्णित किया गया है।

जैन साहित्य में आत्मा को ही शु) अवस्था में परमात्म दशा या परमात्मा माना गया है।

धार्मिक मतों पर आधारित सहित्य में संसार के प्रति विरक्ति और परमात्मा के प्रति आसक्ति के भाव वर्णित हैं।

वीर गाथा परक, रासो काव्य में प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं इसमें इतिहास सम्मत घटनाओं के साथ काल्पनिक घटनाओं का मेल है।

इतिहास की कसौटी पर कस कर इन कृतियों का मूल्यांकन करना अनावश्यक है क्यों कि मूलत: ये काव्यग्रंथ हैं अत: कल्पना तथा अन्य साहित्यिक गुणों के आधार पर इनकी विवेचना होनी चाहिए।

आदिकाल में लोक साहित्य के रूप में आयी कृतियाँ श्रृंगार तथा मनोरंजन से भरपूर हैं।

अभ्यास–प्रश्न

1. आदिकाल का सामान्य परिचय देते हुए उसकी प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।
2. आदिकाल की सिद्ध साहित्यधारा का परिचय दीजिए।
3. आदिकालीन नाथपंथी साहित्यधारा तथा जैन साहित्यधारा के तीन तीन प्रमुख कवियों का परिचय उनकी कृतियों का उल्लेख करते हुये दीजिये।
4. वीरगाथा परक काव्य की सामान्य विशेषताएँ बतलाते हुए पृथ्वीराज रासो का महत्व बतलाइये।

NOTES

5. निम्न कृतियों का सामान्य परिचय दीजिए।

   बीसलदेव रास

   संदेश रासक

   भरतेश्वर बाहुबली रास

6. नाथ साहित्य धारा में गोरखनाथ का स्थान बतलाइये।

7. पृथ्वीराज रासों की प्रमाणिकता

अध्याय – 5

चन्दवरदायी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- परिचय
- अध्ययन उद्देश्य
- चन्दवरदायी : जीवन परिचय
- 'रासो' शब्द की उत्पत्ति
- 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता
- 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व एवं काव्य–सौष्ठव
- रासो की भाषा
- वीर–काव्य–धरा में चन्दवरदाई का स्थान
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

1. परिचय

चन्दवरदायी तथा उनकी अमर कृति पृथ्वीराज रासो को लेकर सबसे अधिक वाद–विवाद हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों तथा विद्वान आलोचकों के बीच हुआ है तथा आज भी सर्वमान्य एवं प्रामाणिक रूप से इनके सम्बन्ध में कोई स्थापना सम्भव नही है। फिर भी हिन्दी के महाकाव्यों की सूची बनाई जाय तो उसमें प्रथम स्थान पर पृथ्वीराज रासो का नाम लिया जाता है और पक्ष–विपक्ष के तमाम तर्कों के बावजूद चन्दवरदायी को हिन्दी का प्रथम महाकवि।

हिन्दी में वीर काव्यों की परम्परा अत्यंत दीर्घ एवं विस्तृत है तथा इस धारा का प्रवाह आधुनिक युग तक निरन्तर प्रवाहित हो रहा है। इस परम्परा में कवि चन्दवरदायी का गौरवपूर्ण स्थान है, क्यों कि 'पृथ्वीराज रासो' ही हिन्दी का सर्वप्रथम ऐसा महाकाव्य है,जो वीर काव्य–धारा का प्रवर्तक एवं प्रेरणा स्रोत है। यह ग्रंथ हिन्दी के आदिकाल में ही लिखा गया था और उसके लेखक चन्दवरदायी थे। इसी कारण यह निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी की वीर–काव्य धारा के प्रतिनिधि कवियों में कवि चन्दवरदायी का स्थान सर्व प्रमुख है।

2. अध्ययन उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में कवि चन्दवरदायी तथा उनके द्वारा रचित महाकाव्य'पृथ्वीराज रासो' पर विस्तृत विवेचन किया गया है। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, काव्य–सौष्ठव, रासो की भाषा और वीर काव्य–धारा में कवि चन्दवरदायी का स्थान आदि पर विस्तार से अध्ययन किया गया है। अतः प्रस्तुत इकाई में कवि चन्दवरदायी और पृथ्वीराज रासो का समग्र अध्ययन पढ़ने को मिलेगा।

3. चन्दवरदायी : जीवन परिचय

महाकवि चन्दवरदायी के जीवन– वृत तथा उनके कवि कर्म के सम्बन्ध में जानकारी का सबसे प्रमुख स्रोत 'पृथ्वीराज रासो' है रासो द्वारा एक संकेत तो यह मिलता है कि चन्द तथा उनके चरित नायक पृथ्वीराज चौहान का जन्म–कर्म–मरण सब एक साथ हुआ। ऐसी ही जनश्रुति भी प्रचलित रही है। इस आधार पर रासो द्वारा संकेतिक पृथ्वीराज का जन्म वर्ष संवत् 1115 विक्र और मृत्यु संक्र 1249 विक्र यही महाकवि चन्द का भी जन्म एवं मृत्यु समय ठहरता है। रासो के ही हवाले से कुछ लोग संवत् 1206 विक्र मानते है। रासो में ही एक प्रसंग में यह कहा गया है कि पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर ने अपने श्वसुर अनंगपाल के यहाँ जन्में अपने पुत्र को सुरक्षित अजमेर लाने के लिए अपने विश्वासपात्र लोहाना और चन्द को भेजा। छंद इस प्रकार है –

तब बुलाय सोमेसवर लौहारी अरू चंद ।

लै आवहु अजमेर घर पहोते घरहु सु इंदं ।। छंद संक्र 695

इस छंद से इतना स्पष्ट है कि चन्दवरदायी पृथ्वीराज से कम–से–कम इतना पहले पैदा हुए थे कि पृथ्वीराज के जन्म के समय उनके पिता के दरबार मे विश्वासभाजन एवं निष्ठावन सरदार के रूप में कार्यरत थे। डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी के अनुसार ''इतना मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती कि चन्द महाराज सोमेश्वर के समय में ही दरबार में आ गया था और उनका कृपापात्र भी था, जिसके अन्य बीसों प्रमाण रासो में उपलब्ध है।''

एक अन्य मत के अनुसार महाकवि चन्द के पिता का नाम राव बेन माना जाता है तो दूसरे मत के अनुसार मल्ह को उनका पिता बताया जाता है। रासो में यह संदर्भ आया है कि चन्द के पिता ने सोमेश्वर को एक अवसर पर आशीर्वाद दिया था। इससे माना जाता है कि ये भट्ट ब्राह्मण थे तथा दिल्ली और अजमेर के दरबारों से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

महाकवि चन्द और उनके द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो को लेकर विद्वानों में सबसे अधिक मतभेदों के बावजूद वीर काव्य–धारा को प्रभावशाली एवं आकर्षण ढ्ग से प्रवाहित करने का सर्वप्रथम श्रेय कवि चन्दवरदायी को ही प्राप्त है।

4. 'रासो' शब्द की उत्पत्ति

NOTES

आदिकाल के वीरगाथात्मक ग्रन्थों का नाम प्राय: 'रासो' दिया गया है, परन्तु 'रासो' शब्द किस अर्थ का द्योतक है इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अभी तक विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अपने-अपने जो भी मत प्रकट किये हैं, वे इस प्रकार हैं :-

1. **राजसूय सम्बन्धी मत** – गार्सा-द-तासी नामक फ्रांसीसी विद्वान ने अपने 'हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उर्दू तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवियों का उल्लेख करते हुए चन्द कवि तथा उसके ग्रन्थ 'पृथ्वीराज राजसू' का उल्लेख किया है। यह 'राजसू' शब्द 'पृथ्वीराज रासो' की प्राचीन प्रतिलिपियों पर लिखा हुआ भी मिला है। अत: गार्सा-द-तासी ने इसी आधार पर यह स्वीकार किया है कि 'राजसू' या 'राजसूय' शब्द से बिगड़ कर 'रासौ' शब्द बना होगा।

2. **रहस्य सम्बन्धी मत** – कविराज श्यामलदास तथा डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'रासो' शब्द का विकास 'रहस्य' शब्द से माना है। उनके मत को 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्पादकों ने भी स्वीकार किया है।

3. **रसायण सम्बन्धी मत** – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रासो' शब्द का उद्‌भव 'रसायन' शब्द से माना है। आपने लिखा है कि 'यहाँ पर वीर-काल के उन ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है, जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं, या कहीं उल्लेख मात्र पाया जाता है, वे ग्रन्थ 'रासो' कहलाते हैं। कुछ लोग इस शब्द का सम्बन्ध 'रहस्य' से बताते हैं। पर 'बीसलदेव रासो' में काव्य अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अत: हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते-होते 'रासो' हो गया है।

4. **रास-सम्बन्धी मत** – 'रास' शब्द से 'रासो' शबद बनने का सर्वप्रथम उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' की भूमिका में मिलता है। डॉ० दशरथ शर्मा ने भी 'रासो' शब्द का उद्‌भव 'रास' ही स्वीकार किया है और लिखा है – 'रासो' मूलत: गानयुक्त नृत्य-विशेष से क्रमश: विकसित होते-होते उपरूपक और फिर उपरूपक से वीर रस के पद्यात्मक प्रबन्धों से परिणत हो गया। उक्त गानयुक्त नृत्य-विशेष से तात्पर्य 'रास' से है। 'रास' ब्रज प्रान्त का महत्त्वपूर्ण अभिनय है। उत्तर भारत में सर्वत्र रास-लीला का प्रचलन मिलता है। गीत-नृत्य के साथ 'रास' रचाने का उल्लेख हमारे ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत में भी मिलता है। कृष्ण और राधा की 'रासलीला' हमारे लिए अपरिचित नहीं। अत: 'रास' शब्द से ही 'रासो' का विकास हुआ होगा।

5. **रासक सम्बन्धी मत** – डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' शब्द का विकास संस्कृत के 'रासक' शब्द से स्वीकार किया है। वैसे 'रासक' का उल्लेख संस्कृत के अठ्ठारह उपरूपकों में मिलता है। इस प्रकार 'रासक' से ही 'रासो' शब्द बना है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी 'रासो' की व्युत्पत्ति 'रासक' से ही मानते हैं। आपका कहना है कि जिस प्रकार संस्कृत के 'घोटक' शब्द का ब्रजभाषा में 'घोड़ो' शब्द बन जाता है, वैसे ही 'रासक' का ब्रजभाषा में 'रासो' बना होगा। पं० चन्द्रबली पाण्डेय भी 'रासक' से 'रासो' का विकास सिद्ध करते हैं। उनका मत है कि जिस प्रकार संस्कृत के उपरूपक 'रासक' आदि दृश्य काव्य में नायक-नायिका अथवा नट-नटी के संवाद से श्रीगणेश होता है, वैसे ही 'पृथ्वीराज रासो' भी चन्द और उनकी पत्नी गौरी के संवाद से प्रारम्भ हुआ है।

6. **राजयश सम्बन्धी मत** – महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री तथा श्री विध्येश्वरी प्रसाद पाठक ने 'रासो' शब्द का विकास 'राजयश' से सिद्ध किया है। सम्भवत: 'राजयश' का अपभ्रंश रूप 'रायसा' हुआ होगा और उसी 'रायसा' से 'रासो' शब्द बना है।

इस प्रकार उक्त विभिन्न मतों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि न तो 'रासो' शब्द 'राजसूय' से निकला है, न यह 'रहस्य' का अपभ्रंश रूप है, न इसका विकास 'रसायण' से हुआ है, न इसे 'राम' से विकसित मान सकते हैं और न यह 'राजयश' का अपभ्रंश रूप है, अपितु यह 'रासो' शब्द संस्कृत के 'रासक' शब्द से ही बना है, क्योंकि इसका ज्वलंत प्रमाण अब्दुर्रहमान कृत 'संदेश रासक' ग्रन्थ है। 'संदेश रासक' का श्रीगणेश जिस प्रकार से हुआ है, उसी प्रकार 'रासो' ग्रन्थों का भी आरम्भ मिलता है। यद्यपि 'संदेश रासक' में युद्ध का वर्णन नहीं मिलता तथापि वह उ)त-प्रयोग-प्रधान गेय रूपक है। इसी का आगे विकास हुआ है। पहले 'रासो' काव्यों की रचना उ)त-प्रयोग-प्रधान गेय रूपकों के रूप में ही हुई होगी। धीरे-धीरे उनमें युद्ध और प्रेम का वर्णन होने लगा और फिर यह 'रासो' की परम्परा चल पड़ी। इसके लिए 'संदेश रासक' में आया हुआ

'रासउ' शब्द भी उल्लेखनीय है। वहाँ लिखा है – 'कह बहरु विणि वरउ रासउ भसियइ।' इस पंक्ति में 'रासउ' शब्द 'रासक' का ही अपभ्रंश रूप है। यही 'रासउ' शब्द भाषा–विज्ञान के सन्धि एवं एकीभाव सम्बन्धी नियम के अनुसार 'अ' तथा 'उ' की सन्धि हो जाने पर 'रासो' हो गया है। अतः 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रासक' से ही मानना सर्वथा समीचीन है।

NOTES

5. 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता

महाकवि चन्दवरदाई रचित 'पृथ्वीराज रासो' एक विशालकाय प्रबन्ध–काव्य है। हिन्दी में सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'रासो' में 69 समय तथा सर्ग हैं और यह लगभग 2500 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। अब इस ग्रन्थ का प्रकाशन साहित्य–संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर की ओर से चार भागों में हो चुका है। इसके सम्पादक कविराव मोहनसिंह हैं। इसमें आदिकथा से लेकर पृथ्वीराज तथा शहाबुद्दीन गौरी के अन्तिम युद्ध एवं पृथ्वीराज के स्वर्गवास तक की कथा केवल 61 समयों में दी गई है। इसका आरम्भ संवाद के रूप में हुआ है, जिनमें कवि चन्द और उसकी पत्नी में प्रेमपूर्वक विवाद छिड़ जाता है। कवि कहता है कि मैं दिल्लीपति के गुण और कीर्ति का आदि से अन्त तक सम्पूर्ण रूप से वर्णन करूँगा। परन्तु उसकी पत्नी यही कहती है कि हे चतुर स्वामी! आप मन में ईश्वर का चिन्तन कीजिए। हे कवि! उसके सामने दिल्ली नरेश चौहान की कीर्ति क्या है ? मानव–शरीरधारी को मन से हरि–रस का ही लाभ लेना चाहिए। तत्पश्चात् संऋ 2020 विऋ सन् 1963 में 'पृथ्वीराज रासउ' का एक सर्वथा नवीन एवं वैज्ञानिक संस्करण साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी से प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक पाठालोचन के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० माताप्रसाद गुप्त हैं। इसमें केवल 12 सर्ग हैं और मंगलाचरण से लेकर शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के अन्त तक सारी कथा केवल 628 पृष्ठों में दी गई है। यह ग्रन्थ हिन्दी–साहित्य के क्षेत्र में आदि महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। पहले तो इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण हिन्दी–क्षेत्र में बड़ा आदर एवं सम्मान था और 'संयोगिता–स्वयंवर' तथा 'पृथ्वीराज द्वारा गोरी–वध' की कथाएँ इतनी अधिक प्रचलित थी कि इन कथाओं के आधार पर कितने ही नाटकों का निर्माण हुआ और कितनी ही कम्पनियों द्वारा उनका अभिनय भी बड़ी लगन के साथ किया गया। पहले कर्नल टॉड तथा गार्सा–द–तासी भी इसे प्रामाणिक मानते थे, परन्तु हस्तलिखित प्रतियों की खोज करते समय सन् 1805 ईऋ में डॉ० बुलर को कश्मीर में एक जयानक कवि द्वारा लिखित 'पृथ्वीराज–विजय' नामक संस्कृत महाकाव्य शारदा लिपि में लिखा हुआ प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ पर द्वितीय राजतरंगिणी के कर्ता जोनराज की टीका भी मिली। इस ग्रन्थ के आधार पर जब डॉ० बुलर ने 'पृथ्वीराज रासो' की परीक्षा कराई, तब यह ग्रन्थ अनैतिहासिक एवं अप्रामाणिक ज्ञात हुआ। इसी को आधार बनाकर प्रसिद्ध इतिहासकार पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने तो यहाँ तक लिखा कि 'पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमें राजपूतों की उत्पत्ति की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई–बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत–सी घटनाओं के संवत् अशु) और कल्पित हैं।' फिर क्या था, रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह होने लगा और कितने ही विद्वान् इसको अप्रामाणिक एवं जाली सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे। रासो को अप्रामाणिक एवं जाली मानने वालों में से जोधपुर के कविराजा मुरारीदान, उदयपुर के कविराजा श्यामलदान, डॉ० बुलर, मुंशी देवीप्रसाद, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने मुख्यतया निम्नलिखित चार तथ्यों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रमाणिक सिद्ध किया है :

(1) ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ :

चन्दवरदाई रचित उपलब्ध 'पृथ्वीराज रासो' की जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय', 'हम्मीर महाकाव्य', तत्कालीन शिलालेख आदि से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि उसमें कितने ही स्थलों पर ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं, जो इस प्रकार हैं –

(1) रासो में राजपूतों की वंशावली का जो वर्णन मिलता है, वह सर्वथा अनर्गल जान पड़ता है, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' में जिन चौबालीस नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें से केवल सात नाम ही बिजोलिया के शिलालेख तथा जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' में मिलते हैं, शेष सभी नाम कपोल–कल्पित हैं।

(2) रासो में चौहानों की उत्पत्ति वसिष्ठ द्वारा रचे हुए यज्ञकुण्ड से बतायी गई है, जबकि 'पृथ्वीराज विजय' में चौहानों को सूर्यवंशी कहा गया है, जिसकी पुष्टि अजमेर के 'ढाई दिन के झोंपड़े' की मस्जिद से प्राप्त शिलालेख से भी हो जाती है, क्योंकि उसमें चौहानों को सूर्यवंशी बताया गया है।

(3) रासो में पृथ्वीराज की माता का नाम कमला है तथा उसे दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री बताया गया है, परन्तु 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी दिया हुआ है और उसे त्रिपुरी के हैहयवंशी राजा 'तेजल' (अचलराय) की पुत्री कहा गया है।

(4) रासो में पृथ्वीराज को 11 वर्ष की अवस्था से लेकर 36 वर्ष की अवस्था तक 14 विवाह करते हुए बताया गया है, जबकि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यही ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज केवल 30 वर्ष की अवस्था तक ही जीवित रहे और 11 वर्ष की अवस्था में पृथ्वीराज ने मंडोवर के जिस राजा पड़िहार नाहरराय की पुत्री से विवाह किया था, वह राजा नाहरराय पृथ्वीराज से कई सौ वर्ष पूर्व हुआ था।

(5) रासो में पृथ्वीराज की बहिन पृथा का पाणिग्रहण मेवाड़ के राजा समरसिंह के साथ बताया गया है और लिखा है कि यह राजा समरसिंह शहाबुद्दीन गौरी के साथ युद्ध में मारा गया था, परन्तु समरसिंह के समय के उपलब्ध आठ शिलालेखों से पता चलता है कि एक राजा समरसिंह 1330 विक्र में तथा दूसरा राजा समरसिंह 1358 विक्र में हुआ था। अतएव स्पष्ट है कि राजा समरसिंह द्वितीय पृथ्वीराज की मृत्यु के लगभग 109 वर्ष बाद तथा प्रथम 81 वर्ष पश्चात् हुआ था। ऐसी दशा में पृथ्वीबाई के विवाह की कथा कपोल-कल्पित जान पड़ती है।

(6) रासो में पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु गुजरात के राजा भीम द्वारा बताई गई है और लिखा है कि अपने पिता का बदला लेने के लिए पृथ्वीराज ने गुजरात पर चढ़ाई की तथा भीमदेव को मारा और उसके पुत्र कचरारय को गद्दी पर बैठाकर गुजरात के कुछ परगने अपने राज्य में मिला लिये। ये दोनों बातें अनर्गल जान पड़ती हैं, क्योंकि 'प्रबन्ध-कोष' एवं शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि सोमेश्वर की मृत्यु 1236 विक्र में हुई थी और भीमदेव 1235 विक्र में बिल्कुल बाल्यावस्था में ही गुजरात की गद्दी पर बैठा था। इतनी छोटी अवस्था में भीमदेव कभी सोमेश्वर का वध नहीं कर सकता। साथ ही शिलालेखों से पता चलता है कि राजा भीम पृथ्वीराज की मृत्यु के 50 वर्ष बाद तक जीवित रहा। अतः पृथ्वीराज द्वारा उसका वध किये जाने की कथा भी कपोल-कल्पित ठहरती है।

(7) रासो में कन्नौज के राजा जयचन्द के राजसूय यज्ञ तथा संयोगिता स्वयंवर की कथा का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है, परन्तु इसका उल्लेख न तो तत्कालीन शिलालेखों में मिलता है और न 'पृथ्वीराज विजय' तथा अन्य सामाजिक ग्रन्थों में ही मिलता है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार यह कथा पूर्णतया कपोल-कल्पित है। इसमें सत्य इतना ही है कि पृथ्वीराज तथा जयचन्द दोनों समकालीन राजा थे।

(8) रासो में लिखा है कि दिल्ली के राज अनंगपाल ने अपने दौहित्र पृथ्वीराज को गोद लेकर संवत् 1138 विक्र में उसे दिल्ली का राज्य दे दिया था, परन्तु इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि दिल्ली का राज्य बीसलदेव ने पृथ्वीराज के पूर्व ही अपने राज्य में मिला लिया था।

(9) रासो में शहाबुद्दीन गोरी का वध पृथ्वीराज शब्द-बेधी बाण द्वारा गजनी में बताया गया है, परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि शहाबुद्दीन गौरी गक्खरों के हाथ से संवत् 1263 विक्र में धमेक नामक स्थान पर मारा गया था और पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् 1249 में हुई थी।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'पृथ्वीराज रासो' में अनेक अनैतिहासिक एवं कपोल-कल्पित बातें भरी हुई हैं। यदि चन्दबरदाई पृथ्वीराज के समसामयिक कवि होते और उसी समय इस ग्रन्थ की रचना करते, तो ऐसी अशुद्धियाँ कभी नहीं मिलती।

(2) तिथियों की त्रुटियाँ :

ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियों के अतिरिक्त रासो में जो तिथियाँ दी गई हैं, वे भी सर्वथा भ्रामक एवं अप्रामाणिक हैं, क्योंकि उनमें से किसी भी तिथि की पुष्टि तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थों एवं शिलालेखों से नहीं होती। जैसे रासो में पृथ्वीराज का जन्म संवत् 1155 विक्र में दिया गया है, जबकि ऐतिहासिक दृष्टि से पृथ्वीराज का जन्म संवत् 1220 में अथवा उसके कुछ पीछे सिद्ध होता है, क्योंकि 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार अपने पिता सोमेश्वर के देहान्त के समय (विक्र 1236 में) पृथ्वीराज

बालक था। रासो में संऋ 1138 विऋ में पृथ्वीराज का दिल्ली की गद्दी पर बैठना, संऋ 1151 विऋ में कन्नौज गमन तथा संऋ 1158 विऋ में शहाबुद्दीन गौरी से अन्तिम युद्ध होना बताया गया है, किन्तु ऐतिहासिक विवरणों एवं शिलालेखों से पता चलता है कि संऋ 1229 विऋ में पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य मिला था, 578 हिजरी अर्थात् संऋ 1248 विऋ में शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी गजनी से लाहौर आया था और संऋ 1249 विऋ में पृथ्वीराज की मृत्यु हुई थी। अतएव उक्त किसी भी संवत् से रासो के संवत् नहीं मिलते। इसीलिए रासो को अप्रामाणिक बताया गया है।

(3) भाषा की अस्थिरता

तिथियों के अतिरिक्त रासो की भाषा को देखकर भी उक्त विद्वानों की यही राय है कि रासो पृथ्वीराज के समय की रचना नहीं है, क्योंकि प्रथम तो रासो में दस प्रतिशत अरबी–फारसी शब्द मिलते हैं, जो किसी भी प्रकार चन्द के समय में प्रयुक्त नहीं होते थे। दूसरे, रासो की भाषा में स्थिरता नहीं है, क्योंकि कहीं वह अनुस्वारान्त है, जैसे – 'छिल्ली वै स्वपनंत मांत कहिए प्रगट विप्पायं', कहीं संस्कृतमयी है, जैसे – 'शुभे दिवसे शुभं वार्ता, अशुभेच्छ शुभानिच', कहीं उसमें प्राकृतमयता है, जैसे – 'गय भग्गि दबंनिट्ठा, पांमिज्जे पुण्य रेहायं', कहीं उसका झुकाव अपभ्रंश की ओर है, जैसे – 'पुज्जिय सु चन्द सुरइन्द जग, गवरि नंद दुख्खन तुरय' और कहीं पर वह ब्रजभाषामयी है, जैसे – 'जाय जसोदा सौं कह्यौ रहे राम बलबीर।' कुछ शब्दों के नये रूप हैं तथा उनमें पुराने ढंग की विभक्तियाँ लगाई गई हैं। इसी कारण ओझाजी ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं–कहीं प्राचीनता का आभास होता है, वह तो डिंगल की विशेषता ही है, जिसका बीसवीं सदी के सूर्यमल कृत 'वंश भास्कर' प्रत्यक्ष उदाहरण है।' अतः भाषा के आधार पर रासो को प्राचीन एवं प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ओझाजी तो इसी कारण इसे संऋ 1517 से 1732 विऋ तक की रचना मानते हैं।

(4) कवि की अनैतिहासिकता

भाषा के अतिरिक्त चन्द कवि भी रासो की अप्रामाणिकता को सिद्ध करता है, क्योंकि चन्दवरदाई पृथ्वीराज का सखा और राजकवि होता, तो उसका उल्लेख जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' में अवश्य मिलना चाहिए था, परन्तु वहाँ चन्द का उल्लेख न होने के कारण यही सिद्ध होता है कि यह चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के बाद में ही हुआ है, जिसने स्वयं को पृथ्वीराज का समकालीन बनाने के लिए तथा अपने ग्रन्थ को प्राचीन सिद्ध करने के लिए अपने को पृथ्वीराज का सखा तथा राजकवि घोषित किया है। 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज के मुख्य भाट अथवा बन्दीजन का नाम 'पृथ्वीभट्ट' दिया गया है, चन्द नहीं। इसके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज विजय' के पाँचवें सर्ग में एक श्लोक के अन्तर्गत जो 'चन्दराज' शब्द आया है उसमें यमकालंकार द्वारा 'चन्द्रक' कवि की ओर संकेत किया गया है, जिसका उल्लेख कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने भी किया है। इसीलिए ओझाजी चन्दवरदाई को पृथ्वीराज का समकालीन कवि तक नहीं मानते और उसके महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक घोषित करते हैं।

'पृथ्वीराज रासो' की उक्त सभी अप्रामाणिकताओं के विरुद्ध विद्वानों का एक दूसरा वर्ग भी है, जो रासो को सर्वथा प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थ सिद्ध करता है। इस वर्ग के विद्वानों में से सर्वश्री मिश्रबन्धु, डॉ० श्यामसुन्दरदास, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, रमाकान्त त्रिपाठी, डॉ० दशरथ शर्मा, अगरचन्द नाहटा, कविराज मोहनसिंह आदि प्रसिद्ध हैं। इन विद्वानों ने रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित मत दिये हैं –

(1) **ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी मत** – रासो के ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए सर्वप्रथम मिश्र बन्धुओं एवं डॉ० श्यामसुन्दरदास ने बताया है कि रासो में जो ऐतिहासिक तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ बतायी जाती हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से प्रकाशित तत्कालीन पट्टे–परवानों से उन तथ्यों की पुष्टि हो जाती है, जिन्हें विद्वान् भ्रान्तिवश अशुद्ध बताते हैं। उक्त विद्वानों का कथन है कि 'यदि ओझाजी इन पट्टे–परवानों को जाली मानते हैं, तो यह उनका साहस मात्र है।' हाँ इतना सत्य है कि रासो में कुछ अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन अवश्य मिलता है, और कुछ प्रक्षिप्त अंश भी विद्यमान हैं, जिनके कारण ये त्रुटियाँ आ गयी हैं।

दूसरे, डॉ० दशरथ शर्मा ने 'हम्मीर काव्य' तथा 'सुर्जन चरित' से कुछ अंश उद्धृत करके यह सिद्ध कर दिया है कि 'पृथ्वीराज रासो' की अधिकांश घटनाएँ उक्त ग्रन्थों में भी मिल जाती हैं। जैसे – 'सुर्जन चरित' में आई हुई कांतिमती के

स्वयंवर की कथा 'संयोगिता स्वयंवर' के ही समान है। कन्नौज-राजकुमारी कांतिमती को ही यदि संयोगिता मान लिया जाय, तो यह विवाद समाप्त हो सकता है। इसके साथ ही डॉ० दशरथ शर्मा ने जैन ग्रन्थ 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' (1528 विक्र) से भी एक प्रबन्ध का सार उ(त करते हुए यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वीराज सोमेश्वर का पुत्र था, वह दिल्ली का शासक था और जयचन्द का शत्रु था। उसने गजनी के शासक को सात बार पराजित किया, पकड़ा और छोड़ दिया। अन्तिम युद्ध में पृथ्वीराज पकड़ा गया तथा चन्द उस समय एक गुफा में बन्द था।

तीसरे, श्री अगरचन्द नाहटा ने 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' तथा 'वस्तुपाल-प्रबन्ध' के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पृथ्वीराज और गोरी में युद्ध हुआ था तथा गोरी पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले गया था।

चौथे, प्रोफेसर रमाकान्त त्रिपाठी ने चन्द के वंशधर श्री नानूराम भट्ट से रासो की एक प्राचीन प्रति प्राप्त की है जो संऋ 1455 की है। उससे सिद्ध है कि रासो पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व भी विद्यमान था। इससे ओझाजी की यह बात असत्य सिद्ध हो जाती है कि रासो सोलहवीं शताब्दी की रचना है।

पाँचवें, उदयपुर के कविराज मोहनसिंह ने भी रासो की प्रामाणिकता सिद्ध की है और 'साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय पीठ उदयपुर' की ओर से 'पृथ्वीराज रासो' को चार भागों में हिन्दी टीका सहित प्रकाशित करा दिया है। आपने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में चौहान के मूलपुरुष का ब्रह्मयज्ञ के समय सूर्यमण्डल से अवतरित होना सिद्ध किया है तथा अन्य घटनाओं की पुष्टि भी तत्कालीन शिलालेखों आदि से की है।

(2) **तिथि सम्बन्धी मत** – रासो में उल्लिखित तिथियों की संगति बैठाने के लिए पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने रासो में आई हुई पंक्ति 'एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनन्द' के आधार पर एक अनन्द संवत् की कल्पना की है। अ त्र शून्य तथा नन्द त्र नौ, अर्थात् 90 वर्ष रहित विक्रम संवत् अर्थ लगाने पर 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित संवतों की गणना ठीक हो जायेगी, क्योंकि प्रत्येक संवत् में 90 या 91 वर्ष जोड़ देने पर उस समय का ठीक-ठीक पता चल जायेगा। पांड्याजी का मत है कि समरसी (समरसिंह' के पट्टे परवानों में भी अनन्द संवत् का प्रयोग मिलता है। बाप्पा रावल संवत भी इसी गणना द्वारा निकाला जा सकता है, परन्तु शुक्लजी तथा अन्य विद्वान् इसे क्लिष्ट कल्पना कहते हैं, क्योंकि इससे पृथ्वीराज के जन्म तथा मृत्यु संवत् के अतिरिक्त अन्य किसी संवत् की गणना ठीक नहीं बैठती।

(3) **भाषा-सम्बन्धी मत** – रासो की भाषा के बारे में मिश्रबन्धुओं ने डॉ० श्यामसुन्दर दास से सहमत होकर लिखा है कि शहाबुद्दीन गौरी से भी तीन सौ वर्ष पूर्व सिंध और मुल्तान में मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। उधर चन्दबरदाई लाहौर के रहने वाले थे। अत: बचपन में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग उनकी बोलचाल में होने लगा होगा। दूसरे, रासो का अधिकांश भाग प्रक्षिप्त भी है और प्रक्षिप्त अंशों में अरबी-फारसी के शब्दों की बहुलता का होना स्वाभाविक है। इसलिए रासो के शब्दों की नवीनता जहाँ उसकी अर्वाचीनता की ओर संकेत करती है, वहाँ उसके प्राचीन शब्द-रूप उसकी प्राचीनता के भी द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त रही अनेकरूपता एवं अस्थिरता की बात, तो इसके लिए स्वयं कवि चन्द ने ही कह दिया है कि 'षट्-भाषा पुराणं च, कुरानं कथितं मया' अर्थात् मैंने प्राचीन षड् भाषाओं और कुरान अर्थात् यवन भाषा में वर्णन किया है। अतएव रासो में विभिन्न भाषाओं का सम्मिश्रण होना तो नितान्त स्वाभाविक है। रासो की भाषा का यह रूप भी उसकी प्राचीनता को ही सिद्ध करता है, क्योंकि उस समय तक हिन्दी का सुस्थिर रूप नहीं बना था।

(4) **कवि सम्बन्धी मत** – रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने वाले विद्वानों की राय है कि जिस ग्रन्थ के आधार पर चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन नहीं माना जा रहा है, वह जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय' ग्रन्थ ही अभी खण्डित रूप में उपलब्ध है। यदि वह पूर्ण रूप में मिल जाता, तभी यह बात कुछ संगत मानी जा सकती थी। हो सकता है कि शेष ग्रन्थ में कवि चन्द का नाम आया हो। दूसरे अभावात्मक साक्षी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। हो सकता है कि कवि चन्द की जयानक से प्रतिद्वन्द्विता रही हो। इसी से उसने चन्द का नाम अपने ग्रन्थ में न दिया हो। तीसरे, एक सम्भावना की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी संकेत किया है कि सम्भवत: चन्द पृथ्वीराज के दरबार में जयानक के आगमन के उपरान्त ही आया हो। चौथे, कविराव मोहनसिंह का कथन है कि 'कवि चन्द का पूरा नाम पृथ्वीचन्द या पृथ्वी भट्ट था। इसीलिए रासो में कुछ स्थानों पर उसके लिए 'पहुमि-बन्दीजन' और 'पृथ्वीकवि' आदि नामों का प्रयोग मिलता है। कविता में वह अपना

नाम सूक्ष्म रूप में 'चन्द' लिखता था।' यदि यह सत्य है तो 'पृथ्वीराज विजय' में लिखे हुए 'पृथ्वीभट्ट' ही कवि चन्द है और फिर किसी बात की शंका के लिए स्थान नहीं रहता।

NOTES

इस प्रकार रासो को प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों के समस्त मतों पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये सब भ्रम रासो की प्रामाणिक प्रति के उपलब्ध न होने के कारण फैले हुए हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस काल की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम अ(–प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' है। रासो की घटनाओं को ऐतिहासिक सिद्ध करना व्यर्थ है। इसका अपना महत्त्व है। मुनि जिनविजय ने 'पुरातन–प्रबन्ध–संग्रह' में चन्द के नाम से जो चार छप्पय प्रकाशित किये हैं, वे वर्तमान रासो में भी विकृत रूप में विद्यमान हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रासो अत्यन्त प्राचीन है। इसके साथ ही रासो का अध्ययन करने के बाद और काव्यरूपों को ध्यान में रखकर देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि चन्द के मूल वचनों को खोज लेना अब भी कठिन है, तथापि उसमें क्या–क्या वस्तुएँ थी और कौन–कौन–सी कथाएँ थी, इस बात का पता लगा लेना उतना कठिन नहीं है।' इसी सन्दर्भ में डॉ० माताप्रसाद गुप्त का यह मत भी उल्लेखनीय है कि 'रासो सम्पूर्ण रूप से ऐतिहासिक रचना नहीं है, उसके अनेक उल्लेख या विस्तार अवश्य ही कल्पना–प्रसूत हैं और इतिहास से समर्थित नहीं है। फिर भी अपने व्यापक रूप में, वह एक ऐसे जिम्मेदार कवि की रचना प्रतीत होती है जिसने हिन्दू–सूत्रों से प्राप्त सामग्री का यथेष्ट सावधानी के साथ उपयोग किया और कथानक के समय के बाद किसी घटना अथवा किसी व्यक्ति का घाल–मेल कथा में नहीं किया। 'रासो' के कवि की इन दोनों विशेषताओं पर विचार करने पर ज्ञात यह होता है कि निस्संदेह वह पृथ्वीराज का समकालीन तो नहीं था, किन्तु बहुत बाद का भी नहीं था और उसने रचना यद्यपि काव्य की दृष्टि से अधिक और इतिहास की दृष्टि से कम की, फिर भी सुलभ सामग्री का उपयोग जिम्मेदारी और कुशलता के साथ किया है।' अतएव 'रासो' की प्रामाणिकता पर भले ही विद्वान भिन्न–भिन्न प्रकार के मत प्रकट करते रहें, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि चन्द और पृथ्वीराज का संयोग अवश्य हुआ था और पृथ्वीराज ने चन्द को अपनाकर जहाँ अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया, वहाँ चन्द ने भी अपने सखा एवं सम्राट की जीवन–गाथा को अमर बनाकर अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन किया, जिसके परिणामस्वरूप चन्दवरदाई का नाम साहित्य के क्षेत्र में सदैव अजर–अमर बना रहेगा।

6. 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व एवं काव्य–सौष्ठव

'पृथ्वीराज रासो' एक विशालकाय ग्रन्थ है, जिसमें महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं, क्योंकि इसके काशी वाले संस्करण में 69 समय (सर्ग) हैं, उदयपुर वाले संस्करण में 61 समय हैं और डॉ० माताप्रसाद गुप्त वाले संस्करण में केवल 12 सर्ग हैं। इसका कथानक भारतीय शूर–सामन्तों की वीरता, शौर्य–सम्पन्न विजय एवं पराक्रमपूर्ण गौरव–गाथा से अनुस्यूत है। इसका नायक हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान क्षमा, दया, गांभीर्य, रूप–सौन्दर्य, यौवन, उत्साह, ओज, तेज, स्वाभिमान आदि गुणों से विभूषित, उच्चकुलोद्भव तथा क्षत्रिय वंश का गौरव है। इसमें शृंगार, वीर, शान्त, अद्भुत, वीभत्स आदि सभी रसों का आल्हादकारी वर्णन मिलता है, किन्तु प्रधानता वीर एवं शृंगार रस की है। इसमें नाटक की सभी सन्धियाँ विद्यमान हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग में से इसका फल तो मोक्ष है, किन्तु शेष तीनों उस फल के साधक होने के कारण इस काव्य में अत्यन्त सफलता के साथ वर्णित है। इसमें मंगलाचरण, खल–निन्दा, सज्जन–प्रशंसा आदि का भी उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही इसमें संध या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, यात्रा, युद्ध, मन्त्र–तंत्र, तु आदि के वर्णनों की प्रचुरता है और ये सभी वर्णन अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं। इसका नामकरण इसके चरित नायक पृथ्वीराज के आधार पर ही किया गया है तथा शेष सर्गों के नाम घटना–विशेष के आध ार पर दिये गये हैं। भारत के महान् वीर, अदम्य उत्साही एवं यशस्वी सम्राट पृथ्वीराज के धवल यश का गान करना ही इसका महान् उद्देश्य है। तत्कालीन समाज की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक स्थिति का सजीव चित्र अंकित करना ही उसका परम लक्ष्य है और उच्चकोटि की कलाभिव्यक्ति द्वारा तत्कालीन साहित्यिक परम्परा के उज्ज्वल स्वरूप की झाँकी अंकित करना ही इसका महान् साहित्यिक प्रयोजन है। यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रक्षिप्त अंशों ने इसकी प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता पर तीव्र कुठाराघात किया है, तथापि इसके वर्णन में रसानुभूति की पूर्ण क्षमता है। यह ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ अनुभूति एवं उर्वर प्रतिभा का द्योतक है। इतिहास एवं कल्पना के मणिकांचन योग ने इस तथ्य को और भी उत्कृष्ट बना दिया है। यह ग्रन्थ राष्ट्रीय भावों को उद्बु) करने तथा वीर भावनाओं को जाग्रत करने की महती प्रेरणा से लिखा गया है। इसलिए इस काव्य की महत्ता अक्षुण्ण है, इसका गौरव चिरस्थायी है, इसका प्रभाव शाश्वत है और इन सभी विशेषताओं का मूल कारण इसका अद्वितीय

काव्य-सौष्ठव है, जो अत्यन्त उन्नत एवं उच्चकोटि का है तथा जिसे निम्न शीर्षकों में विभक्त करके भली प्रकार देखा जा सकता है :

(1) **वस्तु-वर्णन**—'पृथ्वीराज रासो' का विशाल कलेवर विभिन्न प्रकार के वस्तु-वर्णनों से विभूषित है। इसमें वस्तु-वर्णनों का ऐसा ताँता लगा हुआ है कि पाठक कवि के उन वर्णनों में एक अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करता हुआ विचरण करता रहता है, मानो वह विभिन्न पुष्पों से सुशोभित किसी विशाल उद्यान में आनन्द विभोर होकर घूम रहा हो। इसके वस्तु-वर्णनों में भिन्नता है, सरसता है, विविधता है और विदग्धता भी है। इसमें कहीं विशाल नगरों के भव्य वर्णन हैं, तो कहीं सरिता एवं सरोवरों से युक्त वन-प्रदेश के सुरम्य वर्णन हैं, कहीं गंगा-तट का आल्हादकारी वर्णन है, तो कहीं यमुना-तट के साथ-साथ पनघट का अत्यन्त सजीव वर्णन है, कहीं राज-दरबार की शान-शौकत का विस्तृत वर्णन है, तो कहीं बारात, अगवानी, द्वाराचार, जनवासा, मण्डप, मंगल-गीत, दान-दहेज आदि के साथ-साथ विवाह-संस्कार का सजीव वर्णन मिलता है। ऐसे ही इसके विभिन्न उत्सवों के वर्णन, युद्ध की तैयारियों के वर्णन, युद्ध-क्षेत्र के वर्णन, मांगलिक कार्यों के वर्णन, दावत एवं सहभोज का वर्णन, विभिन्न आचार-विचार के वर्णन, मन्त्र-तन्त्र के वर्णन, शकुन-अपशकुन के वर्णन, व्यूह-रचनाओं के वर्णन, शूर-सामन्तों के हास-परिहास, उल्लास-विलास, पराक्रम-विजय आदि के वर्णन भरे पड़े हैं। सारा रासो ग्रन्थ अन्यान्य वर्णनों से सुसज्जित होने के कारण महाकाव्य की गुरुता एवं गम्भीरता से ओतप्रोत दिखाई देता है, परन्तु कवि ने अपने इन वस्तु-वर्णनों में से सबसे अधिक तीन वर्णनों को महत्त्व प्रदान किया है – (क) आखेट-वर्णन, (ख) युद्ध-वर्णन और (ग) विवाह-वर्णन।

(क) **आखेट-वर्णन** – कविवर चन्द ने 'रासो' में पृथ्वीराज के आखेट खेलने का बड़ा ही सजीव एवं मार्मिक वर्णन किया है। कवि ने लिखा है कि पृथ्वीराज शिकार खेलने में पवन के समान फुर्तीले थे, उनके साथ प्रायः डोरी से बँधे हुए उनके शिकारी कुत्ते जाया करते थे और आगे चलकर वे प्रत्येक शिकार को सूँघकर ही भाँप लिया करते थे। जिस समय पृथ्वीराज शिकार खेलने के लिए वन की ओर प्रस्थान किया करते थे, उस समय पदाघात, धनुष, ढाल, दुन्दुभी, रथों के पहिये, घोड़ों की हिनहिनाहट आदि से वन के मार्ग विपुल शब्द से ध्वनित हो उठते थे, वन के कितने ही मृग इधर-उधर फैल जाते थे और कितने ही दीन एवं कातर स्वर से चिल्लाने लगते थे। सारे वन में कोलाहल मच जाता था और सर्वत्र आतंक छा जाता था। इतना ही नहीं, कवि ने शिकार के लिए राजा के साथ जाने वाले शिकारी कुत्तों, चीतों, तथा पालतू हिरनों की संख्या तक का भी उल्लेख किया है कि पृथ्वीराज के साथ एक हजार शिकारी कुत्ते, एक सौ चीते और दो सौ पालतू हिरन जाते थे, जो गति में मन और पवन को पीछे छोड़ देने वाले थे। एक स्थान पर तो कवि ने आखेट के समय का अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयद्रावक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें वनैले पशुओं के कातर स्वर, उनकी हृदय की धड़कन, उनकी आँखों का अविराम अश्रुप्रवाह, उनकी भयभीत अवस्था, उनकी कँपकँपी आदि का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र अंकित करते हुए बताया है कि हारकर भागते हुए हिरन थक गये और कातर स्वर से पुकारने लगे। वे डरकर प्राणों के मोह में पड़ गये और प्राण-विछोह की आशंका से आतुर हो गये। उनके हृदय में धड़कन होने लगी और आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उनके मुख पर आँसुओं का सोता बहने लगा। वे चकित होकर देखते हुए दुःख से परिपूर्ण होकर तथा सिकुड़कर अपनी राह पकड़ने लगे। वे भयभीत होकर देखते हुए दुःख से परिपूर्ण होकर तथा सिकुड़कर अपनी राह पकड़ने लगे। वे भयभीत होकर पत्ते के खड़कने पर चमक उठते थे, मानो उस क्षण उनका चित्त अस्थिर हो। कुँवर पृथ्वीराज की शिकार-क्रीड़ा से पशुगण पीपल के पत्ते के समान थर्राते थे। इस प्रकार कवि ने सूक्ष्मता के साथ वन के जीव-जन्तुओं की स्थिति का अध्ययन करके आखेट के समय की उनकी स्थिति का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है।

(ख) **युद्ध-वर्णन** – कवि चन्द ने युद्ध वर्णन में अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया है। इनके युद्ध वर्णनों को पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि सारा रासो काव्य ही एक रणक्षेत्र है, जिसके प्रत्येक सर्ग के अन्तर्गत रण-दुन्दुभी एवं विजय-घट की घनघोर ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। कवि ने इसमें युद्ध की तैयारी से लेकर युद्ध-स्थल के प्रत्येक कार्य का अत्यन्त ब्यौरेवार वर्णन किया है। कवि स्वयं वीर योद्धा के रूप में अपने चरित-नायक के साथ रहा है। इसलिए वह जानता है कि युद्ध की तैयारी का समाचार पाते ही किस तरह सूर सामंतों का चेहरा खिल उठता है, किस तरह वे घोड़े एवं हाथियों को पाखरों एवं झूलों से सजाने लगते हैं, किस तरह धनुष एवं प्रत्यंचाएँ चढ़ाई जाती हैं, किस तरह अस्त्र-शस्त्र की तैयारी होने लगती है, किस तरह शहनाइयों में सिंधुर राग बजने लगता है और कैसे वीर योद्धागण

परस्पर बल का प्रदर्शन करते हुए युद्ध की उमंग से भर जाते हैं। कवि ने रासो काव्य में युद्ध की तैयारी के साथ–साथ व्यूह रचना का बड़ा ही अनुपम वर्णन किया है। उसने कहीं पर मयूर–व्यूह के बनाने का उल्लेख किया है तो कहीं चक्र–व्यूह का। ऐसे ही कहीं पर गृह–व्यूह का वर्णन किया है तो कहीं पर गरुड़–व्यूह का। 'गरुड़–व्यूह' का वर्णन करते हुए 'पज्जून–चालुक्य' नामक समय में लिखा है कि कुरंभ के गरुड़ व्यूह में पैरों के स्थान पर यादव और प्रतिहार थे। परमारों ने पूँछ का रूप धारण किया था। भट्टीराजा की वीर सेना ने पिंड और पाँव के स्थान पर अधिकार जमाया था। पुण्डीरराय जंघा की जगह था। हृदय, नाखून, चोंच, आँख और जिव्हा की जगह पर कुरंभी सेना खड़ी थी। हाथियों को कुचलने वाले वीर लौहाने ने गर्दन और नेत्र–ज्योति का स्थान ग्रहण किया था। इस प्रकार गरुड़–व्यूह की रचना करके पज्जून ने नवीन छत्र धारण किया और उसका भाई बलिभद्र आगे बढ़कर शत्रुओं पर झपटा।

व्यूह–रचना के अतिरिक्त कवि ने युद्ध–स्थल का आँखों देखा हाल भी लिखा है। कवि के उस वर्णन को देखकर स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह युद्ध की छोटी से छोटी घटना से पूर्णतया परिचित है। इसी से 'मेवाती मुंगलकथा' नामक समय में कवि ने युद्ध–स्थल का जीता–जागता चित्र अंकित करते हुए लिखा है कि 'मुगल तथा पृथ्वीराज में होने वाले भयंकर युद्ध के समय युद्ध–स्थल में कहीं–कहीं मस्त हाथी जमीन की ओर झुककर लड़खड़ा रहे थे। कहीं–कहीं योद्धा छल से घात करने के लिए छिप रहे थे। कहीं पर घायल सैनिक 'पानी–पानी' चिल्ला रहे थे। कोई योद्धा बहादुरों की भीड़ को रोक रहा था, कोई वीर मदिरा के नशे में चूर–सा होकर पृथ्वी पर झूम रहा था। किसी–किसी का कण्ठ श्रम से शुष्क हो गया था। कहीं–कहीं कायर चतुरंगिनी सेना को देखकर छिप रहे थे, परन्तु सोमेश्वर पुत्र पृथ्वीराज चौहान उस युद्ध में ऐसा अड़ा था जैसे समुद्र में तूफान आ गया हो। वह शत्रुओं का नाश करके यश–रूपी जहाज पर चढ़ गया और मुंगल को पृथ्वीतल से पकड़कर बाहर निकाल लाया।

कवि ने उक्त युद्ध वर्णन में कितनी सजीवता है। सारा वर्णन हृदय पर एक स्थायी प्रभाव स्थापित कर देता है, क्योंकि इसमें गत्यात्मकता है, मार्मिकता है, स्वाभाविकता है और सबसे परे सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति विद्यमान है।

(ग) **विवाह–वर्णन** – 'पृथ्वीराज रासो' में आखेट एवं युद्ध के अतिरिक्त विवाहों का वर्णन भी बड़ी तत्परता के साथ किया गया है। यहाँ राजा पृथ्वीराज दस राजकुमारियों से विवाह करते हैं और सभी विवाहों में लोक प्रचलित सभी लोकाचारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस कारण इन विवाह–वर्णनों में गौरी–गणेश–पूजन से लेकर बारात, बारौती, शाखोच्चार, कन्यादान, भाँवर, ज्यौनार, दान–दहेज, विदा आदि सभी भारतीय वैवाहिक पद्धतियों का सांगोपांग वर्णन मिलता है। 'इच्छिनी विवाह' समय में कवि ने आबू राजवंशी सलख जैत्र के यहाँ पृथ्वीराज की बारात के आगमन का तथा वहाँ पर दरवाजे के समय 'बारौती' की रस्म का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'पृथ्वीराज के दूल्हावेश में द्वार पर पहुँचने के बाद कन्या के पिता की ओर से कई दस्तूर किये गये, जिनमें मेघ के समान घोर गर्जना करने वाले गिरि–तुल्य मदनोमत्त पाँच हाथी, पवन से भी अधिक वेगवन्त, बीस ऐराकी घोड़े, कटिप्रदेश तक लटकने वाला मणि–जटित जनेऊ, नग–जटित मुदिका या हथसंकल, हाथी पर चढ़ने के लिए सोने की बनी हुई छोटी–छोटी नसैनियाँ तथा अन्य विविध वस्तुएँ समधी को दी गई, जिन्हें देखकर सभी चकित रह गये।' इतना ही नहीं, कवि ने वर और वधू के विभिन्न आभूषणों, वस्त्रों आदि का भी खूब बढ़ा–चढ़ाकर वर्णन किया है तथा ज्यौनार के समय परोसे जाने वाले – घी में पके हुए तथा तेल में पके हुए विभिन्न प्रकार के व्यंजनों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है।

इस प्रकार कवि के विवाह–वर्णनों को पढ़कर पता चलता है कि चन्दवरदाई विवाह सम्बन्धी तत्कालीन रीति–रिवाजों से पूर्णतया परिचित थे। उन रीति–रिवाजों का स्वरूप आज भी उत्तरी भारत में विद्यमान है। अतएव रासो के ये विवाह–सम्बन्धी वर्णन भारत की प्राचीन विवाह–पद्धति के साथ–साथ भारत की सांस्कृतिक विशेषता के भी परिचायक है।

(1) **प्रकृति–चित्रण** – रासो में वस्तु–वर्णन के साथ–साथ प्रकृति की भी बड़ी ही मनोरम झाँकिया अंकित की गई हैं। रासोकार ने प्रकृति के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त स्वरूप का अवलोकन तो किया है, परन्तु परम्परा के अनुसार उसने प्रकृति के आलम्बन रूप की अपेक्षा उद्दीपन रूप को ही काव्य में अधिक स्थान दिया है। उद्दीपन रूप में आने के कारण यहाँ प्रकृति केवल भावों को उद्दीप्त करती हुई अंकित की गई है, किन्तु उसके स्वतंत्र रूप के दर्शन रासो में कहीं भी नहीं होते। प्रति के इस

उद्दीपन रूप के अन्तर्गत कवि ने षट्-ऋतुओं के वर्णन द्वारा अपने अद्भुत काव्य-कौशल का परिचय दिया है। वहाँ पर पृथ्वीराज अपनी रानियों से कन्नौज जाने की अनुमति माँग रहे हैं और उनकी रानियाँ प्रत्येक ऋतु के उद्दीप्त होने वाले मनोभावों का वर्णन करके राजा पृथ्वीराज को रोक लेती हैं। सर्वप्रथम अपनी पटरानी-इच्छिनी से जब वे कन्नौज जाने की अनुमति माँगते हैं, तो राजा के जाने का समाचार पाते ही उधर तो रानी इच्छिनी के प्राण एवं उत्तर - दोनों ही एक साथ निकलने के लिए प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हैं और इधर सौभाग्य से बसन्त ऋतु अपने पूर्ण यौवन के साथ आ उपस्थित होती है। उसी समय रानी बसन्त की अनुपम छटा का उल्लेख करती हुई कहती है कि इस समय बसन्त आगमन के कारण आम्रवृक्षों पर बौर फूला हुआ है। कदम्बों की श्यामलता इतनी बढ़ गई है मानो दीर्घ यामिनी हो। मकरंद के वशीभूत भ्रमर बेसुध होकर भ्रमण कर रहे हैं। पवन के बहने के कारण मंजरियाँ इधर-उधर डोल रही हैं, जो विरह को प्रज्ज्वलित कर रही हैं। कोकिलाएँ कूक रही हैं और पूर्णिमा का चन्द्रमा दाम्पत्य प्रेम की वृद्धि कर रहा है। अतएव हे प्राणनाथ! मैं आपके पैर छूकर कहती हूँ कि मेरे विशेष स्नेह को चित्त में स्थान दीजिए और यौवन की अवधि - दिनों-दिन कम होती जा रही है, यह जानकर बसन्त में गमन मत कीजिए।

कवि ने वसन्त की तरह पावस ऋतु की झाँकी भी बड़े ही स्वाभाविक ढंग से अंकित की है। रानी इन्द्रावती पावस ऋतु की भयंकरता, विभीषिका एवं कठोरता का वर्णन करती हुए कह रही है कि 'उमड़-घुमड़ कर बादल गरज रहे हैं, जिससे रमणियों की पलकों के सामने रात्रि छा जाती है और (बिना कंत के) रात्रि व्यतीत करना मुश्किल हो जाता है। सरल तालाबों को देखकर हृदय फटने लगता है। बादलों से जल बरसता देखकर दम्पत्ति निरन्तर प्रेम में लिप्त हो जाते हैं। कोकिल की ध्वनि से शरीर में कामदेव प्रसार पाता है। दादुर, मोर और दामिनी कलेजे के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। चारों ओर पपीहे अड़कर पीप-सी रट रहे हैं। हे प्यारे! ऐसी पावस ऋतु में प्रवास न कीजिए क्योंकि तुम्हारे चले जाने पर विरहाग्नि शरीर को संतप्त करके उसका विनाश कर डालेगी।'

इसी प्रकार कवि ने ग्रीष्म की भीषणता, शरद की सुषमायुक्त सुन्दरता, हेमन्त की गहनशीलता, शिशिर की शीतलता आदि का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। कवि के इस प्रकृति-चित्रण में सांस्कृतिक विशेषता के साथ-साथ स्थानगत एवं देशगत विशेषताएँ भी विद्यमान हैं। सभी प्रकृति-वर्णन भारतीय सुषमा के अलौकिक रूप को प्रस्तुत करते हैं और उत्तरी भारत के नैसर्गिक प्राकृतिक सौन्दर्य से मण्डित हैं, परन्तु परम्परागत होने के कारण अधिक आकर्षक प्रतीत नहीं होते। फिर भी इनमें भारत की प्राकृतिक शोभा का सजीव रूप विद्यमान है।

(1) **भाव एवं रस का निरूपण** - 'पृथ्वीराज रासो' एक युद्ध-प्रधान वीरकाव्य है। इसके अन्तर्गत कवि के युद्ध-वर्णनों में प्रायः वीरों के युद्धोत्साह का बड़ा ही मार्मिक एवं सजीव वर्णन मिलता है और यह उत्साह वीर रस का स्थायीभाव है। अतः 'उत्साह' नामक स्थायीभाव का प्राधान्य होने के कारण रासो के समस्त वर्णनों में वीररस का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु युद्ध-स्थल में उपस्थित वीरों के समर्प एवं क्रोध का वर्णन करके कवि ने वीर रस के साथ-साथ रौद्र रस का भी बड़ा ही सजीव चित्रण किया है, क्योंकि 'क्रोध' रौद्र रस का स्थायीभाव होता है। इसी तरह युद्ध क्षेत्र में पड़े हुए वीरों की अंतड़ियों, हड्डियों एवं अन्य अंग-प्रत्यंगों की गि), चील, योगिनी, काली के द्वारा भक्षण करने एवं उनके खींचने आदि का वर्णन करके कवि ने 'घृणा' नामक स्थायीभाव का भी निरूपण किया है, जिनके द्वारा वीभत्स रस की अभिव्यंजना होती है। इस प्रकार रासो के युद्ध-वर्णनों में युद्धोत्साह के साथ-साथ क्रोध एवं घृणा नामक स्थायीभावों की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। परन्तु इन वर्णनों में वीर रस का प्राधान्य होने के कारण युद्धोत्साह का ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। जैसे 'हुस्सेनकथा' नामक समय में पृथ्वीराज के वीर सामन्तों के युद्धोत्साह पूर्ण पराक्रम का वर्णन करते हुए आरक्खाँ शाह गोरी से कह रहा है कि 'पृथ्वीराज का एक-एक वीर ऐसा पराक्रमी है कि वह जब इष्ट मन्त्र का उच्चारण करके उठता है तब वह एक रहता है, युद्ध के चलते समय पच्चीस वीरों के समान हो जाता है, शत्रु से भिड़ते समय वह सौ वीरों के बराबर हो जाता है और शत्रु पर शस्त्राघात करते समय वह एक हजार वीरों के बराबर दिखाई पड़ता है। अपने हड्डी-माँस के कटने से पहले ही वह वीर शत्रु को दमन करके उसे मार देता है, सिर कटने पर भी उसका कबंध आगे बढ़कर लड़ता रहता है और उसके रक्त की धारा भी पृथ्वी पर गिरकर सदैव ऊपर की ओर ही उठती है। इस तरह पृथ्वीराज के सभी वीर तलवार लेकर आगे बढ़ते हैं और उनका पराक्रम अद्भुत है।'

युद्धोत्साह के साथ-साथ रासो में वीरोचित अमर्ष एवं क्रोध नामक स्थायीभाव की भी बड़ी ही मार्मिक व्यंजना मिलती है। कवि को जितनी सफलता 'उत्साह' के वर्णन में मिली है, उतनी ही सफलता क्रोध-वर्णन में भी मिली है। 'भीम वध' समय

में कवि ने पृथ्वीराज के सहज एवं स्वाभाविक क्रोध का वर्णन किया है, क्योंकि गुर्जर–नरेश भीम ने पृथ्वीराज के पिता का वध कर दिया था और इसी कारण पृथ्वीराज रात–दिन भीम के प्रति अत्यन्त रोष एवं अमर्ष में भरे रहते थे। परन्तु जब पृथ्वीराज को गुर्जर–नरेश भीम की युद्ध–सम्बन्धी तैयारी का समाचार मिला तब राजा पृथ्वीराज वीरोचित अमर्ष एवं क्रोध में भरकर हुँकार करते हुए कहने लगे कि "यदि युद्ध में मेरा और भीम का तथा उसके अंग स्वरूप वीरों का सामना हो गया, तो मैं उन्हें इस प्रकार नष्ट कर दूँगा, जिस प्रकार ग्रीष्म काल की हवा चिनगारी की सहायता से सघन वन को, भीम कौरव–दल को, दुर्गादेवी महिषासुर को और तीक्ष्ण आँधी ऋषि को नष्ट कर देती है। मैं अपना 'पृथ्वीराज' नाम तभी सार्थक समझूँगा, जब चालुक्य वंशियों के उदरों को विदीर्ण करके अपने पिता को बदला ले लूँगा।' राजा के इस कथन में कितना अमर्ष, कितना आवेश, कितना रोष एवं कितना क्रोध भरा हुआ है जो स्थायीभाव के रूप में आकर रौद्र रस की पुष्टि कर रहा है।

युद्धोत्साह एवं वीरोचित क्रोध के अतिरिक्त रासो में शृंगार की भी अत्यन्त मार्मिक व्यंजना मिलती है। शृंगार रस तो वैसे रसराज माना जाता है और वीर पुरुषों को युद्ध के भयानक व्यापार के उपरान्त मनोरंजन के लिए शृंगारिक चेष्टाएँ सहज एवं स्वाभाविक रूप से अधिक आकृष्ट किया करती है। यही कारण है कि रासो में युद्धोत्साह की प्रधानता होते हुए भी रति एवं प्रेम के लिए भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। 'कनवज्ज' समय में जिस क्षण पृथ्वीराज कन्नौज पहुँच कर अनिंद्य सुन्दरी संयोगिता को गवाक्ष में खड़ा हुआ देखता है उस क्षण युद्ध आदि सभी भयंकर व्यापारों को भूल जाता है और संयोगिता के रूप–सौन्दर्य में लीन होकर कुछ क्षणों के लिए बेसुध हो जाता है। कवि ने पृथ्वीराज के इस 'रति' नामक स्थायीभाव की मार्मिक व्यंजना के साथ–साथ शृंगार रस का निरूपण करते हुए लिखा है कि 'जैसे ही पृथ्वीराज' की दृष्टि गवाक्ष की ओर पड़ी, वैसे ही उसे संयोगिता के अनुपम अंग–सौन्दर्य की झलक दिखाई पड़ी, जिसमें उसे दिखाई पड़ा कि हाथी पर सिंह, सिंह पर दो पर्वत, पर्वतों पर दो भृंग, भृंगों पर चन्द्रमा, चन्द्रमा पर शुक, शुक पर मृग तथा मृग पर धनुष का सन्धान किये हुए कामदेव बैठा है। साथ ही उसके समीप सर्प और मयूर साथ–साथ सुशोभित हैं तथा स्वर्ण–जटित हीरा भी वहाँ दमदमा रहा है।' भाव यह है कि संयोगिता की गति हाथी–तुल्य थी, उसके ऊपर कटि सिंह–तुल्य थी, दोनों कुच पर्वत तुल्य थे, दोनों कुच–चंचु भ्रमरों के तुल्य थे, उसका मुख चन्द्रमा–तुल्य था, नासिका शुक–तुल्य थी, नेत्र मृगों के तुल्य थे, दोनों भौंहें धनुषों के तुल्य थीं, काम–भावना ही वहाँ कामदेव के रूप में विराजमान थी, उसकी वेणी सर्प–तुल्य थी, कंठाकृति ही मयूर के तुल्य थी तथा मस्तक का लाल बिन्दु ही हीरे के तुल्य दमदमा रहा था। संयोगिता के ऐसे सौन्दर्य को देखते ही राजा पृथ्वीराज के हृदय में रति का संचार हो गया और वे धोखे में पड़ गये। वहाँ पर पृथ्वीराज को अनुरक्त देखकर संयोगिता ने भी जैसे ही पृथ्वीराज को देखा, वह भी पृथ्वीराज के वीरोचित वेश एवं अतुल पराक्रम–सम्पन्न अंग–सौन्दर्य को देखकर स्तम्भित रह गई और उसमें रोमांच, स्वेद, कंप तथा स्वर–भंग नामक सात्विक भाव सहज ही उदित हो गये। इस तरह रासो में अनेक स्थलों पर संयोग–शृंगार का चित्रण मिलता है।

रासो में कवि ने संयोग–शृंगार की मधुर व्यंजना करके वियोग–शृंगार की भी मार्मिक झाँकी अंकित की है। संयोगिता के साथ गुप्त रूप से गांधर्व विवाह करके राजा पृथ्वीराज जैसे ही जयचन्द के महलों से बाहर निकलते हैं, वैसे ही वह मुग्धा एवं प्रज्जवलित दीपशिखा के समान सुकुमारी संयोगिता पति–वियोग को न सह सकने के कारण दीर्घ निश्वास छोड़ने लगती है, उसका शरीर काँपने लगता है और यह सच भी है, क्योंकि जिस अनिंद्य सुन्दरी के लिए इन्द के समान अनुरागी राजा ने सर्वस्व न्यौछावर करके कन्नौज आने का कष्ट किया और गुप्त रूप से महलों में आकर पाणिग्रहण किया, वही जब उसे ग्रहण करके भी छोड़े जा रहा हो, तब उस सुकुमारी का विरह–व्यथित होना स्वाभाविक ही है। उसकी दशा देखकर उसकी सखियाँ भी यही कहती हैं कि पुरुषों का हृदय प्राय: वज्र–तुल्य होता है। वैसे भी सत्य है कि जो निराधार हो, उसका जीवन कितना हो सकता है ? उसको तो विरह नष्ट कर देगा। इसी कारण संयोगिता वेदना की आग में जलने लगती है।

इसी तरह कवि ने वीर हिन्दू–नारियों का आत्मोल्लास के साथ अग्नि की चिताओं में प्रवेश करते हुए एवं अपने प्राणपतियों के लिए करुण–क्रन्दन करते हुए चित्रित करके 'शोक' स्थायीभाव द्वारा करुण रस का निरुपण किया है, युद्ध–स्थल में जम्बुक, चील, गि) आदि को मृत वीरों की आँतों, हड्डियों, भुजाओं आदि को खींचता हुआ देखकर 'घृणा' नामक स्थायीभाव द्वारा वीभत्स रस का निरुपण किया है और पृथ्वीराज की सेना के आतंक से भयभीत व्यक्तियों के 'भय' नामक स्थायीभाव

का वर्णन करके भयानक रस का निरुपण किया है, शिव, दुर्गा, शिव के गण आदि के दर्शन से सम्बन्धित विस्मयकारिणी घटनाओं के द्वारा 'विस्मय' नामक स्थायीभाव का वर्णन करके अद्‌भुत रस का निरुपण किया है तथा तीर्थ, आश्रम, गंगातट, साधु-संग आदि के द्वारा 'निर्वेद' नामक स्थायीभाव सहित शान्त रस का निरूपण किया है। इस प्रकार रासो में सभी रसों का यत्किंचित उल्लेख मिल जाता है, परन्तु प्रमुखता शृंगार, वीर एवं रौद्र रसों की है और इन तीनों में ये युद्धोत्साह का प्राधान्य होने के कारण वीर ही इस काव्य का अंगी रस है, जिसके निरूपण में कवि ने अनुपम एवं अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। निस्संदेह रासो विविध भावों एवं रसों का अगाध सागर है और कवि की इस उक्ति को चरितार्थ कर रहा है कि 'रासउ असंभु नवरस सरस' अर्थात् यह अपूर्व रासो नवरसों से सरस है।

(4) **अलंकार निरूपण** – अलंकार काव्य-सौन्दर्य के उपकरण माने गये हैं। इनके द्वारा प्राय: कविजन अपने काव्य की शोभा-वृद्धि किया करते हैं, क्योंकि अलंकारों की सुदृढ़ योजना द्वारा काव्य में चमत्कार के साथ-साथ उक्ति-वैचित्र्य, वाग्विदग्धता, अर्थगांभीर्य एवं सरसता की सृष्टि की जाती है। महाकवियों की अलंकार-योजना सदैव रस एवं भावों की अभिवृद्धि में सहायक होती है क्योंकि अलंकार, कथन की प्रणाली कहलाते हैं और महाकवि कथन की विभिन्न प्रणालियों द्वारा ही काव्य में सौष्ठव लाने का प्रयत्न किया करते हैं। इसीलिए महाकवि चन्द की अलंकार-योजना भी पूर्णतया रसानुकूल दिखाई देती है, क्योंकि कोरे शब्द-चमत्कार एवं अनुप्रासप्रियता के चक्कर में पड़कर कवि ने अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। 'रासो' में तो शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों द्वारा भाव-सौन्दर्य की ही अभिवृद्धि हुई है, क्योंकि रसानुकूल अलंकारों के प्रयोग ने काव्य में चमत्कार के साथ-साथ प्रभावोत्पादकता को भी जन्म दिया है।

(5) **छन्द-योजना** – काव्य में नादात्मक सौन्दर्य की सृष्टि के लिए छन्दों की योजना की जाती है। प्राय: नादात्मक सौन्दर्य से सम्पन्न पंक्तियाँ हृदय पर अपनी अमिट छाप तो डालती ही हैं, परन्तु रस-स्रोत के प्रवाह में भी सहायक होती हैं, क्योंकि भावों एवं रसों के अनुकूल छन्दों की योजना इसका ज्वलंत प्रमाण है। महाकवि चन्द के रासो काव्य में मुख्यतया वीर रस का स्रोत अविरल गति से प्रवाहित हो रहा है और इसी के अनुकूल कवि ने सबसे अधिक छप्पय या कवित्त, साटक या शार्दूल-विक्रीड़ित गाहा या गाथा और दुहत्थ या दोहा का प्रयोग किया है। विद्वानों ने चन्द को छप्पय का सम्राट माना है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि चन्द के छप्पय जितने सरस, स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक हैं, उतने किसी भी वीरकाव्य-प्रणेता के छप्पय दिखाई नहीं देते। रासोकार के छप्पय एक तीव्र बरसाती नदी की बाढ़ के समान हरहराते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं, जिनके सुनते ही अनायास वीररस का स्रोत फूट पड़ता है और पाठक अर्थ को जाने बिना ही एकबारगी वीर रस में निमग्न हो जाता है। यद्यपि कवि चन्द ने छन्द का प्रयोग सभी रसों के लिए किया है, फिर भी छप्पय छन्द वीर रस के सर्वथा अनुकूल है। इसमें घार रोला और दो उल्लाला के पद मिलते हैं, जिनमें यह छन्द पूर्ण होकर वीरोचित भाव के प्रकट करने में सर्वथा सशक्त एवं सक्षम बन जाता है।

निष्कर्ष यह है कि रासो का काव्य-सौष्ठव उच्चकोटि का है। इसके वस्तु-वर्णनों में तन्मय एवं तल्लीन करने की पूर्ण क्षमता है और सभी वर्णन कवि की उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा, गहन काव्यानुभूति, उर्वर कल्पना एवं विविध विषयों के ज्ञान के परिचायक हैं। प्रकृति की रमणीय झाँकियों में रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति है तथा रस एवं भावों के निरूपण में भाव-प्रेषणीयता एवं भावाभिव्यंजकता के गुण पूर्णतया विद्यमान हैं। रासो की अलंकार-योजना सर्वथा भावानुकूल है और छन्दों के संगीतात्मक सौन्दर्य के कारण सम्पूर्ण काव्य से वीरों की हुंकार, धनुष की टंकार, रण-भेरियों की झंकार, हाथी-घोड़ों की चिंघाड़ एवं शत्रुओं की चीत्कार की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। निस्संदेह रासोकार ने अपने युग की भाव-दशाओं, परिस्थितियों, सांस्कृतिक विशेषताओं, परम्पराओं आदि का चित्रण करके रासो के काव्य-सौष्ठव को उत्कृष्टता प्रदान की है और रासो के द्वारा हिन्दी-साहित्य के गौरव की अभिवृद्धि हुई है।

7. रासो की भाषा

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी के उस युग की रचना है, जिस समय तक हिन्दी का कोई व्यवस्थित रूप नहीं बना था और संस्कृत तथा प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश भाषाओं में प्राय: ग्रन्थ रचना होती थी। यद्यपि उस समय अपभ्रंश भाषा में जैन ग्रन्थों की रचना अधिक मात्रा में होती थी, फिर भी सिद्ध एवं नाथ सन्तों के द्वारा एक ऐसी भाषा का भी निर्माण हो रहा था, जो उस काल की साहित्यिक भाषा अपभ्रंश से कुछ भिन्न सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा के अधिक निकट थी। उस भाषा पर

प्रान्त–विशेष का प्रभाव था। इसीलिए उस लोक–प्रचलित एवं सर्वसाधारण की भाषा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं था। वह राजस्थान प्रदेश में राजस्थानी की विशेषताओं को, ब्रज प्रदेश में ब्रज की विशेषताओं को, अवध प्रान्त में अवधी की विशेषताओं को और मिथिला प्रदेश में मिथिला की विशेषताओं को लेकर पनप रही थी। यही कारण है कि उस काल की भाषा पर संस्कृत, प्राकृत एवं तत्कालीन लोक–भाषा की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है, परन्तु जब हम पृथ्वीराज रासो की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, तब ज्ञात होता है कि उसमें न केवल तत्कालीन भाषाओं की छाप विद्यमान है, अपितु पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में विकसित ब्रजभाषा की भी स्पष्ट छाप दिखाई देती है। यह माना जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों के आवागमन के साथ अरबी, फारसी के शब्दों का आदान–प्रदान आरम्भ हो गया था, परन्तु सोलहवीं शताब्दी में जाकर ब्रज का जो रूप सुस्थिर हुआ, रासो में उनकी छाया का मिलना रासो की भाषा के बारे में सन्देह उत्पन्न कर देता है फिर भी इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि ब्रजभाषा का सोलहवीं शताब्दी वाला रूप रासो में सर्वत्र नहीं मिलता और उसे कुछ विद्वान् प्रतिलिपिकारों की कृपा एवं कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त अंश मानकर संतोष कर लेते हैं। फिर भी रासो की भाषा में एकरूपता का न होना विद्वानों के मत–मतान्तर का विषय बन गया है। इसी कारण कुछ विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि रासो की रचना मूल रूप में अपभ्रंश के ही अन्दर हुई थी, कुछ इसे राजस्थानी (डिंगल) भाषा में रचा हुआ स्वीकार करते हैं, कुछ इसे ब्रजभाषा (पिंगल) में रचा हुआ मानते हैं और कुछ विद्वान् इसे आदि युग की रचना होने के कारण विभिन्न भाषाओं के मिश्रित रूप में रचित स्वीकार करते हैं। इस तरह रासो की भाषा के बारे में मुख्यतया चार मत प्रचलित हैं –

(1) **अपभ्रंश भाषा–सम्बन्धी मत** – रासो को मूलतः अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ मानने वाले सर्वप्रथम मुनि जिनविजय हैं। 'पुरातन प्रबन्ध–संग्रह' का सम्पादन करते समय आपको अपभ्रंश भाषा में लिखे हुए ऐसे चार छप्पय मिले, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो में भी विद्यमान हैं, परन्तु यहाँ वे कुछ परिवर्तित रूप में हैं। आपने इसी आधार पर अपना यह मत स्थिर किया कि रासो मूलरूप में अपभ्रंश भाषा के अन्तर्गत लिखा गया होगा। कालान्तर में उसको विकृत करके राजस्थानी अथवा अन्य भाषाओं का रूप दे दिया है। इस मत के मानने वालों में से दूसरे विद्वान् श्री मथुराप्रसाद दीक्षित हैं, जो रासो को बारहवीं शताब्दी की रचना कहकर उस काल में प्रचलित प्राकृत–मिश्रित अपभ्रंश भाषा में ही उसके लिखे जाने का अनुमान लगाते हैं, क्योंकि आपके मतानुसार उस समय राजस्थानी एवं ब्रज का कोई रूप स्थिर नहीं हुआ था। इस मत के तीसरे विद्वान् मुनि कान्तिसागर हैं, जो सं० 1403 की उपलब्ध रासो–प्रति के आधार पर यह घोषणा करते हैं कि रासो की भाषा अपभ्रंश ही थी, परन्तु अभी तक उनकी इस उपलब्ध प्रति का परीक्षण एवं निरीक्षण किसी ने नहीं किया है। इस मत के चौथे विद्वान् भारतीय भाषाविद् डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी हैं, जो रासो को प्राचीन ग्रन्थ घोषित करते हुए उसकी भाषा अपभ्रंश ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि रासो की भाषा आधुनिक भाषाओं के स्वरूप से सर्वथा भिन्न एवं प्राचीन है। इस वर्ग के पाँचवें विद्वान् डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं, जो 'सन्देश रासक' के आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि रासो की भाषा पुरानी हिन्दी थी और यह घोषणा करते हैं कि उस समय पुरानी हिन्दी अपभ्रंश भाषा के ही सर्वथा निकट थी। अतः रासो की भाषा को अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में रचा हुआ ही मानना चाहिए।

(2) **राजस्थानी भाषा सम्बन्धी मत** – रासो की भाषा के सम्बन्ध में दूसरा वर्ग उन विद्वानों का मिलता है जो इसे राजस्थानी अथवा डिंगल की रचना बताते हैं, इनमें सर्वप्रथम डॉ० दशरथ शर्मा हैं, उन्होंने रासो की भाषा के बारे में पर्याप्त अनुसन्धान किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि रासो एक ऐसी प्राचीन भाषा में लिखा गया जान पड़ता है जिसमें अपभ्रंश की बहुलता है। संभवतः रासोकार अपभ्रंश परम्परा के कवियों में से अन्तिम कवि रहा होगा, परन्तु उसकी भाषा का अधिक झुकाव प्राचीन राजस्थानी की ही ओर है, जो डिंगल कहलाती है। इस तरह आपने प्राचीन राजस्थानी एवं तत्कालीन अपभ्रंश में समन्वय स्थापित करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। इस वर्ग के द्वितीय विद्वान् श्री मोतीलाल मेनारिया हैं, जो रासो को पूर्णतया राजस्थानी अथवा डिंगल की रचना स्वीकार करते हैं, जिसमें ब्रज, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी आदि भाषाओं का सम्मिश्रण मिलता है, परन्तु मूल रूप में यह डिंगल भाषा का ही ग्रन्थ है। इसी वर्ग में तीसरे विद्वान् डॉ० रामकुमार वर्मा आते हैं, जिन्होंने आदिकाल का वर्गीकरण करके पृथ्वीराज रासो आदि सभी ग्रन्थों को चारण–युग की डिंगल भाषा अथवा राजस्थानी भाषा के ग्रन्थ घोषित किया है।

(3) **पिंगल सम्बन्धी मत** – रासो की भाषा के सम्बन्ध में तीसरा वर्ग उन विद्वानों का है, जो इसे पिंगल की रचना मानते हैं, इस मत के मानने वालों में से एफ. एस. गाउन, जॉन बीम्स, डॉ० ग्रियर्सन, टेसीटरी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर

दास, मिश्रबन्धु, डॉ० धीरेन्द वर्मा, डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० नामवरसिंह, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि प्रसिद्ध है। इन सभी विद्वानों का कथन है कि रासो की भाषा के गठन, स्वभाव, प्रकृति एवं स्वरूप का अध्ययन करने पर यही जान पड़ता है कि न वह अपभ्रंश है, न डिंगल या पुरानी पश्चिमी राजस्थानी है, न पुरानी ब्रजभाषा है, अपितु यह पिंगल भाषा है, जिसे शौरसैनी अपभ्रंश से निकली हुई उस युग की काव्य–भाषा कह सकते हैं। यहाँ तक कि श्री मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'डिंगल में वीररस' नामक ग्रन्थ में डिंगल भाषा की जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है, वे भी रासो की भाषा से मेल नहीं खाती और रासो में पिंगल भाषा की सी ललित एवं मधुर पदावली, क्रियाओं के रूपों एवं विभक्ति चिन्हों की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है। अतः डॉ० माताप्रसाद गुप्त का मत यह है कि 'रासो' में पिंगल भाषा का वह रूप हमें मिलता है जो 'प्राकृत पैंगल' के कुछ ही पीछे विकसित हुआ था।

(4) **मिश्रित भाषा सम्बन्धी मत** – उक्त तीनों वर्गों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों की राय में रासो मिश्रित भाषाओं का ग्रन्थ है। इस मत के मानने वालों में डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी प्रमुख हैं, जिन्होंने रासो पर पर्याप्त शोधकार्य करने के उपरान्त 'चन्दवरदाई और उनका काव्य' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें रासो की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं शोधपूर्ण विवेचन करते हुए आपने बताया है कि 'यद्यपि ऊपर कुछ नियम दिये गये हैं फिर भी रासो की भाषा में एक विलक्षणता यह दिखाई देती है कि किसी नियम का अक्षरशः पालन नहीं मिलता। अधिकांश शब्दों के स्वरों और व्यंजनों के रूप में परम स्वच्छन्दता और सम्भवतः छन्द की तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन मिलते हैं तथा उनके संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी रूपों के दर्शन होते हैं।' इतना ही नहीं, आपने यह भी स्वीकार किया है कि 'इसमें वैदिक संस्कृत, पालि, पैशाची, मागधी, अर्ध–मागधी, शौरसैनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, प्राचीन गुजराती, पंजाबी, ब्रज आदि भारतीय आर्य भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों की अनोखी खिचड़ी तैयार मिलती है तथा देशज शब्दों की भी एक संख्या है।' इस तरह आप रासो को मिश्रित भाषा का ग्रन्थ मानते हैं।

इस प्रकार रासो की भाषा के अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि रासो की भाषा पर्याप्त प्राचीन है, उसमें एकरूपता नहीं है तथा उसमें तत्सम, तद्भव, अर्धतत्सम, देशज एवं विदेशी सभी प्रकार के शब्दों की बहुलता है। इतना अवश्य है कि जहाँ उसमें युद्ध एवं वीरोत्साह सम्बन्धी वर्णन है, उनमें परुषवृत्ति की प्रधानता है, ओजस्विता है, महाप्राणत्व है, द्वित्व की प्रधानता है, सामासिकता है, टकार–बहुलता है और वहाँ पर भाषा ओजस्विता के साथ हुंकार करती हुई अग्रसर हो रही है, परन्तु जहाँ पर प्रेम, विवाह एवं विलासपूर्ण शृंगार आदि के वर्णन आये हैं, वहाँ पर रासो की भाषा में कोमलता एवं मधुरता है, अनुस्वारान्त शब्दों की बहुलता है, वर्ण–मैत्री का प्राधान्य है, पंचम वर्णयुक्त अनुप्रासादि की प्रधानता है, तथा वह मंद–मंथर गति से प्रवाहित हो रही है। उसके ऐसे विलक्षण रूप को देखकर यही कहना पड़ेगा कि रासो की भाषा अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण में महाकवि चन्द द्वारा निर्मित हिन्दी के उस प्राचीन रूप को प्रस्तुत करती है, जिसकी मधुर, सरस एवं कोमल प्रवृत्ति को अपनाकर एक ओर सूरदास, नन्ददास, बिहारी देव आदि ने ब्रजभाषा के रूप का गठन किया, तो दूसरी ओर जिसके परुषावृत्ति प्रधान, टकार–बहुल एवं महाप्राण प्रधान रूप को अपनाकर भूषण, लालकवि, जोधराज, सूदन आदि ने अपने काव्यों का निर्माण किया। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रासो की भाषा में प्राचीन भाषाओं का पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है और कवि ने भी शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़ा–मरोड़ा है, किन्तु वह तत्कालीन बोलचाल की भाषा के अधिक निकट जान पड़ती है और उसमें ऐसे क्रियापदों की ही प्रधानता है, जिनका प्रयोग भक्तिकाल एवं रीतिकाल तक हिन्दी में बराबर मिलता है। जैसे – तजि, भजि, गिरि, बढ़ि, लहि, करिय, करि, डारी आदि।

अतएव रासो की भाषा के बारे में यही मानना पड़ेगा कि अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण में शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई काव्य–भाषा हिन्दी के ही आरम्भिक रूप को प्रस्तुत करती है जिसमें विविधता होकर भी धारावाहिकता है, पर्याप्त सम्मिश्रण होने पर भी भावानुकूलता है और विभिन्न भाषाओं का प्रभाव होने पर भी जिसमें कवि के संकेत पर चलने की अपूर्व क्षमता है। निस्संदेह रासो की भाषा हिन्दी के आदिकाल की उस भाषा की ओर संकेत कर रही है, जिस पर एक ओर तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं का प्रभाव था, किन्तु दूसरी ओर जो अपभ्रंश के साहित्यिक शिकंजे से निकल कर लोकभाषा के आधार पर अपना एक स्वतंत्र रूप ग्रहण कर रही थी। इसीलिए रासो हिन्दी–साहित्य के साथ–साथ भाषा के भी गौरवपूर्ण प्राचीन रूप को प्रस्तुत करता है।

NOTES

8. वीर–काव्य–धरा में चन्दवरदाई का स्थान

महाकवि चन्दवरदाई ने जिस युग में अवतीर्ण होकर काव्य–रचना का कार्य आरम्भ किया था, वह हिन्दी–साहित्य का 'आदि–काल' कहलाता है। इस युग के नामकरण के बारे में विद्वान् एकमत नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग में वीर–गाथात्मक काव्य की प्रधानता स्वीकार की है और इसी आधार पर आपने इस युग को 'वीरगाथा काल' कहा है, परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस युग में अपभ्रंश ग्रन्थों की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा आचार्य शुक्ल जिन ग्रन्थों को 'वीरगाथा' कहते हैं, उन्हें द्विवेदीजी सच्ची–झूठी विजयों तथा कल्पित–अकल्पित प्रेम–प्रसंगों का वर्णन बताते हैं और उनमें वीरगाथा की अपेक्षा राजस्तुति का प्राधान्य स्वीकार करते हैं। अत: द्विवेदीजी के विचार से इस युग को 'अपभ्रंश काल' कहना समीचीन है, वीरगाथा काल नहीं। इनके अतिरिक्त राहुल सांकृत्यायन इस युग को 'सिद्ध–सामंत काल' कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं, क्योंकि इस समय सिद्धों का साहित्य तथा सामंतों की तत्कालीन स्थिति सम्बन्धी साहित्य ही अधिक लिखा गया था। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इसे 'वीरगाथा काल' ही स्वीकार किया है और इस युग में दो प्रकार की वीरगाथाओं का प्राधान्य सिद्ध किया है, जिनमें से कुछ प्रबन्धात्मक रूप में वीरगाथायें मिलती हैं, जैसे – खुमानरासो, पृथ्वीराज रासे आदि और कुछ वीर–गीतों के रूप में वीरगाथायें मिलती हैं, जैसे – आल्हखण्ड, बीसलदेव रासो आदि। इसके अतिरिक्त डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी के इस युग को वीरगाथा काल न कहकर 'हिन्दी वीर–काव्य का काल' कहना अधिक समीचीन समझा है, क्योंकि उनके मतानुसार इस युग में हिन्दी के वीर–काव्यों का सृजन ही प्रचुर मात्रा में हुआ था, परन्तु इस आदिकाल का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसका सम्यक् वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया है। सर्वप्रथम आपने इस युग को दो भागों में विभक्त किया है – संधि–काल और चारण–काल को पुन: दो भागों में विभक्त किया है – आध्यात्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य। इनमें से आध्यात्मिक साहित्य के अन्तर्गत तीन रूप मिलते हैं – (1) सिद्ध–साहित्य, (2) जैन–साहित्य और (3) नाथ–साहित्य। लौकिक साहित्य के दो रूप मिलते हैं – (1) शृंगार–साहित्य या प्रेम–कथा साहित्य, जैसे मुल्ला दाऊद की चन्द्रावत और (2) मनोरंजन–साहित्य, जैसे – खुसरो की गजलें, मुकरियाँ, पहेलियाँ आदि। इस प्रकार संधिकाल के अन्तर्गत पाँच प्रकार का साहित्य मिलता है। इसके अतिरिक्त चारण–काल को दो भागों में विभक्त किया गया है – (1) डिंगल–साहित्य, जिसमें सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य अथवा रासो–साहित्य आ जाता है, तथा (2) पिंगल–साहित्य, जिसके अन्तर्गत तत्कालीन ब्रजभाषा–साहित्य आता है। इस तरह हिन्दी के आदिकाल में विभिन्न प्रकार का साहित्य रचा गया था, परन्तु महाकवि चन्दवरदाई आदिकाल के अन्तर्गत चारण–काल की डिंगल–साहित्य सम्बन्धी परम्परा में आते हैं।

हिन्दी के चारण–काल की डिंगल–साहित्य सम्बन्धी परम्परा के अन्तर्गत जो वीरगाथाएँ आती हैं, उनमें से दलपति विजय कृत 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो', भट्टकेदार कृत 'जयचन्द्र प्रकाश', मधुकर कृत 'जयमयंक–जसचन्द्रिका' तथा जगनिक कृत 'आल्हखण्ड' प्रसिद्ध हैं। इन सभी ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' की समता करने की क्षमता किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। 'पृथ्वीराज रासो' इस युग की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह एक विशालकाय महाकाव्य है, जो हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य कहलाता है। इसमें कविवर चन्द की अनुपम कवित्व–शक्ति एवं अद्‌भुत प्रतिभा का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है तथा यह ग्रन्थ कवि चन्द की इतिहास एवं राजनीति, धर्म एवं ज्योतिष, साहित्य एवं काव्यशास्त्र, पुराण एवं दर्शन, व्याकरण एवं छन्दशास्त्र, तन्त्र–मन्त्र एवं सिद्धियों, शास्त्रार्थ एवं युद्ध–कौशल आदि से सम्बन्धित अद्‌भुत योग्यता का परिचायक है। काव्य की दृष्टि से कवि ने इस ग्रन्थ में वीर और शृंगार रस का जैसा मार्मिक वर्णन किया है, वैसा तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता। इसके साथ ही इसमें आखेट–वर्णन, युद्ध–वर्णन एवं प्रकृति–चित्रण भी अत्यन्त सजीव हैं। कर्नल टॉड ने ठीक ही लिखा है कि 'पृथ्वीराज के युद्धों, उसके अनेक शक्ति–सम्पन्न सामंतों, उनके ऐतिहासिक एवं भौगोलिक स्मरण–लेख का रूप धारण कर लेता है, इसके अतिरिक्त यह पौराणिक आख्यानों, रिवाजों तथा मानसिक जगत् के ऐतिहासिक तथ्यों का संचित कोष है।' जॉन बीम्स ने भी चन्द को हिन्दी भाषा का सर्वप्रथम कवि माना है। एफ्रू एसक्रू ग्राउज ने चन्द को हिन्दी काव्य का जनक बताया है। हरिऔधजी ने चन्द को 'हिन्दी संसार का चॉसर' बताया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार "अब इस विषय में किसी को संदेह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है।' डॉ० रामकुमार वर्मा के मत से भी 'पृथ्वीराज रासो राजस्थानी–साहित्य का सर्वप्रथम प्रबन्धात्मक काव्य माना गया है। उसका रचयिता चन्द भी वीर–काव्य धारा का प्रथम महाकवि है।'

'पृथ्वीराज रासो' के उपरान्त वीर-काव्यों की परम्परा में शारंगधर का 'हम्मीर रासो' तथा मल्लसिंह भट्ट कृत 'विजयपाल रासो' नामक काव्य आते हैं। ये दोनों ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी के हैं, परन्तु 'हम्मीर रासो' के बारे में विद्वानों का मत है कि यह रचना और भी परवर्ती है, क्योंकि इसकी भाषा उस काल के वीर-काव्यों की भाषा से नहीं मिलती। तदनन्तर इसी परम्परा में 'जैतसी रानै पाबूजोरा छन्द', 'अचलदास खीची री वचनिका शिवदास री कही', 'किसन रूक्मिणी री बेल राजा पिथीराज री कही', 'ढोला मारवाणी चउपही', 'वरसलपुर गढ़ विजय', 'ग्रन्थराज गाउण गोपीनाथ रौ कहियौ' आदि डिंगल-साहित्य के ग्रन्थ आते हैं, जो भाषा एवं वर्ण्य-विषय की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' में पर्याप्त मिलते-जुलते हैं, क्योंकि इनमें भी अपभ्रंश जैसी तत्कालीन लोकभाषा में युद्ध-कौशल के साथ-साथ वीरों के शौर्य, पराक्रम एवं ऐश्वर्य का ओजस्वी वर्णन मिलता है तथा इनमें भी शृंगार एवं रौद्र रस के साथ-साथ वीर रस का प्राधान्य है, परन्तु ये सभी ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' के समक्ष अधिक सरस एवं प्रभावोत्पादक नहीं दिखाई देते।

इसके अनन्तर वीरगाथाओं के लिए ब्रजभाषा पर्याप्त सशक्त एवं सक्षम हो चुकी थी और प्राचीन लोकभाषा अथवा अपभ्रंश मिश्रित डिंगल या राजस्थानी का जमाना लद चुका था। अतएव हिन्दी के आगामी कवियों ने वीर-काव्यों की इस परम्परा के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। दूसरे, अभी तक वीर-कवियों के चरितनायक प्रायः राजस्थान के ही थे। अब राजस्थान से हटकर अन्य स्थानों के वीर-पुरुषों के यशोगान का कार्य भी आरम्भ हुआ। इसलिए उस समय ब्रजभाषा में जो वीर-काव्य लिखे गये, उनमें भूषण कृत 'शिवराज भूषण', 'शिवावावनी' और 'छत्रसाल दशक', कुलपति मिश्र कृत 'संग्रामसार' और 'द्रोणपर्व' श्रीधर या मुरलीधर कृत 'जंगनामा', पद्माकर कृत 'रामरसायन', सबलसिंह चौहान कृत 'महाभारत', छत्रसिंह कृत 'विजयमुक्तावली', नवलसिंह कृत 'आल्हा रामायण', और 'आल्हा भारत', लाल कवि कृत 'छत्र प्रकाश', जोधराज कृत 'हमीर रासो', सूदन कृत 'सुजान चरित' आदि प्रसिद्ध है। यद्यपि उक्त सभी ग्रन्थ रीतिकाल की शृंगारमयी प्रवृत्ति की प्रधानता के समय ही लिखे गये हैं, तथापि इन पर शृंगार का प्रभाव न होकर रासो की वीरगाथा वाली परम्परा का ही प्रभाव है, जिसके परिणामस्वरूप इनमें भी वीरों के शौर्य, पराक्रम एवं ओजपूर्ण कृत्यों का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है।

आधुनिक युग में आकर वीरगाथा-काल की यह धारा वैयक्तिक शौर्य-गान की अपेक्षा भारतीयों के सामूहिक शौर्य, पराक्रम, साहस, वीरता, बलिदान, स्वतंत्रता के लिए अथक प्रयत्न आदि के वर्णन के रूप में प्रवाहित हुई और माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', वियोगी हरि, लाला भगवानदीन, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारीसिंह 'दिनकर', मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, श्यामनारायण पाण्डेय, सोहनलाल द्विवेदी आदि की कविताओं के रूप में प्रस्फुटित हुई, किन्तु वैयक्तिक शौर्य एवं पराक्रम का ही वर्णन हुआ, जिसमें से श्यामनारायण पाण्डेय कृत 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' काव्य प्रसिद्ध हैं, परन्तु इस काव्यधारा को प्रभावशाली एवं आकर्षक ढंग से प्रवाहित करने का सर्वप्रथम श्रेय कविवर चन्दवरदाइ को ही प्राप्त है।

अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी में वीर-काव्यों की परम्परा अत्यन्त दीर्घ एवं विस्तृत है तथा इस धारा का प्रवाह आधुनिक युग तक अक्षुण्ण गति से प्रवाहित हो रहा है। फिर भी इस परम्परा में कवि चन्द का गौरवपूर्ण स्थान है, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' ही हिन्दी का सर्वप्रथम ऐसा महाकाव्य है, जो वीर काव्य-धारा का प्रवर्तक एवं प्रेरणा-स्रोत है। यह ग्रन्थ हिन्दी के आदिकाल में ही लिखा गया था और उसके लेखक चन्दवरदाई थे। इसी कारण यह निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी की वीर-काव्य धारा के प्रतिनिधि कवियों की जब भी गणना होगी, तभी चन्दवरदाई का नाम सर्वप्रथम स्मरण किया जायेगा।

9. सार-संक्षेप

महाकवि चन्दवरदायी की अमर कृति 'पृथ्वीराज रासो' का आदिकालीन हिन्दी साहित्य में विशिष्ट महत्व है। काव्यकला की दृष्टि से जहाँ यह महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी पर खरा उतरता है, वहीं तत्कालीन भारतीय इतिहास के ज्ञान की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण है।

इतना होने पर भी चन्दवरदायी और उनके महाकाव्य पृथ्वीराज रासो को लेकर विद्वानों के बीच जितना मतभेद और विवाद पाया जाता है, उतना सम्भवतः आदिकाल के किसी दूसरे कवि तथा उसकी रचना के विषय में नहीं पाया जाता है। रासो का काव्य सौष्ठव उच्चकोटि का है। इसके वस्तु वर्णनों में तन्मय एवं तल्लीन करने की पूर्ण क्षमता है और सभी वर्णन कवि की उत्कट काव्य प्रतिभा, गहन काव्यानुभूति, उर्वर कल्पना एवं विविध विषयों के ज्ञान के परिचायक है।

अत: हिन्दी में वीर काव्यों की परम्परा अत्यन्त दीर्घ एवं विस्तृत है तथा इस धारा का प्रवाह आधुनिक युग तक निरन्तर प्रवाहित हो रहा है। फिर भी इस परम्परा में कवि चन्दवरदायी का गौरवपूर्ण स्थान है। पृथ्वीराज रासो ही हिन्दी का सर्वप्रथम ऐसा महाकाव्य है, जो वीर काव्य–धारा का प्रवर्त्रक एवं प्रेरणा स्रोत है।

NOTES

10. अभ्यास–प्रश्न

1. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, अप्रमाणिकता को समझाईये।
2. पृथ्वीराज रासो का काव्य–सौन्दर्य अद्वितीय है, समीक्षा कीजिए।
3. पृथ्वीराज रासो की भाषा को विस्तार से समझाईए।
4. वीर काव्य धारा में चन्दवरदायी का स्थान निर्धारित कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

   (1) आखेट वर्णन (2) युद्ध वर्णन

   (3) विवाह वर्णन (4) प्रकृति चित्रण

अध्याय – 6

NOTES

भक्तिकाल : संक्षिप्त परिचय एवं प्रमुख प्रवृत्तियाँ

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन उद्देश्य
- परिचय
- भक्तिकाल : पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियाँ
- भक्तिकाल की मूल प्रवृत्तियाँ
- सूफी–साहित्य की रूप रेखा
- रामाश्रयी शाखा
- राम–काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

NOTES

1. अध्ययन उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में भक्तिकाल के उदय की परिस्थितियाँ, भक्तिकाल के प्रमुख भक्त कवि एवं उनकी रचनाएँ और विशेषताओं को विस्तार से विवेचन किया गया है। इस इकाई में भक्तिकाल को समझने में सरलता होगी।

2. परिचय

हिन्दी साहित्य के वैभव की दृष्टि से जितनी महान विभूतियाँ इस युग में हुई उतनी हिंदी साहित्य के किसी भी युग में नहीं। साहित्य और दार्शनिक संत मानव–जीवन को उन्नत बनाने में दत्तचित्त से भिड़े थे। सब का रास्ता तो अलग–अलग दिखाई पड़ता है, पर लक्ष्य सबका एक ही था– मानव को उस विराट सत्ता का उद्‌बोध कराना जो नव जीवन का नियामक है।

उस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि चारण कवियों की भाँति इस युग के प्रमुख साहित्यकार राजाश्रित नहीं थे। वे खुली वायु में साँस लेने वाले स्वतंत्र चिंतक थे। उन्होने जीवन देखा था, जगत देखा था, वह जानता था कि किस प्रकार जीवन से संघर्ष कर नए मार्ग का निर्माण किया जाता है। वह विचारों का द्रष्टा और मानव–भविष्य का स्रष्टा था। जिस समाज में वह पला था उसको उन्नत बनाने का सुख–स्वप्न उसकी आँखों में था जिसको अलग से मूर्त रूप देने का व्यापक रूप से उसने प्रयत्न किया।

3. भक्तिकाल : पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियाँ

अपभ्रंश साहित्य के दो रूप हैं– पूर्वी अपभ्रंश का साहित्य एवं पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्य। पहली में भावुकता, विद्रोह एवं रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधन्य है, तो दूसरी में नियम–निष्ठा, रूढ़िपालन तथा स्पष्टवादिता का प्रामुख्य। आदि काल की सीमा सामाप्त होते–होते दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रण होने लगा और इसी मिश्रण से सूचित साहित्य 'भक्ति साहित्य' है। यही हिंदी का सच्चा साहित्य है। इस काल की व्याप्ति 1376 से 1700संवत् तक मानी गई है।

डॉ. ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य की इस नवोदित प्रवृत्ति को देखकर आश्चर्य व्यक्त किया है और बताया है कि यह भक्ति तत्व ईसायत की देन है। उनक अंदाज है कि दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेंसी के कुछ भागों में आकर बस गये थे। रामानुजाचार्य को इन्हीं ईसाइयों से भावावेश एवं प्रेमोल्लास के धर्म का संकेत मिला। इसी प्रकार कुछ लोगों का यह भी विचार है कि जब मुसलमानों ने नये मजहब के आवेश में हिन्दुओं की विभक्त शक्तियों को धराशायी कर उनके पूज्य तत्वों तक का घोर अपमान करना आरम्भ किया तो इस पराजित एंव हताश हिंदू मनोवृत्ति ने भगवान की शक्ति और करुणा की ओर मुंह फेरा। विचार करने पर उक्त दोनो की उपस्थापनाएँ निस्सार जान पड़ेगी। असल में यह 'भक्ति' तत्व न तो ईसाइयत की देन है और न मुसलमानी प्रतिक्रिया का परिणाम। एतत्कालीन भक्ति का उदय यदि मुसलमानी आक्रमण की प्रतिक्रिया में हुआ होता, तो निश्चित ही उसे सर्व प्रथम सिंध और तब उत्तरी भारत में होना चाहिये था। आक्रमण का क्रम वही था। दूसरे यह कि आक्रमण हुआ, उत्तर भारत में और भक्ति उदय हुआ, दक्षिण भारत में– यह क्या? इस मुसलमानी आक्रमण की प्रतिक्रिया हुई अवश्य, पर वह अन्यत्र।

अन्यत्र से हमारा अभिप्राय धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर है। यों तो मुसलमानों के आक्रमण पहले से ही होते रहे, पर वे अधिकतर सैनिक एवं राजनैतिक थे, पर जिस समय हिंदी साहित्य भक्ति कालीन साहित्य बनने जा रहा था, उस समय का आक्रमण सांस्कृतिक था। उस समय दो विरोधी संस्कृतियों का द्वंद्व था–धर्म एवं मजहब का संघर्ष था। भारतीय धर्म जातिगत विशेषता रखते हुए वैयक्तिक साधना का पक्षपाती था जबकि इस्लाम जातिगत विशेषता का लोप करके सामूहिक उपासना का कायल था। सो, इस नव द्वंद्व की भारतीय धर्म एवं समाज मे प्रतिक्रिया यह हुई कि भारतीय समाज ने अपनी सुरक्षा के लिये अपने आपको अत्यधिक कस लिया और नितांत संकीर्ण हो गया। धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र के अतिरिक्त विचारों के क्षेत्र में स्वाधीन चिंता कुण्ठित हो गई और आचार्यों के सिद्धांतों के पल्लवन में ही सारी भारतीय प्रतिभा केंद्रित हो गई। ऐसी ही कुण्ठा के समय बौद्ध व नाथ सिद्धों ने परम्परा का घोर विरोध किया। उत्तर भारत की जब यह स्थिति थी, उसी अवसर पर दक्षिण से भक्ति की उमड़ती हुई धारा ने 'हिन्दी प्रदेश' में प्रवेश किया। इस प्रकार यह तो नहीं कहा जा सकात है कि 'भक्तिआंदोलन' मुसलमानी प्रतिक्रिया थी। रही बात यह कि वह 'दक्षिण से आने वाली भक्ति धारा ईसाइयत की देन है' – यह भी ठीक नही। असल में इस 'भक्ति–धारा' की वृष्टि के लिये हजारों वर्ष से मेघ खण्ड एकत्रित हो रहे थे।

भारत न केवल गाँवों का समूह मात्र है अपितु सदैव से ही चिंतन और जीवन की दार्शनिक अभिव्यक्ति की परम्परा यहाँ रही है। अलौकिक सत्ता जो जीवन दर्शन से आप्लावित है वह उसे कभी भूली नहीं। यह उस मिट्टी पानी का असर है जहाँ के

महर्षियों ने सभ्यता के प्रथम विकास में ही विचारों का साक्षात्कार किया। दार्शनिकों के इस देश ने भी समय-समय पर केवल एक ही विचार-धारा को अपने भाग्य का नियन्ता न बना कर युग और परिस्थितियों के अनुरूप विचारों में निरंतर परिवर्तन एवं संशोधन करने का क्रम जारी रखा। दार्शनिक चिंतन की इस धारा में नवीन चेतना अँगड़ाई लेती रही। बौ) और जैन धर्म जब जनता से दूर हट गए, उनके मुकुर पर जब धुंध छा गया तथा जनता अपना चित्र उसमें न देख पाई तब शंकराचार्य ने भारत को एक नए दार्शनिक किंतु चिर पुरातन विचार से अभिभूत किया। उनका मार्ग शंकर अद्वैत के नाम से जाना जाता है। सत्य ब्रह्म जगत् मिथ्या वाला सि)ांत युग के अनुरूप न रहा। उसमें परिवर्तन की अपेक्षा का अनुभव भारत के सभी कोनो में किया जाने लगा। नए रूप में नई चेतना देश के कोने में जागी। भगवान जनजीवन मे पुनः अवरित हुआ। कुछ लोग उस परम्परा को आगे बढ़ाते रहे जो सि)ों और संतो द्वारा प्रवर्तित की गई, किंतु नए रूप में नए रंग में। कबीर संत-परंपरा के हिंदी काव्य में आदि संदेश-वाहक हुए। रामानुजाचार्य ने मूर्त्त भगवान की कल्पना की। उन्होंने अवतारवाद के तत्वों का जन-जीवन में पुनः प्रवेश कराया। राम और ष्ण लोकनायक भगवान के रूप में प्रतिष्ठित किए गए जो न केवल करुणासागर थे अपितु अपने भक्तों के त्राता और विधाता भी थे। वल्लभाचार्य और चैतन्य प्रभु ने लोक में प्रेमपूर्ण नया जीवन फूँका। जीवन में उन्होंने ष्ण की प्रतिष्ठा की। रामानंद ने लोक मे राम की प्राण प्रतिष्ठा की।

साधुसंत तो इस कार्य में दत्त चित्त से लगे ही थे। सूफी फकीर भी मानव को भगवान का ही रूप बताकर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर रहे थे। इस क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान सभी व्यापक रूप से आए। साधुसंतों की धारा विभिन्न रूपों में फूली। साहित्य पर भी उसका उसी रूप में प्रभाव पड़ा। उस युग के काव्य का जीवन दर्शन दार्शनिक विचारों से अत्यंत प्रभावित हुआ। राजनैतिक चेतना का स्फुरण सामन्तवादी युग में अँगड़ाई ले ही नहीं सकता था। जीवन की महत्ता उन दार्शनिक विचाारों में प्रतिष्ठित दिख पड़ती है, जिसमें आशा और नवजीवन का संदेश है। कवि इस युग का संदेशवाहक बना। अपने दार्शनिक लोक-कल्याणकारी विचारों को प्रसारित करने का सर्वाधिक सुंदर साधन उसने साहित्य को समझा और उसी के द्वारा अपने विचारों का प्रसार भी उसने किया। इस युग के प्रायः सभी कवि, जिनकी गणना उच्च श्रेणी के साहित्यकारों में की जा सकती है, किसी न किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तक रूप में या उसके अनुगामी के रूप में प्रकट हुए। अतएव बन्धन की सीमा तो थी ही किंतु तुलसीदास, मीरा, आदि अपवाद हैं। यद्यपि संप्रदाय का यह व्यापक बंधन प्रायः सभी कवियों पर था तो भी अनेक की भाव-ध ारा हृदय के अत्यंत समीप पड़ती है, यथा सगुण उपासना प)ति या सूफी प्रेम-प)ति के अनुगामियों की, यद्यपि इनमे कहीं कहीं खंडन-मंडन की प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है। एक संप्रदाय का कवि दूसरे संप्रदाय के कवियों की भाव-धारा को समाज के अनुपयुक्त ठहराता है किंतु कबीर को छोड़कर प्रायः सभी कवि इसको साहित्य की सरस रसमय प)ति कहते हैं। इसके सुंदर साहित्यिक उदाहरण इस युग मे निर्मित भ्रमर गीत है। सूफी कवि और तुलसीदास तो महान समन्वयवादी दृष्टिकोण लेकर आए थे। उन्हें जो कहना था, जिसको उन्होंने युग के अनुरूप समझा अपने ढंग से उसे कह दिया। कबीर न केवल एक खण्डन-मण्डन करनेवाले दार्शनिक के रूप में उपस्थित हुए अपितु उनके भीतर एक समाजचेता विद्रोही के रूप में समाज-सुधार की सक्रिय भावना का भी दर्शन होता है। समाज की कट्टरता के शिकार तो सभी थे पर कबीर धौंस का जवाब लट्ठ से देने के पक्षपाती थे। प्रायः अन्य कवियों में अपने बात के कहने की रागात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है।

सबसे बड़ी विशेषता इस युग की जो दिखाई पड़ती है वह है यह कि पूर्ववती हिंदी की काव्य धारा व्यक्ति पूजा की ऊबड़-खाबड़ संकुचित भूमि पर बहती थी, किंतु इस युग के समर्थ कवियों ने व्यक्ति का परित्याग कर उसे समाज-गंगा के रूप में प्रवाहित किया। उस प्रवाह से अनेक धाराएँ फूटी, जो गौरव की पाव गाथा छिपाए है। प्रायः यह कहा जाता है कि अमुक काव्यधारा अच्छी है, अमुक बुरी है, अमुक उपादेय थी , अमुक अनुपयोगी किंतु यह कहने वाले प्रायः इस बात को भूल जाते है कि उस युग के सभी कवि जिनकी गणना वास्तव मे उच्चकोटि के कवियों में हो सकती है, तथा जो हिंदी की शोभा है, उन्होंने अपने-अपने ढंग से समाज के कल्याण के लिए काव्य का निर्माण किया। जब प्रतिभाएँ एक साथ उद्भूत होती है तो उनका सोचने का ढंग विलग-विलग होता है। अलग-अलग ढंग से उन कवियों ने समाज के मानस मे जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा की। वे पूर्व परम्परा से अवगत थे और प्रायः उनमें से सभी द्धनिर्गुणिए संतों को छोड़करद्ध पढ़े लिखे पंडित थे। प्रतिभा के साथ ज्ञान का यह संयोग उस युग के साहित्य को उत ष्ट बनाने में अत्यंत सहायक हुआ। उस युग में लोग यह जानते थे कि काव्य के व्यापक प्रसार के लिए सुन्दर संगीत तत्व की भी अपेक्षा है, उससे वे परिचित थे। तुलसी, मीरा, सूर, कबीर सभी के पद गये है। उन्होने स्वर-संधान किया था। सबके काव्य में स्थल-स्थल पर चित्र मयता के दर्शन भी होते है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो इतना बड़ा समन्वायवादी युग काव्य की दृष्टि से हिंदी की परम्परा को कभी भी प्राप्त नहीं हुआ।

NOTES

भक्ति–आन्दोलन का प्रादुर्भाव

भक्ति आंदोलन मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार–प्रसार के परिणाम स्वरूप जन्मा था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे –धीरे लोक प्रचलित भाषाओं के माध्यम से फैलता गया । भक्ति साहित्य में उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। परतु भक्ति भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित नहीं थी – शैव शाक्त के अतिरिक्त बौ) और जैन सम्प्रदाय तक इस प्रभाव से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके। मुस्लिम सूफी सम्प्रदाय ने भी भक्तिकाल की सामान्य भाव–धारा में अपना अविस्मरणीय योग दिया था। तत्कालीन भारत मे प्रचलित विभिन्न धर्मो में अनेकानेक मार्गों और सम्प्रदायों में बटने की प्रवृत्ति चरम–सीमा पर पहुँच गई थी, न केवल हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय कई –कई भागों मे बंटे, बल्की इस्लाम में भी ऐसे विभाजन दिखाई दिए। वे परस्पर एक दूसरे से अक्सर संघर्ष करते रहते थे। भक्तिभाव अपने –अपने मतों की भिन्नता के बावजूद समस्त ध ार्मिक सम्प्रदायों और जातियों में विराट समन्वय का प्रतीक बन कर आया, इतना ही नहीं वह समस्त मानवता को एक सूत्र में गूंथने के उपक्रम के रूप में भी प्रकट हुआ।

तत्कालीन भारत में धार्मिक बाहयाचार और राजनीतिक पाखंड के साथ अनैतिक और मूल्यहीन व्यवस्था का प्रभाव बढ़ रहा था। इन विषम स्थितियों मे भक्तिकाल के कवियों ने जनता को पाखंडो और अनैतिकताओं के विरू) जगाया, भीतर से जुड़ने की इच्छा वाली जनता में समन्वय और साहचर्य की भावना पैदा की, उनके आत्मवि वास को बल पहुँचाया और उन्हें उदात्त, व्यापक तथा कल्याणकारी जीवन का मार्ग दिखाया।

वस्तु की गंभीरता और उद्दे यपरकता, िल्प का वैविध्य, विचारों की उदात्तता, अनुभूति गहराई और लोक को मार्ग द र्शन देने वाली दृष्टिपरकता के कारण यह युग न केवल उत्कृष्ट सृजन बल्की सार्थन सृजन की दृष्टि से अप्रतिम था। इसीलिए इसे स्वर्ण युग कहा गया है। भक्तिकाल के सम्बन्ध में डॉ. श्यामसुंदर दास के ये शब्द बहुत महत्वपूर्ण है।

"जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे सुप्रसि)
कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंत: करणों
से निकालकर देश के कोने –कोने में फैली थी उसे
साहित्य के इतिहास में सामान्यत: भक्ति युग कहते है।
निश्चय ही यह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण–युग था।"

भक्तिकाल की मूल प्रवृत्तियाँ

भक्तिकालीन काव्य मूलरूप से दो धाराओं 'सगुण भक्ति एवं निर्गुण भक्ति' धारा में प्रवाहित हुआ। कालान्तर में आस्था एवं आराध्य के आधार पर ये दो मूल धाराएँ क्रमशः ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी तथा रामाश्रयी एवं ष्णश्रयी शाखाओं में विभाजित हो गयीं।

इस काल के साहित्य की प्रमुख पवृत्तियाँ का अध्ययन निम्नलिखित चार शाखाओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है –

महात्मा कबीरदास द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय ही निर्गुण सम्प्रदाय है। कुछ लोग इसे 'संत सम्प्रदाय' भी कहते हैं। यहाँ दोनों शब्दों के अर्थों पर विचार करना आवश्यक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'संत' शब्द मूलतः संस्त के 'सत्' शब्द से बना है जो अस् धातु द्धविद्यमान के अर्थ मेंऋ से निष्पन्न हुआ है। 'सत्' शब्द पुल्लिग कर्ताकारक, बहुवचन में द्धसन्, सन्तौ, सन्तऋ 'संत' बनता है जबकि हिंदी में 'संत' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग, एकवचन के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। बौ) धर्मग्रंथ 'धम्मपद' में 'संत' शब्द 'शांत' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'संत' शब्द का मौलिक अर्थ है 'शु) अस्तित्व'। इस प्रकार संत शब्द का प्रयोग नित्य एकरस रहने वाले तत्त्व के लिये किया जाता है। बाद में इस सामान्यार्थ 'संत' शब्द का अर्थ संकोच हुआ और केवल वारकरी सम्प्रदाय के प्रचारकों के लिये ही होने लगा। इन लोगों की साधना निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तकों के लिए हुई थी। ज्ञानदेव द्धसं. 1332–53ऋ, नामदेव द्धसं.–1328–1407ऋ, एकनाथ द्धसं. 1590–1656ऋ और तुकाराम द्धसं. 1666–1707ऋ आदि प्रमुख थे। इनका संबंध महाराष्ट्र से था। इन लोगों ने अपने मत को 'संत मत' कहा। संतों की यही परम्परा जब उत्तर भारत में आई, तो उसके अनुयायी भी संत कहे जाने लगे। हिन्दी में इन्हीं लोगों द्वारा 'संत साहित्य' की प्रतिष्ठा हुई।

NOTES

वर्ण्य–विषय की दृष्टि से संत साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

द्धअऋ आध्यात्मिक – क्रियात्मक एवं ध्वंसात्मक

द्धबऋ सामाजिक–क्रियात्मक एवं ध्वंसात्मक

1. **क्रियात्मक** : सत्पुरुष द्धनिराकार, ईश्वरऋ नाम, स्मरण, अनहद शब्द, भक्ति सुरत, विरह, पतिव्रता–प्रेम, विश्वास, 'निजकर्ता को निर्णय', सत्संग, सहज, 'सारहगहनी' मौन, परिचय, उपदेश, 'साँच', उदारता, शील, क्षमा, संतोष, धीरता, दया, विचार, विवेक, गुरुदेव, आरती।
2. **ध्वंसात्मक** : चेतावनी, भेष, कुसंङ्ग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और हठता, कपट, आशा, तृष्णा, मन, माया, कनक और कामिनी, निद्रा, निंदा, स्वादिष्ट आहार, मांसाहार, नशा, 'आनदेवकी पूजा' तीर्थव्रत, दुर्जन आदि।

सामाजिक की भावना के अंग – जातिपाँति के भेद का उच्छेदन, मानव की समता का उद्बोध, धार्मिक बाह्याडम्बर तथा पाखण्डों का उन्मूलन, अहिंसा की साधना। यहाँ इन्हीं वर्ण्य–विषय के कुछ प्रमुख बिन्दुओं को स्पष्ट किया जा रहा है।

ब्रह्म – ब्रह्म का ब्रह्म अधिकांशतः अद्वैत, निर्गुण, निरुपाधि, अनिर्वचनीय है किंतु उसमें सगुण भावनाओं के लिए भी स्थान है। इसका मूल कारण संतों का भक्त हृदय होना है। वही निर्गुण, निर्विशेष रूप ब्रह्म जब भक्त के मधुर भाव बंधन को स्वीकार कर उसके हृदय में आविर्भूत होता है तब वह सगुण–सविशेष रूप में प्रकट होता है। संत परम तत्त्व को दाता, भक्तवत्सल, स्वामी, शरणदाता, पालु, शीलवंत, सखा, सहायक, दीनानाथ आदि नामों से संबोधित करते हैं, परन्तु अवतारवाद का वे पूर्णतः विरोध करते हैं। यद्यपि वे निर्गुण, निराकार ब्रह्म को राम, ष्ण, हरि, विष्णु, केशव, बीठुला, मुरारि, गोपाल आदि नामों से संबोधित करते हैं, परन्तु ये सभी संबोधन उस निर्गुण ब्रह्म के प्रतीक मात्र हैं, अवतारी रूप नहीं।

जीव – सभी संत आत्मा को जीव, प्राण, मन, बुद्धि और देह से विलक्षण मानते हैं। आत्मा जब शरीर के संयोग से इंद्रियों के अधीन होकर अपने को भूल जाती है तभी 'जीव' कहलाती है। यह जीवात्मा शरीर में प्रवेश करते ही अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत करके अपनी स्थिति को खोकर भ्रांतिस्वरूप भिन्न प्रकार की हो जाती है। जीवात्मा मायोपाधि होकर ही संसार में जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। सांसारिक आकर्षणों में लीन होता है और शरीर के धर्म को अपना धर्म मानकर सुख–दुःख का अनुभव करने लगता है। पर जब अज्ञान का आवरण हट जाता है तो जीव और ब्रह्म में अभेद हो जाता है।

मुक्ति अथवा मोक्ष – सभी संत आत्मा और परमात्मा के मध्य द्वैत का अभाव ही मुक्ति मानते है। उसके अनुसार अभेद की अवस्था ही मुक्ति है। कबीरदास के अनुसार तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अज्ञान का आवरण हट जाता है। द्वैतभाव समाप्त हो जाता है, यही मुक्ति है।

मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है– 1. जीवन्मुक्ति 2. विदेहमुक्ति। इसी जीवन में विभिन्न कर्म करते हुए भी कर्मासक्ति का परित्याग कर प्राणी जब आत्मस्वरूप को जानकर ब्रह्ममय हो जाता है तो वह 'जीवन्मुक्ति ' कहलाती है। इसके विपरीत विदेहमुक्ति मृत्यु के अनंतर मानी गई है। ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मक्षय होने पर जीव को मोक्ष की सिद्धि होती है। प्रारब्ध के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति शरीर का त्यागकर परमधाम को प्राप्त करते हैं। इसी को विदेह मुक्ति कहते हैं। संतों का विश्वास जीवन्मुक्ति में अधिक है।

माया – संतों ने ब्रह्म और जीव में भेद उत्पन्न करने वाली, प्रबल अवरोधक शक्ति के रूप में माया को पहचाना तथा माया के स्वरूप को बताकर जीवों की माया के आकर्षण से बचने के लिये प्रेरित किया है। संतों ने माया को क्लेशस्वरूपा, बंधनरूपा तथा अज्ञानरूपा भी कहा है। माया के आकर्षण में उलझकर जीव–जन्म–मृत्यु के बंधन में फँसकर अनेक कष्ट उठाता है। अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है। माया से भ्रमित होकर जीव शरीर एवं इंद्रियों को अपना स्वरूप समझ लेता है और इसी अज्ञान के कारण वह अपने को कर्ता, भोक्ता आदि समझकर दुःख उठाता है।

साधना पद्धति – प्रत्येक व्यक्ति अपनी आस्था एवं क्षमता के अनुसार किसी भी मार्ग को अपना लेता है। संत साहित्य में इन सभी साधनाओं में एक अद्भुत समन्वय कर इनका सहजी त रूप 'सहज साधना ' के रूप में मिलता है जिसके प्रति किसी भी मत अथवा संप्रदाय को मानने के मन में विरोध नहीं था। यह सहज साधना परंपरा से प्राप्त होते हुए भी संतों की स्वानुभूति का प्रश्रय प्राप्त कर एक नवीन रूप धारण किए हुए थी जिसे न तो पूर्णतः कोई नवीन साधना मार्ग कहा जा सकता है और न ही प्राचीन परंपरा का अनुकरण मात्र। संतों की इस साधना में कर्म, ज्ञान योग और भक्ति का सहज सुंदरतम समन्वय है।

संत काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ

1. **ईश्वर के प्रति सहज प्रेम एवं पूर्ण निष्ठा का भाव** – संतों ने अपनी बानियों में विभिन्न प्रकार से ईश्वर में विश्वास बनाए रखने की प्रेरणा दी है। अधैर्य एवं असंतोष के कारण मनुष्य सहज ही ईश्वर के प्रति विश्वास खो बैठता है और वह डगमगा जाता है। संतों का कथन है कि कैसी भी विषम परिस्थिति क्यों न आए उसे धैर्य और संतोष का परित्याग न कर ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। संत सुंदरदास कहते है कि मनुष्य के करने से कुछ नहीं होता, सब कुछ ईश्वर के हाथ में है। ऐसी आस्था धारण करके ईश्वर में एक निष्ठ रहना चाहिए–

   सुंदर अब विश्वास गहि सदा रहै प्रभु साथ।
   तेरो कियौ न होत है, सब कुछ हरि के हाथ।।

   संत कबीरदास भी ईश्वर के प्रति सहज प्रेम भाव में विश्वास रखते है। वे ईश्वर के प्रति सहज प्रेम को ही सार वस्तु मानते हैं तथा संसार के अन्य सभी व्यवहार व्यर्थ मानते है।

   फ्सब त काच हरि हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्यौहार।ए

   इस प्रकार जो भक्त तन मन धन अपना सर्वस्व, अपने अस्तित्व को ईश्वर को अर्पित कर देते है, उनके मन से तत्काल अभिमान दूर हो जाता है। अभिमान के दूर होते ही हृदय के सभी कल्मष दूर हो जाते है। दैहिक मानसिक विकार समाप्त हो जाते हैं और प्रभु–साक्षात्कार सहज ही सुलभ हो जाता है।

   तत्कालीन परिस्थितियों में यह भाव जनता में जागृत करने के पीछे इन संतों का उद्देश्य हताशएवं निराश जनता में आत्मविश्वास जागृत करना था। उनमें यह भाव जागृत करना था कि वह निराश्रित नहीं है। ईश्वर का पूर्ण अवलंबन उन्हें कष्टों से मुक्ति दिला सकता है। संतों के इस भाव ने तत्कालीन जनता को एक बहुत बड़ा आधार प्रदान किया था।

2. **मनोविकारों के परित्याग एवं इंद्रिय संयम पर बल** – काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार, ये पाँचों मानसिक विकार है। संसार के सभी धर्म–संप्रदायों में इन्हें मानव–देह का शत्रु कहा गया है। यदि इनमे से एक भी मानव–शरीर में प्रवेश कर ले तो यह दुर्लभ मानव देह व्यर्थ हो जाती है। मानव जगत् मे जितने पापाचार, अत्याचार व्यभिचार एवं अनाचार होते है, वे सभी मानसिक विकारों की उपज है। मनुष्य अपने मन की चंचलता के कारण इन विकारों से घिरा रहता है। मन को वश में करने से, इंद्रियों का संयमन करने से इन विकारों का हनन किया जा सकता है। संतों ने इसलिए मनोविकारों का परित्याग विभिन्न दृष्टांतों द्वारा करने का उपदेश दिया है। संत रविदास कहते है कि मृग, मीन, भंवर, पंतगा, और हाथी केवल एक–एक दोष के कारण नष्ट हो जाते है परंतु जिस मनुष्य में ये पांचों विकार हों उसकी क्या दशा होगी–

   म्रिग मीन भ्रिंग पतंग कुंजर, एक दोष विनास।
   पंच दोष असाण जामहिं, ताकि केतक आस।।

   इसलिए संत रविदास कहते है कि इन पांच विकारों ने मिलकर एक साथ मनुष्य को लूट लिया है। इनके कारण ही मानव–मन ईर्ष्या, माया, राग–द्वेष, अहंकार आदि विकारों में जा फँसता है और वह अपने आपको बड़ा कुलीन ज्ञानी

शूरवीर दाता समझते हुए मिथ्याभिमानी हो जाता है। संत दादू इन मनोविकारों के परित्याग का उपाय भी बतलाते है।

3. **चित्तशुद्धि एवं आत्मपरिष्करण पर बल** – संतों के सहज धर्म की आधारशिला हृदय की पवित्रता अथवा आंतरिक शुद्धता पर आश्रित है। जब तक शुद्ध, निष्कलुष एवं सब प्रकार की वासनाओं से मुक्त होकर सात्विक आचरणशील नहीं बन जाता तब तक ईश्वरानुभूति की क्षमता उसमें नहीं आ सकती –

'हरि न मिलै बिन हिरदै सुध'

बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आंतरिक शुद्धि का होना आवश्यक है।

'काया मंजसि कौन गुनां, घट भीतरि है मलनाँ।'

वेशादी के द्वारा शरीर से तो सभी योगी बन जाते है, किंतु विरले ही ऐसे होते है जो वास्तव में मन को योगी बना सके। अंतरात्मका की स्वच्छता से ही सत्य के सहज आलोक की झाँकी मिल सकती है। मन निर्मल होने पर पाप-पुण्य भगादि सब समाप्त हो जाते है। तब भक्त और भगवान् के बीच तृणमात्र का भी अवकाश शेष नहीं रहता। हमारे ज्ञान और कर्म द्वारा अंकित चित्र तो चित्त पर ही अंकित होते हैं। अतः चित्त को ही स्वच्छ रखना चाहिए।

4. **सदाचार एवं समरसता पर बल** – संतों ने सदाचरण एवं जीवन में समरसता को विशेष महत्व दिया है। ये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, धर्म समाज सुख-दुःख मान-अपमान निंदा-स्तुति सब में एक सामरस्य भाव की स्थापना के दृढ़ अभिलाषी थे और इन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह समरसता की स्थापना भी की। संतों के जीवन से जुड़ी हुई अगणित कथाएँ इसकी साक्षी है। संतों ने यावत्-जीवन विविध विषमताओं के प्रति उग्र विरोध की भावना लेकर प्रतिकार किया और समरसता की प्रतिष्ठा की। सदाचार के ही अंग, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, धैर्य, क्षमा, दया, परोपकार, ब्रह्मचर्य, तप दान पवित्रता आदि हैं जिनका पालन करने के लिए संतों ने बार-बार कहा है।

5. **पुस्तकीय ज्ञान का विरोध और स्वानुभूति पर बल** – सभी संतों ने सुनी-सुनाई बातों और लिखे-लिखाए तथ्यों को महत्व न देकर प्रत्यक्ष और स्वानुभूति को ही प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। संतों की जीवन-पद्धति आरंभ से ही स्वानुभूत सत्य और गुरू प्रदत्त ज्ञान पर आधृत है। संतों ने ज्ञानी के लिए केवल पुस्तकों के पठन-पाठन या स्मरण मात्र से ज्ञान-तत्त्व की प्राप्ति न मान निजी विचारों के द्वारा चिंतन व मनन की ओर प्रेरित हो स्वानुभूति से प्राप्त ज्ञान के आलोक को ही मान्यता प्रदान की है। कबीरदास तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं

'पंडित भूले पढ़ि गुनि वेदा, आपु अपनपौ जान न भेदा।'

6. **गुरू को महत्त्व** – संतों की साधना अंतः साधना है और इस अंतः साधना द्वारा साध्य को पाने के लिए गुरू के पथ-प्रदर्शन एवं कृपा का होना अनिवार्य है। परमात्मा का ज्ञान तथा गुरू साधक को विषय-वासनाओं के जाल से बचाता है तो दूसरी ओर उसे तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कराने में सहायक सिद्ध होता है। संत दादू गुरू की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते है कि यदि एक लाख चंद्रमा और एक करोड़ सूर्य मिलकर भी अज्ञान के तिमिर को दूर करना चाहें तो वे नहीं कर सकते। संत कबीर तो गुरू का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा मानते हैं, क्योंकि ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग गुरू ही बता सकता है–

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरू आपणे, जिन गोविन्द दियो बताय।।

भक्तिकाल में अनेक पाखंडी व्यक्ति सांप्रदायिक वेशभूषा धारण करके गुरू बन गए थे और भोली-भाली अशिक्षित जनता को दिग्भ्रमित कर रहे थे। कबीर आदि संतों ने तत्कालीन समाज को ऐसे तथाकथित ढोंगी गुरूओं से सावधान रहने के लिए कहा तथा इन ढोंगियों की भर्त्सना की।

7. **सहज भक्ति साधना एवं नाम-स्मरण** – ईश्वर के महत नाम की महत्ता का बोध व उसका निरंतर स्मरण साधक या भक्त के मन को सदैव स्थिरता प्रदान कर, एकाग्र कर, समस्त विकारों से दूर करके उसे निश्छल व निर्मल बना केवल साधना के योग्य ही नहीं बनाता अपितु प्रभु का प्रत्यक्षतः साक्षात्कार या परम अनुभव करा उसे ईश्वर के साथ एकाकार भी कर देता है। संत सुंदरदास नाम का महत्व बतलाते हुए कहते है कि प्रभु का नाम-स्मरण अंतःकरण को निर्मल करने वाला, सभी प्रकार के संशयों को मिटाने वाला, दुःखों द्वंद्वों को दूर भगाने वाला, शील संतोष एवं मोक्ष प्रदान करने वाला है।

NOTES

संतों ने निगुर्ण ब्रह्म की सहज एवं स्वाभाविक भक्ति के लिए 'नाम स्मरण' का समर्थन किया है। संत मन ही मन ईश्वर का नाम स्मरण करने के लिए कहते है। उसके लिए किसी भी प्रकार के बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। न पुस्तकीय ज्ञान की आवश्यकता है, और न ही माला अथवा तसवी फेरने की। सहज भक्ति में तो मन को निर्मल कर के कथनी करनी तथा रहनी में समभाव धारण करते हुए एक प्रभु का हृदय से नाम–स्मरण करना ही श्रेष्ठ है।

8. **रहस्यवादी प्रवृत्ति** – संत साधना में रहस्यावाद का प्रमुख स्थान है। दस्तुत: रहस्यावाद और अद्वैतवाद में कोई अंतर नहीं है, तभी तो आचार्य रामचंद शुक्ल ने कहा, "साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही साहित्य के क्षेत्र में रहस्यवाद है।" रहस्यवादी प्रवृत्ति जहाँ संतों के आध्यात्मिक चिंतन में सहायक हुई है वहीं उनके भाव पक्ष को भी सुंदर बना देती है। संत साहित्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति दो रूपों में परिलिक्षित होती है–

   द्धअ **साधनापरक रहस्यवाद** – कुंडलिनी जागरण, षट्चक्रभेदन, त्रिकुटी साधना तथा सहस्रार चक्र तक पहुंचकर कुंडलिनी द्वारा अमृत का पान करना आदि हठयौगिक क्रियाएं इसके अंतर्गत आती है। कबीर आदि संतों से पूर्व नाथों ने इस हठयोग साधना को अपनाया था। संतों ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए विभिन्न पारिभाषिक प्रतीकों के द्वारा साधनात्मक रहस्यवाद को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

   द्धबअ **भावात्मक रहस्यवाद** – संतों की साधना सि)ों एवं नाथे की साधना के समान शुष्क एवं नीरस नहीं रही है। उन्होंने योग साधना में रागात्मक तत्व भी जोड़ा है। प्रभु के साथ भावात्मक संबंध जोड़ते हुए दाम्पत्य प्रेम के प्रतीको का आश्रय लेकर ईश्वर के साथ मधुर संबंध स्थापित किया है। संतों की इस भावात्मक रहस्यानुभूति पर वैष्णवों की भक्ति भावना और सूफियों की प्रेम साधना का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। रहस्यवाद की पहली स्थिति गुरू का बाण लगने पर परमात्मा के प्रति विरह का भाव, विरह की तपन एवं परचा का बहुत ही संदुर वर्णन संतों ने कियाहै। संतों की वाणियों में जिज्ञासा खोज उत्सुकता मिलन आदि रहस्यवाद की सभी अवस्थाओं के सहज दर्शन हो जाते हैं।

9. **धार्मिक बाह्याचारों एवं कर्मकाण्ड का विरोध** – मध्यकाल में धर्म की आड़ में विकसित बाह्याचारों का आधार वैदिक कर्मकांड न होकर उस कर्मकांड से जुड़ा था जिसे ततकालीन पुरोहित–काजियों ने वि त रूप में प्रस्तुत कर, समाज को दिग्भमिक कर अपनी स्वार्थ–सि) का साधन बना लिया।

10. **शास्त्रीय ज्ञान की अनिवार्यता का खण्डन** – संतों के ज्ञान का आधार अनुभूति थी, वही अनुभूति जो मंत्रद्रष्टा)षियों को हुई थी। संतों के अनुसार वेद–पुराण इत्यादि ज्ञान–प्राप्ति के साधन मात्र है। सि)ावस्था में इनकी निरर्थकता स्वयं सि) है। शास्त्रों का अध्ययन करके, बिना समझे हुए अज्ञानी शास्त्राभिमानी दूसरो को उपदेश देते फिरते हैं। स्वयं भी संशयग्रस्त हे और दूसरों को भी संशय में रखते है। जिसके पास विवेकयुक्त बु)ि ही नहीं है, उसके लिए वेद, पुराण तो वैसे ही जैसे अंधे के हाथ में दर्पण। वेदादि का ज्ञान वैसे ही भारतुल्य है जैसे गधे के लिए चंदन। गुरू नानक देव का मत है कि पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है, उसे उतनी गहराई से आत्मसात करना भी आावश्यक है। 'पड़ियार बूझै सो परवाणै' बिना समझे केवल वेद–शास्त्रों का अध्ययन करने से आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

11. **जातिगत भेदभाव का निषेद्य तथा मानवता की प्रतिष्ठा** – संतों ने समाज में व्याप्त जातिगत ऊँच–नीच के भेदभाव को न केवल देखा अपितु स्वयं उन्हें इसे भुगतना भी पड़ा। अधिकांशत: संत निम्न वर्ग के थे। उच्च वर्ग द्वारा दी गई अवमानना को उन्हें सहन करना पड़ा था। पुरोहितों और काजियों के निजी स्वार्थ के कारण बनाए गए विधिनिषेधों का प्रभाव उनके जीवन पर भी पड़ा थां तेरहवीं शताब्दी में भक्त नामदेव को पुरोहितों ने मंदिर से केवल इसलिए निकाल दिया था क्योंकि वे निम्न जाति के थे। कबीरदास को रामानंद को शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए क्या नहीं करना पड़ा था। मिथ्या ब्राह्मणवाद पर प्रहार करते हुए संत कबीरदास कहते हैं कि यदि तुम श्रेष्ठ हो तो तुम्हारा जन्म अन्य मनुष्यों की भाँति ही माता के गर्भ से क्यों हुआ है? तुम किसी अन्य रास्ते से क्यों नही आए? हिंदुओं और मुसलमानों के मध्य ऊँच–नीच के भेदभाव को मिटाने के सदुद्देश्य से ही कबीर मुसलमानों को संबोधित करते हुए कहते हैं कि अल्लाह ने तुम्हें यदि श्रेष्ठ–बनाया है तो माता के गर्भ में ही तुम्हारा खतना द्धसुन्नतअ क्यों नही हो गया? यह सब भेदभाव तो ब्राह्मणों और काजियों द्वारा आरोपित है, ईश्वर निर्मित नही है।

शिल्पगत प्रवृत्तियाँ

काव्य रूप – निगुर्ण संत साहित्य मुख्य रूप से उपदेशात्मक और नीतिपरक है। जनसामान्य तक अपनी बात पहुँचाने के लिए मुक्तक काव्य की ही आवश्यकता थी। इन्होंने दोहा, साखी सबद पद और रमैनी के रूप में अपने विचारो को अभिव्यक्ति प्रदान कि। संतों से पूर्व अपभंश के जैन कवियों, सि)ों और नाथों ने भी मुक्तक शैली में दोहों, चर्यागीतों, पदो में अपने उपदेश जनसामान्य तक पहुंचाए थे। संतों ने इसी परंपरा को अपनाते हुए जन–जीवन में जागृति लाने का प्रयास किया था। संतों की बानियों में मुक्तक काव्य की सहज प्रवाहमयता, सरसता, आत्मानुभूति भावों की सघनता सारग्रहिता और संक्षिप्तता मिलती है। इसके अतिरिक्त चाँचर, बसंत, फाग हिंडोला, बारहमासा, बेलि, ककहरा, बिरहुली ब्याहलो आदि लोकगीतों के रूप मे भी अपनी रचनाएँ लिखी हैं।

भाषा–शैली – संतों ने लोकभाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया। इस लोक भाषा में ब्रज अवधी खड़ी बोली और राजस्थानी का मेल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त पंजाबी और भोजपुरी के शब्द भी पर्याप्त मात्रा मे मिलते है। संतों की इस भाषा को खिचड़ी अथवा सधुक्कड़ी भाषा कहा गया। संत प्राय: अशिक्षित थे। वे यात्राएँ करते रहते थे। अनेक स्थानों पर जाते थे जिससे वहाँ की भाषा के प्रांतीय शब्द इनकी भाषा मे जुड़ जाते थे। संतों का उद्देश्य कविता करना नहीं था। वे तो अपनी मस्ती में आकर भावों को प्रकट किया करते थे जिससे उनकी भाषा का एक रूप न होकर पर्याप्त वैविध्य लिए हुए है। इनकी भाषा आडंबरहीन सरल सरस, प्रसादगुणयुक्त तथा स्वाभाविक रूप से अलं त है। अलंकार भी अपने सहज रूप में स्थान पा गए है। काव्यशास्त्रीय छंदों की संतों ने अवहेलना की है। इनके पद विभिन्न राग–रागिनियों मे बँधे हुए है जो आज भी गाए जाते हैं और मन में मधुर भावों का संचार करते है। काव्यशास्त्री दृष्टि से संत साहित्य भले ही साहित्य के मानदंडों पर खरा न उतरता हो, परंतु समाज में जागृति लाने में, सामाजिक एवं धार्मिक वि तियों को दूर करने में तथा आध्यात्मिक चेतना जगाने मे अद्वितीय है।

प्रेमाश्रयी शाखा

इस शाखा का सम्बन्ध सूफी सम्प्रदाय के कुछ भारतीय भावुक कवियों से है। इसके पहले कि हम इनकी तियों पर विचार करें, "सूफी" शब्द और उनके सि)ांत को संक्षिप्त में देखलें। 'सूफी' शब्द की व्यत्पत्ति कई प्रकार से बताई जाती है।

1. कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मस्जिद के सामने एक सुफ्फा द्धचबूतराऋ था, उसी पर जो फकीर बैठते थे, वे सूफी कहलाये।
2. अन्य लोगों का कहना है कि इस शब्द के मूल में 'सफ' द्धपक्तिऋ है। निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण एक पंक्ति में खड़े किये जायेगे, ये ही वस्तुत: सूफी है।
3. बहुत लोगों द्वारा तो सूफी कहे जाने का कारण उनका सफा होना माना गया है। अर्थात् वे स्वच्छ एवं पवित्र होते हैं।
4. दूसरों का ख्याल है कि सूफी शब्द सोफिया का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है– ज्ञान।
5. अधिकतर विद्वानों का यह भी मत है कि सूफी शब्द वास्तव मे सूफ द्धऊनऋ से बना है। सूफधारी ही वास्तव में सूफी के नाम से ख्यात हुए। यों तो बपतिस्मा देने वाला यूहन्ना भी सूफीधारी था, पर अब सूफी का प्रयोग मुस्लिम संत या फकीर के लिए ही नियत–सा समझा जाता है। ये दीनता, नम्रता पवित्रता एवं ईश्वर के प्रेम में लीन रहने वाले प्राणी थे।

सूफी एक ईश्वरवादी होता है तथा आत्मा और हक द्धईश्वरऋ में कोई भेद नहीं मानता। उसके भीतर अद्वैत भावना प्रधान है। आत्मा और हक के मिलन का एक मात्र उपाय प्रेम है। अंतिम अवस्था मे आत्मा और परमात्मा मे मिलन हो जाता है और नि:स्वार्थ, निष्काम प्रेम के द्वारा ही व्यक्ति परमात्मा से मिल सकता है। किन्तु अनेक कठिनाइयाँ और बाधाएँ आती है। जिसके लिए गुरू की आवश्यकता होती है। गुरू न केवल मार्ग–प्रदर्शन करता है अपितु ज्ञान की ज्योति से मार्ग को प्रकाशित भी करता है। इनके यहाँ आत्मा के लिये बंदा, प्रेम के लिए इश्क परमात्मा के लिए हक, साधना की अंतिम अवस्था के लिए मारिफ शब्दों का प्रयोग होता है और गुरु के लिए पीर शब्द का। सम्मिलन के बाद आत्मा फना होकर बका के लिए तैयार होती है। मोटे रूप से इनके ये सि)ांत है।

सूफी सि)ांत – सूफी मत के विविध संप्रदायों के मूलभूत सि)ांत एक जैसे है। सुफी मत एकेश्वरवाद में आस्था रखता है। सूफियों की ईश्वर विषयक मान्यता भारतीय अद्वैतवाद के अनुसार है। अद्वैतवाद में जिस प्रकार –'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर जीव

NOTES

और परमात्मा मे अभेद माना गया है, उसी प्रकार सूफी भी 'अन–अल–हक' द्धमैं ईश्वर हूँ्र कहकर जीवन और ब्रह्म मे ऐक्य मानते हैं। ईश्वर का नाम 'हक' है। वह निराकार, अजन्मा, व्यापक सृष्टिकर्ता है। वह आत्मा से भिन्न नही है। उसका नूर सारे संसार में व्याप्त है। यह अल्लाह और बंदे में कोई अंतर नहीं मानते। बंदे मे उसी अल्लाह का नूर है। प्रेम अथवा इश्क सूफियों की दृष्टि मे ईश्वर–प्राप्ति का एकमात्र साधन है। वह अपने को पुरुष और परमात्मा को नारी रूप में देखता है। आत्मा या साध क परमात्मा रूप नारी के अलौकिक सौंदर्य पर मुग्ध हो उससे लौ लगा लेता है और प्रेम–मार्ग पर निरंतर बढ़ता जाता है।

सूफी मत में साधना के मुख्य चार सोपान स्वीकार किए गए है। सूफियों के अनुसार खुदा सत्तर हजार पर्दों के पीछे छिपा है और इन सत्तर हजार पर्दों को पार करने के लिए साधक को सात निचली मंजिलें तैयार करनी पड़ती है और चार ऊपर मंजिलें या मुकामात तय करने पड़ते है। मानवीय गुणों का ह्रास और ईश्वरीय गुणों का प्रसार करने के लिए सात नीचे के सोपान पार करता है। इन सोपानों को पार करके साधक मे आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, तब वह आध्यात्मिक साधना की ओर अग्रसर होता है। इस साधना–मार्ग मे जिन चार अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है उन्हें शरीयत, तरीकत, मारिफत, और हकीकत कहा जाता है।

1. शरीयत – धर्म ग्रंथ के विधि–निषेधों का सम्यक् पालन।
2. तरीकत – बाहरी जगत् से उदासीन होकर चित्त वृत्तियों का निरोध करके शु) हृदय से भगवान् का स्मरण और ध्यान।
3. हकीकत – यहाँ प्रियतम के संयोग का अवसर मिलता है और वस्ल की स्थिति में पहुँच जाता है।
4. मारिफत – यहाँ साधक फना की दशा में पहुँच जाता है। सभी द्वंद्वों से मुक्त होकर हक बन जाता है।

इन अवस्थाओं को जायसी ने 'चारि बसेरे सो चढ़ै, सत सौं उतरै पार' कहा है।

सूफी–साहित्य की रूप रेखा

जनसाधारण के जीवन के भीतर आध्यात्मिक चेतना का उद्बोध करानेवालों में सूफी संतों का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक सूफियों का बड़ा जोर था। उनका मार्ग हृदय के अधिक निकट था। व्यक्ति के प्रेम के विकसित रूप के द्वारा सूफी मत में प्रियतम–मिलन की साधना विशेष रूप से आकर्षित करनेवाली वस्तु है। साथ ही अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए इन्होंने प्रबन्ध काव्योंकी रचना की। इन प्रबन्ध काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने लौकिक पक्ष के उन कथानकों को लिया जो कि समाज में प्रेम कथानक के रूप में बहुत समय से प्रचलित हैं। प्रचलित कथाओं के द्वारा लोगों के ऊपर अधिक व्यापक प्रभाव डाला जा सकता है।

सूफी काव्य–परंपरा में प्राणवान कवियों में मुसलमान ही अधिक हुए। कुछ हिन्दू कवि–यथा पाकर काशीराम, प्रेमचन्द मृगेन्द्र आदि ने भी रचनाएँ की किन्तु उनका कोई विशेष साहित्यिक महत्व नहीं है। इन्होंने दोहा–चौपाई को मनसवी प)ति पर प्रेम–कथाएँ लिखी और हिन्दू–मुसलिम संस्कृति के सम्मेलन का अच्छा प्रयास किया। इनका प्रभाव जनता पर संत कवियों से कम न था। संक्षेप मे इनके साहित्य की रूपरेखा इस प्रकार होगी :–

1. प्रेम कथा – इनकी प्रेम–कथाओं में सूफी सि)ांत का निरूपण होता है।
2. विषय – हिन्दू कथानकों के आधार पर हिन्दू आदर्शों की रक्षा करते हुए सूफी सि)ान्तों की व्याख्या। इनकी प्रेम–कथाएँ, कए प्रेमी का प्रेमिका से अगाध प्रेम, विरहम की कठिनाइयाँ, गुरु द्वारा उपदेश, गुरु द्वारा मार्ग प्रदर्शन अंत में महामिलन और सूफी सि)ांतों के अनुसार आध्यात्मिक रूपक में समाप्त होती है।
3. भाषा – अवधी।
4. छंद – दोहा, चौपाई की मसनवी शैली।
5. रस – शृंगार–वियोग और संयोग दोनो पक्ष और रस गौण रूप से।
6. विशेषता – रहस्वाद जो हृदय के अत्यंत निकट है का प्रवर्तन। आख्यानो की साहित्य में ठोस परम्परा। अवधी की संवृ)ि।

सूफी साहित्य का प्रभाव जनमानस पर पर्याप्त था। वे भावनात्मक स्तर पर इनसे जुड़े हुए थे। संतों की भांति उपदेश–प)ति न अपनाकर इन सूफी कवियों ने काव्य के माध्यम से उपदेश कथन किया जो प्रत्यक्षतः न होकर अप्रत्यक्ष रहा। इन काव्यों की कुछ ऐसी प्रवृत्तियां एवं विशेषताएं हैं जिनसे मध्यकालीन साहित्य में इनकी अलग पहचान बनी। ये प्रवृत्तियाँ हैं–

लौकिक के माध्यम से अलौकिक का संदेश – सूफी कवि लौकिक ओट भर लेते है, कहते हैं अलौकिक की ही बात। लौकिक से अलौकिक की ओर इशारा करने का अवसर खोजते रहते हैं। इस ताक में वे दोनों समय लगे रहते है। चाहे भाव वर्णन का अवसर हो अथवा वस्तु वर्णन का। अलौकिक पक्ष को ही ध्यान मे रखने का फल है कि कहीं–कही इनके प्रेम की गम्भीरता और व्यापकता असीमता की ओर अग्रसर दिखाई पड़ती है। संयोग एवं वियोग प्रेम के दोनें रूपों में आध्यात्मिकता का आभास देने लगते है। लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करते–करते कवि की दृष्टि किस प्रकार उस चरम सौन्दर्य की ओर जा पड़ती है, यह 'रूप सौन्दर्य वर्णन' में देखिए। द्विवेदी जी ने इस रूप वर्णन की तीन विशेषताएँ बताई है–

1. सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना, जैसे –'उनई घटा परी जग छाहाँ।' घटा से केश गत कालिमा परन्तु 'जग छाहाँ' से व्यापकता बोधित होती है।
2. जायसी ने उस रूप को पारस रूप कहा है– जिसके स्पर्श से सर्वत्र माधुर्य आ जाता है।
3. रूप वर्णन प्रसंग से प्रयुक्त अत्युक्तियों से वस्तु व्यन्जना नहीं बल्कि भाव–व्यंजना होती है।

इस प्रकार वस्तु एवं भाव–दोनों के वर्णन में जो अलौकिक की ओर इशारा का आग्रह है, उससे मनोभावों के चित्रण मे तो कोई व्याघात नहीं होता परन्तु परिस्थितियों के बीच–खड़े पात्र की व्यक्तिगत विशेषता उखड़ जाती है।

1. **प्रेम तत्व का विकास** – प्रेम मानवीय जीवन का शाश्वत मूल्य है। सभ्यता के विकास से इसके बाह्य स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है लेकिन मूल स्वरूप वही रहता है। प्रेम के महत्व को देखते हुए साहित्य में विभिन्न रूपों में प्रेमाख्यानों की रचना होती रही। परंपरा से चले आ रहे भारतीय प्रेमाख्यानों मे प्रेम का स्वरूप लौकिक रहा है लेकिन सूफी कवियों ने प्रेम की धारणा ही बदल दी। इश्क मजाजी द्धसांसारिक प्रेमऋ से इश्क हकीकी द्धईश्वरीय प्रेमऋ पर पहुँच गए। सूफी कवियों ने नायिका को ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक माना और नायक को साधक। सूफी प्रेमाख्यानों में प्रेम चार प्रकार से वर्णित है–

   द्धअऋ **चित्रदर्शन** – नायिका का चित्र देखकर नायक का प्रेमासक्त हो जाना। चित्रावली मे चित्रावली के हृदय में पूर्वराग का उदय सुजान के चित्रदर्शन से ही होता है।

   द्धबऋ **स्वप्नदर्शन** – स्वप्न में प्रेमी अथवा प्रेमिका को देखकर प्रेमासक्त हो जाना। इंदवती मे, यूसुफ जुलेखा मे स्वप्न मे देखकर ही प्रेमोदय होता है।

   द्धसऋ **गुण श्रवण** – मानव अथवा पक्षी आदि से गुण और रूप वर्णन सुनकर प्रेमासक्त हो जाना, जैसे पद्मावत मे हीरामन तोते द्वारा पद्मावती के रूप और गुणों का वर्णन सुनकर राजा रत्नसेन प्रेमासक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त हंस जवाहिर, अनुराग बाँसुरी में भी गुण–श्रवण से प्रेमोदय होता हैं।

   द्धदऋ **प्रत्यक्ष दर्शन** – प्रेमी–प्रेमिका का प्रत्यक्ष देखकर ही प्रेमासक्त हो जाना। मधुमालती भाषा प्रेम रस में प्रत्यक्ष दर्शन से ही प्रेमोदय होता है।

इन सूफी प्रेमाख्यानों में नायक प्रेम–पीड़ा को लेकर जोगी हो जाते है और अपना राज्य धन–दौलत सब कुछ छोड़कर प्रेमिका की तलाश में निकल पड़ते है। मार्ग में अनेक कष्टों का साहसपूर्ण सामना करते हैं और अंत में प्रेम–प्राप्ति में सफल हो जाते है। प्रेम की बाधाओं का वर्णन करते हुए जायसी कहते है– 'प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा, सो पै चढ़े जो सिर पै चढ़ा।' प्रेम को यह जीवन का सार एवं सर्वस्व मानते है। प्रेम के बिना मानव को राख की मुट्ठी मात्र मानते है। 'मानुष प्रेम भयो बैकुंठी, नाहि त कहा छार एक मूठी।' इन प्रेमाख्यानों मे प्रेम का उदात्त रूप दिखाई देता है। यह प्रेम सामाजिक, नैतिक धार्मिक सभी बाधाओं सीमाओं व कुंठाओं से मुक्त होकर अपने सहज–स्वाभाविक तथ पूर्ण रूप में प्रस्फुटित होता है। यह प्रेम वासनाजन्य न होकर शुद्ध एवं पवित्र धरातल पर स्थित है जिसमें उदारता गाम्भीर्य एवं सर्वसमर्पण का भाव है। यह प्रेम स्वार्थ से प्रेरित नहीं है। प्रेम के सम्मुख ज्ञान, ध्यान, जप, तप, संयम, नियम सबका महत्व तुच्छ है –

सूफियों का विश्वास है कि प्रेम का मार्ग सत्य का मार्ग है। जिस हृदय में प्रेम का निवास है वह काबा और कैलाश की भांति पुनीत है। प्रेम का आर्विभाव प्रत्येक हृदय में नहीं होता। कवि मंझन कहते है कि जिस व्यक्ति में अपना सीस उतारकर हाथ में लेने की सामर्थ्य हो, वही इस मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, 'प्रथमहि सीस हाथ कै लिए, पाछै यह मारग पग दिए।'

2. **प्रेम और रूप का संबंध** – सूफी प्रेमाख्यानों की एक विशेषता प्रेम और रूप का अनिवार्य संबंध बताना भी है। अधिकांशतः प्रेमारंभ का मूल कारण रूप सौंदर्य ही है जो वस्तुतः 'खुदा के नूर' की ओर संकेत करता है। ईश्वरीय सौंदर्य की अवतारणा अधिकांश सूफी कवियों ने अपनी नायिकाओं में की है। यह सौंदर्य ही साधक को साधना की ओर प्रेरित करता है और अंत

NOTES

में उस अनंत सौंदर्यशाली परमेश्वर में वह साधक अवस्थित हो जाता है। जायसी पद्मावती के सौंदर्य–वर्णन के माध्यम से उस अलौकिक दिव्य सौंदर्य का वर्णन करते है जो संपूर्ण सृष्टि में प्रतिबिम्बित है। उस रूप का स्पर्श पाकर सरोवर निर्मल हो जाता है। उस पारस रूप सौंदर्य के दर्शन मात्र से सरोवर रूपमान हो गया।

3. **पात्र–योजना चरित्र–चित्रण** – सूफी प्रेमाख्यानों में मुख्य रूप से दो प्रकार के पात्रों की परियोजना की गई है– मानवीय पात्र और मानवेतर पात्र।

   नायक, नायिका एवं उनसे संबंधित विभिन्न व्यक्ति प्रथम श्रेणी में आते है। नायक अधिकांशतः राजा अथवा राजकुमार है। वह प्रेमी भावुक साहसी सहृदय एवं त्यागी दिखाए गए है। नायिकाएँ राजकुमारियाँ हैं। सभी प्रेमाख्यानों की नायिकाएं अद्वितीय सौंदर्य से संपन्न एवं रूपगर्विता है। वे कलाविशारद है। प्रेम का उदय नायक में ही होता है। प्रारंभिक रूप में नायिकाएं प्रेम के प्रति तटस्थ रहती है। नायक के प्रेम की पीड़ा को देखकर उनके हृदय में भी प्रेम–भावना का उदय होता है। इन पात्रों के जीवन के समग्र चित्रण न होकर केवल प्रेम के विविध प्रसंगों का ही चित्रण हुआ है। कुछ सूफी कवियों ने पात्रों का नामकरण अपने आध्यात्मिक उद्देश्य के आधार पर ही किया है। इस अवस्था मे कथा को स्वाभाविकता तथा कवि को उद्देश्य ' इश्क हकीकी' का स्पष्टीकरण भी सरल हो जाता है। कवि नूर मुहम्मद ने 'अनुराग बासुरी' में पाँत्रों की योजना इसी प्रकार की है। राजा 'जीव' का पुत्र अंतःकरण है तथा पुत्र के सखा हैं बुद्धि, चित्त एवं अंहकार आदि। कासिमशाह के 'हस जवाहिर' में हंस भी जीवात्मा का प्रतीक है। इस प्रकार से कवि को एक सुगमता प्राप्त हो जाती है और वह कथा की मनोरंजकता के साथ–साथ अध्यात्म का भी स्पष्टीकरण सरलतापूर्वक करता जाता है।

   सूफी कवियों ने नायिका के दिव्य सौंदर्य के साथ–साथ नायक को भी सुंदर एवं आकर्षक चित्रित किया है। नायक द्धसाध्यक्ष का सुंदर होना इस धारणा को बल प्रदान करता है कि सच्चे साधक के प्रति ईश्वर स्वयं आकृष्ट होता है। इस प्रकार सूफी कवियों ने प्रतीक रूप में पात्रों का चरित्र चित्रित किया है।

4. **भावव्यंजना एवं रस–योजना** – भाव की दृष्टि से इन काव्यों में प्रेम भाव को ही प्रमुखता दी गई है। इसके साधना–पद्धति का प्रधान तत्त्व एवं और प्रेम ही है। काव्य में प्रेम भाव को प्रमुखता के कारण श्रृंगार रस को सृष्टि स्वतः हो गई है। श्रृंगार रस संयोग और विरह सभी स्थितियों में अभिव्यजित हुआ है। संयोग श्रृंगार की अपेक्षा विप्रलभ और वियोग श्रृंगार अधिक मार्मिक एवं स्वाभाविक बन पड़ा हे। स्त्री एवं पुरुष दोनों के विरह का वर्णन इन सूफी कावियों ने वियोग अवधि में प्रेमी और प्रेमीका द्वारा झेले जाने वाले कष्टों पर जितना ध्यान दिया है। उतना मिलन सुख के विवण पर नहीं विरह का अनुभव किऐ बिना संयोग का आनद नहीं प्राप्त किया जा सकता। अतः वरूण और मिलन के लिए वियोग आवश्यक है।

5. **रहस्यवादी प्रवृत्ति** – लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यजंना करते हुए सूफी कवि उच्च कोटि के रहस्यवादी कवि के रूप में हमारे सामने आते है। उनके रहस्यवाद का मूल तत्तव प्रेम की पीर है। इन्होंने आत्मा को पुरूष–रूप में और परमात्मा को स्त्री–रूप में चित्रित करके आत्मा को परमात्मा से मिलने के लिए व्याकुल दिखाकर उनके प्रेम और विहर–व्यथा को मार्मिक अभिव्यक्ति की है। ज्ञान द्वारा आत्मा–परमात्मा की एक्य स्थापना दर्शन का विषय है, किन्तु भावातिरेक द्वारा दोनों को भावात्मक एकता की हृद ग्राहा त्यंजना रहस्यवादी कहलाती है। सूफी कवियों ने इसी भावात्मक रहस्यवाद के माध्यम से आत्मा–परमात्मा का ऐक्य बताया है। परमात्मा सौंदर्य से परिपूर्ण है और अणु–अणु में वह सौंदर्य परिव्याप्त है। सूफी कवियों ने नायिका के नख–शिख सौंदर्य वर्णन द्वारा उस अलौकिक सौंदर्य को सम्पूर्ण संसार में प्रतिबिम्बित दिखाया है, जैसे जायसी के निम्न पंक्तियों से अणु–परमाणु में वह दिव्य ज्योति भासित है।

6. **शैतान की परिकल्पना** – भारतीय दर्शन में साधक द्धभक्तक्ष और साध्य द्धईश्वरक्ष के बीच माया की अवस्थिति मानी गई है। माया को एक अवरोधक शक्ति माना गया है जो आत्मा और परमात्मा के मध्य भेद की स्थिति उत्पन्न करती है। सूफी कवियों ने शैतान की परिकल्पना की है जो साधक को साध्य तक नहीं पहुँचने देता। जायसी ने 'पदमावत' में राघव चेतन को शैतान के रूप में चित्रित किया है। साधक के प्रेम की दृढ़ता को प्रकट करने के लिए ही शैतान की परिकल्पना की गई है।

7. **लोक–संस्कृति का सहज चित्रण** – हिंदू कहानियो का सूफी कवियों ने अपने सिद्धांत–प्रतिपादन के लिए चयन किया। इन कथानकों के साथ–साथ इन्होंने अपने काव्य में लोक जीवन और संस्कृति को भी प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया। जनजीवन में जो अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ एवं विश्वास प्रचलित थे उनके चित्रण के साथ–साथ लोक–व्यवहार लोक–पर्व

एवं उत्सव तीर्थ, व्रत मंत्र-तंत्र जादू-टोने, विवाह आचार-विचार, रहन-सहन आदि सभी की एक स्पष्ट झाँकी इन प्रेमाख्यानों में मिल जाती है। लोक जीवन के विविध पक्ष यहाँ उजागर हुए हैं। मुसलमान होते हुए भी हिंदुओं के जीवन और उनकी संस्कृति का इतना गहन और सूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। जिसे देखकर आश्चर्य होता है इनकी रचनाओं में लोक-संस्कृति के विविध पक्ष देखकर यह भी ज्ञात होता है कि ये हिंदू संस्कृति से कितने प्रभावित थे। 'पद्मावत' में रत्नसेन के गृह-त्याग पर माता-पिता का रोना, कन्या की विदाई का प्रसंग, सपत्नि कलह, सतीत्व अभिसार बहुविवाह वर्णन, विरह प्रसंगों को देखकर ज्ञात होता है कि उन्हें हिंदुओं के जीवन एवं रहन-सहन, रीति-रिवाजों, परंपराओं का कितना ज्ञान था।

8. **सांस्कृतिक समायोजन की चेष्टा** – मध्यकालीन संस्कृति, हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का समन्वित रूप है। साहित्यिक, राजनीतिक धार्मिक, संगीत और कला संबंधी क्षेत्रों में समन्वय स्पष्ट लक्षित होता है। सूफियों का आगमन सर्वप्रथम सिंध में हुआ और समन्वय की भावना भी यहीं प्रादुर्भूत हुई। सूफियों ने प्रेमाख्यानों के माध्यम से शास्त्रसम्मत संकुचित रूढ़ियों के साथ हृदय के सत्य से प्रेरित प्रेम-भावना का समन्वय किया और उसे शास्त्र ज्ञान से भी अधिक उच्च आसन पर अभिषिक्त कर दिया। सूफियों ने कुरान में प्रतिपादित सिद्धांतों के विवरण के साथ भारतीय आध्यात्मिक तत्त्वों का योग भी किया। इनका उद्देश्य अधिकाधिक सामंजस्य एवं समन्वय था। सूफियों ने आचार-विचार, रूढ़ियों और परंपराओं को अधिक महत्त्व नहीं दिया। सूफी कवियों ने हिंदू संस्कृति की मूल विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए सूफी साधना का प्रतिपादन किया। सूफी काव्यों में सांस्कृतिक समन्वय देखकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है-'इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं की बोली में पूर्ण सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया।'

9. **काव्य एवं कथानक की रूढ़ियों का प्रयोग** – हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानों का प्रारंभ परमात्मा की स्तुति, पैगम्बर का गुणानुवाद, गुरु या पीर का परिचय, चार यार की सिफत शाहे वक्त की प्रशंसा काव्य रचना का उद्देश्य आदि से होता है। इसके बाद मूल कथा प्रारंभ होती है। मुख्य कथा कई भागों में विभक्त रहती है। उन भागों के भी उपविभाग होते हैं। काव्य के अंत में कवि कुछ उपदेश या रचना-काल आदि देकर कथा का समापन कर देता है। हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानों में काव्यगत रूढ़ियाँ एवं विषयगत शीर्षकों का चलन आदि भारतीय चरित काव्यों की ही देन है। यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल इन्हें फारसी मसनवियों की शैली पर रचित मानतम हैं परंतु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता। सूफी प्रेमख्यानों को अपभ्रंश चरित काव्यों और भारतीय लोकगाथाओं से सीधे संबंध मानना अधिक उपयुक्त है। सूफी प्रेमाख्यानों में अनेक कथानक रूढ़ियाँ मिलत है जो अपभ्रंश चरित काव्यों में भी मिलती है और सूफीयों ने भी इन्हें अपनाया। जैसे प्रारंभ में मंगलाचरण रूप में स्तुति, दुर्जन-निंदा, सज्जन-प्रशंसा नगर-वर्णन भविष्यवाणी द्वारा अथवा देवी-देवताओं की आराधना द्वारा संतान-प्राप्ति राजकुमार को अप्सराओं द्वारा उठा ले जाना, चित्र-दर्शन, स्वप्न दर्शन, गुण श्रवण अथवा प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा पूर्वराग, नायक का योगी वेश धारण करना, मार्ग में अनेक बाधाओं का आना, दैवी शक्तियों द्वारा नायक की सहायता करना, मंदिर में नायक-नायिका की भेंट होना आदि। ये कथानक रूढ़ियाँ कथा को गति प्रदान करने में सहायक तो होती ही हैं, साथ ही रोचकता भी प्रदान करती है।

10. **भाषा शैली** – सारा हिंदी सूफी काव्य प्रबंध शैली में लिखा गया है। भक्तिकाल में मुल्ला दाऊद से लेकर आधुनिक काल तक सूफी-असूफी जितने भी प्रेमाख्यानक लिखे गए सभी प्रबंध शैली में है। सूफी प्रेमाख्यानों की भाषा प्रायः सर्वत्र अवधी है। उस्मान और नसीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मुहम्मद ने कहीं-कहीं ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया है। सूफी कवियों ने अवधी भाषा के मुहावरों और लोकोक्तियों का बहुत सुंदर प्रयोग किया है। भाषा भावाभिव्यक्ति में सक्षम है। तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रायः सभी कवियों ने किया है। भाषा की दृष्टि से समूचा प्रेमाख्यानक काव्य अत्यधिक स्वाभाविक, सरल, सुबोध और प्रभावी है। अधिकांश सूफी प्रेमाख्यानों में कथा-तत्त्व की प्रधानता होने के कारण प्रायः इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। लक्षणा एवं व्यंजना की अपेक्षा अभिधा ही मुख्य है। परंतु जायसी, उस्मान, नूर मुहम्मद जैसे कवियों ने अन्योक्ति, समासोक्ति प्रतीकों के द्वारा व्यंजना शक्ति की सुंदर योजनाएं की है। जैसे जायसी ने निम्न पंक्तियों में अन्योक्ति के माध्यम से संसार की क्षणभंगुरता का कितना सुंदर एवं प्रभावशाली चित्रण किया है-

ए रानी मन देखु विचारी। ऐह नैहर रहना दिन चारी।।
जब लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू।।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।।

NOTES

इसी प्रकार उसमान ने 'चित्रावली' में नायक सुजान को शिव का अवतार, चित्रावली को विद्या का प्रतीक और कँवलावती को अविद्या के प्रतीक रूप में चित्रित किया है।

छंद, अलंकार योजना – अपभ्रंश के चरित काव्यों के समान इन्होंने भी दोहा–चौपाई प)ति को ही अपनाया है। कितनी चौपाइयों के बाद दोहे का धत्ता दिया जाए, इसका कोई निश्चित नियम या विधान नहीं मिलता। दोहे–चौपाई के अतिरिक्त, सोरठा बरवै, सवैया अरिल्ला आदि छंदों का प्रयोग भी मिलता है। कहीं–कहीं पर फारसी की बहरों का भी प्रयोग मिलता है। नूर मुहम्मद ने 'अनुराग बांसुरी' में दोहे के स्थान पर बरवै का प्रयोग किया है। कवि नसीर ने षड्ऋतु वर्णन में कवित्त, सवैया एवं सोरठे का प्रयोग किया है।

अलंकार विधान की दृष्टि से समासोक्ति और अन्योक्ति का निर्वाह प्रमाख्यानों में सर्वाधिक हुआ है। साम्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि का भी स्वाभाविक प्रयोग किया है। अलंकार–योजना में भाव–प्रवणता अधिक है, चमत्कार–प्रदर्शन की प्रवृत्ति कम। कुछ स्थलों पर फारसी उपमानों का भी प्रयोग हुआ है। तथा कहीं–कहीं साम्य प्रदर्शन में अति हो गई है। किंतु ऐसे स्थल कम हैं। इस प्रकार प्रतीकात्मक शैली में रचित सूफी प्रेमाख्यानों का हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

सूफी कवियों, उनकी रचनाओं, रचना काल एवं वर्ण्य विषय की तालिका

क्र.	रचनाकार	रचना का नाम	रचना–काल	वर्ण्य–विषय
1.	असाइल	हंसावली	1370 ई.	गुजराती मिश्रित पश्चिमी हिंदी में लिखित प्रेमकथा।
2.	मुल्ला दाऊद	चांदायन	1380 ई.	लोरिक और चंदा की प्रसि) लोककथा के माध्यम से प्रेम का महत्त्व प्रदर्शित करना।
3.	कुतुबन	मृगावती	1503 ई.	मृगावती और रजकुँवर की लौकिक प्रेमकथा के माध्यम से अलौकिक प्रेम का वर्णन।
4.	मंझन	मधुमालती	1545 ई.	मनोहर और मधुमालती की प्रेमकथा के माध्यम से अलौकिक प्रेम का महत्त्व प्रतिपादन।
5.	जायसी	पदमावत	1597ई. ह्व947हिजरीऋ	रत्नसेन और पदमावती की ऐतिहासिक प्रेम–कथा के माध्यम से अलौकिक प्रेम का चित्रण।
6.	" "	आखिरी कलाम	936 हिजरी	सृष्टि के अंत के बाद आत्मा की स्थिति और मुहम्मद साहब का महत्त्व प्रतिपादन।
7.	" "	अखरावट		ईश्वर, जीव ब्रह्म, सृष्टि आदि विषयों का सै)ांतिक विवेचन।
8.	उसमान	चित्रावली	1613 ई.	सुजान और चित्रावली की प्रेमकथा के माध्यम से प्रेम और विरह के महत्व का प्रतिपादन।
9.	कासिमशाह	हंस जवाहिर	1736 ई.	हंस और रानी जवाहिर की प्रेमकथा का चित्रण।
10.	नूर मुहम्मद	इंद्रावती	1707 ई.	सभी पात्रों का प्रतीक रूप में चित्रण करके आध्यात्मिक संकेत।
11.	" "	अनुराग बाँसुरी	1764	प्रेमकथा के माध्यम से इस्लाम के दीन का प्रचार।
12.	शेख नबी	ज्ञानदीप	1619	ज्ञानदीप और देवयानी की प्रेमकथा का चित्रण।
13.	निसार	यूसुफ जुलेखा		शामी परम्परा से कथानक लेकर प्रेम के महत्व का प्रतिपादन।
14.	नसीर	प्रेमदर्पण		यूसुफ जुलेखा की ही प्रेमकथा वर्णित।

NOTES

भक्ति काल की भूमिका में यह बताना गया है कि भगवत भक्ति के विकास के तीन युग है और तीसरे युग का आरम्भ 1400ई. से उत्तर भारत में होता है। इसके पूर्व द्वितीय युग आलवारों एवं आचार्यों का है। ये आचार्य द्वैतवादी है और शंकराचार्य के अद्वैतवाद के घोर विरोधी हैं। यह ठीक है कि व्यावहारिक स्तर पर उतरने से अद्वैत मत में 'भक्ति' और 'सगुण' दोनों की सत्ता प्रतिष्ठित हो जाती है, पर द्वैतवादी किसी भी स्थिति मे भगवान एवं भक्त की एकरूपता नहीं सहन कर सकते। अद्वैतवादी पारमार्थिक स्तर पर जाकर भेदभाव की सत्ता का उच्छेद सि) करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से संसार एवं जीवमात्र ब्रह्म से भिन्न नहीं। उनकी घोषणा है– 'सर्व खल्विदं ब्रह्म नेहनानास्ति किंचन।' ऐसे द्वैतवादी आचार्यों मे रामानुजाचार्य एवं निम्बाकाचार्य की शिष्य-परम्परा में पड़ने वाले रामानन्द एवं वल्लभाचार्य ही हिन्दी साहित्य के प्रेरक आचार्य है– स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचारित भक्ति मार्ग ने अपने आपको दो रूपों में व्यक्त किया–निर्गुण एवं सगुण। प्रथम रूप मे उसका उन्नयन कबीर, दादू आदि सन्त कवियों द्वारा हुआ और द्वितीय रूप में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा। स्वामीजी से एक ही मंत्र–राम नाम और एक ही साधन अनन्य भक्ति, दोनों ने लिया, परन्तु उसका प्रयोग अपनी–अपनी भिन्न आस्था एवं रूचि के आधार पर किया।

रामानन्द की विशेषताएँ – स्वामी रामानन्द ने इस दार्शनिक क्षेत्र में तो कोई विसम्मति व्यक्त नहीं कि, परन्तु भक्ति के प्रायोगिक रूप में वे अवश्य रामानुज से भिन्न पड़ जाते है। ऐसी कुछ विशेषताएँ ये है–

1. उपासना के लिए वैकुण्ठ निवासी विष्णु की जगह लोक–लीला प्रदर्शक राम को गृहीत किया।
2. कुछ परिगणित लोगों के बदले उन्होने मनुष्य मात्र के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। रामानुज सम्प्रदाय में केवल द्विजातियों को ही दीक्षा दी जाती थी, इन्होने सबको दीक्षित किया। इसके अतिरिक्त एक विरक्त दल का भी संघटन किया जो 'वैरागी' नाम से प्रसि) है। समाज के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था को मानते हुए भी उपासना के क्षेत्र मे उन्होंने सबको समान अधिकार दिया था।

स्वामी रामानन्द ने जिस राम का रूप प्रतिष्ठित किया था उनको अत्यंत व्यापक रूप में तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित किया गया। इस सम्बन्ध मे राम–भक्ति के साहित्य में प्रकाश डाला गया है। संत सम्प्रदाय मे भी रामानन्द के शिष्य होने के कारण कबीर ने राम नाम ग्रहण किया। किंतु राम की कथा की परंपरा नई नहीं, साहित्य में बड़ी पुरानी है। जैन कवियों के अन्तर्गत कवि स्वंयभु भूपति ने भी राम कथाओं की रचना तेरहवीं शताब्दी के अंत में और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में की। भगवत चंद मुनिलाल आदि कवि भी राम के सम्बन्ध में रचना पहले की कर चुके थे। हिन्दुओं को राम के उस रूप ने अत्यधिक प्रभावित किया जिसने तुलसी दास की शील–शक्ति–सौदर्यमयी गरिमा को लोगों को उदबोध कराया।

तुलसीदास जी के अतिरिक्त अग्रदास और नाभादास का नाम भी अत्यंत प्रमुखता से लिया जाता है। नाभादास के गुरु स्वामी अग्रदास भक्तमालके रचियता थे। ये रामानंद, जी के शिष्य अनंतानंद के शिष्य थे। श्री ष्णदास पैहारी ने गल्ता के नागपंथियों के मठ पर अपनी विद्वत्ता के बल पर अधिकार पाया था। यह उन्ही के साथ रहा करते थे और राममक्ति की रचना किया करते थे।

नाभादासजी अग्रदास के शिष्य तथा भक्तमाल के रचयिताा थे। कहा जाता है कि तुलसी दास से इनकी भेंट हुई थी। ये उनके समसामयिक थे। इनका जीवन–काल लगभग संवत् 1600 से 1680 तक है। कुछ लोग इन्हें हरिजन और कुछ लोग जाति का क्षत्रिय मानते है। इन्होने व्यापक दृष्टि से अपने समय के तथा पूर्ववर्ती 200 भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र 316 छप्पयों में लिखे हैं। नाभादास जी ने इस ग्रंथ का प्रणयन अत्यंत सूक्ष्म एवं संतुलित दृष्टि से किया हैं। यह भक्तों एवं हिन्दी के आचार्यों के बीच बड़ी श्रद्धा के साथ देखा जाता है।

राम–साहित्य की संक्षिप्त रूप–रेखा यहाँ दी जा रही है–

(अ) विषय – राम–संबंधी रचनाओं द्वारा दात्य भक्ति का प्रचार। व्यापक दृष्टिकोण द्वारा लोक–जीवन में कथाओं को आधार बना शील शक्ति सौंदर्यपूर्ण राममक्ति का प्रसार।

(ब) मत – विशिष्ट अद्वैत के अनुसार दास्य भक्ति का प्रतिपादन।

(स) शैली – प्रबंध और मुक्तक।

(द) भाषा – अवधी और ब्रज तथा कहीं–कहीं बुंदेलखंडी, भोजपुरी, अरबी तथा फारसी शब्दो का प्रयोग।

(य) रस – सामान्यत: सभी। विशेष रूप से शांत और श्रृगार।

(र) छंद – प्रबंध काव्यों में दोहा, चौपाई, कुंडलियाँ छप्पय, सवैया, सोरठा, घनाक्षरी तोमर, त्रिभंगी आदि।

NOTES

राम–काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

द्धा.ऋ **राम का विष्णु के अवतार रूप में वर्णन** – 'वाल्मीकि रामायण' में राम एक आदर्श राजा, एक वीर यो(ा एवं उदात्त मानव के रूप में चित्रित किए गए है। पौराणिक काल तक आते–आते राम का स्वरूप अलौकिक होता गया। वह महापुरूष के धरातल से ऊपर उठकर विष्णु के अवतार अथवा परब्रह्म के अवतार रूप में स्वी त किए गए और उनके प्रति श्रा एवं भक्तिभावना में रामभक्ति धारा के कवियों ने भी विष्णु के अवतार रूप में राम के प्रति अपने भक्ति भाव को प्रकट किया। गोस्वामी तुलसीदास के राम सर्वशक्तिमान, सौंदर्य की मूर्ती और शीलसंपन्न है। अपने इन्ही गुणों के कारण रामलोकरंजक, लोकरक्षक और लोकमंगल के विधायक भी है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम है। धर्म के संरक्षण के लिए, असुरों के विनाश हेतु तथा सज्जनों की भाव–पीड़ा को मिटाने के लिए प्रभु स्वयं मनुष्य रूप में अवतरित हुए हैं। यद्यपि ब्रह्म निर्गुण निराकार है तथापि भक्त उपासना की सरलता से उसे सगुण, साकार रूप मे देखते है। ब्रह्म को विभिन्न नामों से संबोधित करते है। रामभक्त कवियों का कथन है कि यद्यपि अनेक रूप और नाम है तथापि उन्होंने राम रूप को ही ग्रहण किया है–

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका, श्रुति कह अधिक एक तें एका।
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होऊ नाथ अघ खग बन बधिका।।

इस प्रकार रामकाव्यधारा के कवियों ने दशरथ पुत्र राम और सभी प्राणियों में रमण करने वाले राम द्धपरम तत्वऋ में अभेद स्थापित किया है।

मर्यादित भक्ति का प्रसार – रामकाव्य में भक्ति को ज्ञान और योग मार्ग से श्रेष्ठ घोषित किया गया। ष्णभक्त कवियों ने दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य, भक्ति भाव को अपनाया, पर रामभक्त कवियों ने मर्यादा भक्ति को ही अपना चरम ध्येय माना है।

तुलसी दास स्पष्ट कहते है कि जिसके ह्रदय में राम की भक्ति भावना विद्यमान है उसे सपनू में भी दु:ख प्राप्त नहीं हो सकता और यह भक्ति भी प्रभु की पा के बिना संभव नहीं–

राम भगति मन उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके।।
चतुर सिरोमनि तेइ जग माही। जे मनि लागि सुजतन कराही।।
सो मति जदपि प्रगट जग अहई। राम पा बिनु नहिं कोउ लहई।।

राम के प्रति इनकी भक्ति दास्य भाव से पूर्ण है, जिसमे मर्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है। उनका मत है कि स्वामी के समक्ष सेवक सदा ही तुच्छ और हीन है, वे राम की महत्ता और अपनी हीनता स्वीकार करते हुए कहते है–

राम सो बड़ो है कौन, मोसौ कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसौ कौन खोटो।।

तुलसीदास भक्ति में किसी भी प्रकार के दुराव–छिपाव को भक्ति का विरोधी मानते है। मन, वचन कर्म तीनों का सरल एवं शु) होना भक्ति की पहली अनिवार्य शर्त है–

सूÊ मन, सूधे वचन, सूधि सब करतूति।
तुलसी सूधि सकल विधि, रघुवर प्रेम प्रसूति।।

3. **राम के लोकनायक रूप की स्वी ति** – धार्मिक क्षेत्र में जहाँ रामभक्त कवियों ने राम को परम आराध्य के रूप में स्वीकार करते हुए उनके प्रति अनन्य भक्ति भाव को प्रकट किया है, वहाँ दूसरी ओर समाज की माँग को देखते हुए राम के चरित्र को लोकनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। धनुर्धारी राम लोक के संरक्षक है। तुलसीदास ने खलविनाशक राम के शक्तिशाली जीवन द्वारा लोकशिक्षा का पाठ पढ़ाया है। अत्याचार के बढ़ने पर विद्रोह होता है और कोई लोकनायक अत्याचार का अंत करके शांति के युग की स्थापना करता है। राम के द्वारा रावण का मारा जाना तथा रामराज्य की स्थापना द्वारा समाज को यह संदेश प्रेषित किया है कि वर्तमान में भी लोकनायक द्वारा अत्याचारों का अंत अवश्य होगा। कोई भी ऐसा सामाजिक आदर्श नही, जिसका प्रतिनिधित्व राम न करते हो। इसलिए वे सही अर्थों में लोकनायक है।

निराश जनता के जीवन में आशा और विश्वास पैदा करने, आनंद का मधुर स्रोत बहाने तथा विपत्ति में सहायता करने के लिए राम-काव्य का निर्माण हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंद कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भूत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता मे गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है।' यह विरोधाभासी आकर्षण ही राम को युगों-युगों के लिए लोकनायक के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

4. **मानव-मूल्यों की साधना** – परहित सरिस धर्म नहिं भाई' तथा 'जे न मित्र दुःख होहि दुखारी, तिन्हहिं विलोकत पातक भारी' तथा राम-रावण यु) में विभीषण से राम द्वारा मानव-मूल्यों से निर्मित विजय-रथ की महत्ता का गायन करना एक प्रकार से तुलसीदास की मानव-मूल्यों के प्रति निष्ठा का ही प्रमाण है। पारिवारिक जीवन की मर्यादा, त्याग और प्रेम के आदर्श रूप में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र द्वारा जिन मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है वे समाज के लिए प्रेरणास्रोत है। राम-काव्य वास्तव में मानव जीवन की समग्रता का काव्य है, इसमें जीवन के प्रति एक स्वस्थ और व्यापक दृष्टिकोण है।

5. **लोकमंगल का विधान** – रामभक्ति काव्यधारा का चरम लक्ष्य लोकमंगल का विधान करना ही था, क्योंकि इनके अराध्य राम का समग्र जीवन, संपूर्ण क्रियाकलाप लोकमंगल का विधान करने वाले ही है। सारे राम-काव्य का केंन्दीय आदर्श समाज की स्थापना तथा लोककल्याण की भावना को प्रसारित करना है। रामचरितमानस के उत्तरकांड में वर्णित रामराजय का सुखद वैभव वास्तव में कवि के इच्छित लोकरूप का साक्षात् चित्र है। आदर्श पुत्र, आदर्श राजा के रूप में राम आदर्श माता के रूप में कौसल्या, आदर्श भाई के रूप में लक्ष्मण तथा भरत आदर्श पत्नी के रूप में सीता, आदर्श सेवक के रूप में हनुमान, आदर्श मित्र के रूप में सुग्रीव के चरित्रों की स्थापना लोकमंगल का ही विधान करती है।

6. **समन्वय की भावना** – तत्कालीन समाज में सगुणोपासकों में भी परस्पर वैमनस्य एवं असहिष्णुता थी। शैवों और वैष्णवों में परस्पर शत्रुता का भाव था। तुलसीदास जी ने राम द्वारा शिव की उपासना करवाकर और शिव के मुख से रामभजन न करने वाले मंदमति कहकर दोनों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयास किया। राम का कथन 'शिव दोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न भावै' तथा शिव का पार्वती से कथन 'गिरजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम' शैवों और वैष्णवों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास है। दर्शन के क्षेत्र में भी द्वैत और अद्वैत के मध्य समन्वय स्थापित किया, इतना ही नहीं कलापक्ष में भी समन्वय का भाव देखा जा सकता है। अपने पूर्ववर्ती और समकालीन समस्त काव्य-शैलियों में राम-काव्य की रचना की। ब्रज एवं अवधी दोनों में काव्य-रचना करके दोनों भाषाओं को समान रूप से प्रश्रय दिया।

7. **भावसौंदर्य एवं रसयोजना** – जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के भावों, अनुभूतियों तथा संवेगों को रामभक्त कवियों ने मनोरम रसानुकूल अभिव्यक्ति प्रदान की है। जहाँ एक ओर वे एक भक्त के दैन्यभाव को लेकर भक्ति के पूर्ण परिपाक में समर्थ हुए है, वहीं दूसरी ओर वे सामाजिक संदर्भों में अनेक पारिवारिक मार्मिक प्रसंगों की कुशल अभिव्यक्ति करने में भी समर्थ हुए है। राम का अयोध्या-त्याग, चित्रकूट में राम-भगत मिलाप, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि प्रसंगों में भावों और मनोवेगों का प्रस्फुटन बड़े ही सुंदर एवं संजीव रूप में हुआ है। राम के जीवन का चित्रण जिस व्यापक परिवेश और आयाम में किया गया है, उसमें वैविध्य के कारण सभी रसों का सुंदर समावेश हुआ है। फिर भी राम-काव्य का अंगीरस शांत रस ही है। इसके अतिरिक्त शृंगार, वीर, वात्सल्य, करुण आदि रस भी सहज स्वाभाविक गरिमा से मंडित हैं। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण मर्यादित है। परवर्ती काल में रामभक्ति से संबंधित रसिक संप्रदायों में राम और सीता का शृंगारिक वर्णन मर्यादित नहीं रह पाया है, परन्तु उनका साहित्यिक महत्त्व भी नगण्य ही है। यु)-प्रसंगों में वीर रस के साथ रौद्र, भयानक, वीभत्स और करुण रस की भी योजना राम-काव्य में की गई है। राम जैसे मर्यादाशील, धीर और गंभीर व्यक्ति के साथ हास्य रस की कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु कवियों ने इनके लिए भी अवकाश निकाल लिया है। धनुर्भंग के समय परशुराम -लक्ष्मण संवाद, शूर्पणखा के विवाह-प्रस्ताव और उसकी नाक कटाने में, रावण-अंगद संवाद में हास्य रस के प्रसंग बन गए है। अतः राम-काव्य भाव सौंदर्य एवं रस संयोजन की दृष्टि से भी उत्कृष्ट काव्य ही कहा जा सकता है।

8. **आदर्श पात्र-योजना** – राम-काव्य में सभी पात्रों का चित्रण एक विशिष्ट आदर्श और उद्देश्य को लेकर किया गया है। राम-काव्य का उद्देश्य है-'असत्य पर सत की विजय', 'रावणत्व पर रामत्व की विजय'। असद् वृत्तियाँ कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हों, अंततः विजय सद्वृत्तियों कीहोती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु राम-काव्य में असद्वृत्तियों के

NOTES

पात्र रावण, बालि, मेघनाद की योजना की गई है तो सत्य के साक्षात् राम के जीवन एवं आदर्शों द्वारा समाज को सद्वृत्तियों को धारण करने की प्रेरणा कवी गई है। मानव, देवी–देवता, राक्षस, पशु–पक्षी, छोटे–बड़े सभी प्रकार के पात्र राम–काव्य में है। सद्वृत्तियों के प्रति सभी पात्रों का उद्देश्य असद् को सद् की ओर उन्मुख करना है। राम–रावण यु) में रावण की पराजय भी यही संकेत देती है कि असद् वृत्तियों का अंत अवश्य होता है।

9. **अभिव्यंजना शिल्प सौन्दर्य :**

द्धअद्ध काव्यरूप – जहाँ ष्णभक्ति काव्य की रचना मुक्तक शैली में की गई, वहाँ राम–काव्य की रचना अधिकांशत: प्रबंध शैली में की गई है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' प्रबंध शैली का उत ष्ठ उदाहरण है। राम–काव्य के सभी कवि काव्यशास्त्र के विद्वान् और काव्य के समस्त रूपों से भली–भाँति परिचित थे। इसी कारण इस धारा समस्त काव्यशैलियों के सफल प्रयोग मिलते है। गीति शैली में 'रामगीतावली', 'रामध्यानमंजरी', 'दोहावली' आदि की रचना की गई तो नाटकीय संवाद के रूप में 'हनुमन्नाटक', 'रामायण महानाटक' की भी नाटक शैली का विकास हुआ। 'जानकीमंगल', 'पार्वतीमंगल', 'भरतमिलाप', 'अंगदपैज' के रूप में खंड काव्य की रचना की तो रामललानहछु जैसी लोकशैली मे काव्य–रचना करके लोकपरम्परा को भी सम्मानित किया। मध्यकाल में राम–काव्य की रचना ब्रज एवं अवधी दोनों भाषाओं में की गई।

द्धबद्ध अलंकार एवं छंद – राम–काव्य में अलंकारों का प्रयोग सहज, स्वाभाविक रूप में हुआ है। अलंकारों का प्रयोग कहीं भी चमत्कार प्रदर्शन हेतु नहीं किया गया। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीक, निदर्शना, विरोधाभास आदि अलंकारों का सुंदर प्रयोग मिलता है। केशवदास की 'रामचंद्रिका' में पांडित्य प्रदर्शन हेतु शब्द–चमत्कार का ध्यान रखते हुए अलंकारों का प्रयोग किया गया है, जिससे काव्य में दुरूहता एवं त्रिमता आ गई है, परन्तु यह काव्य अपवाद है अन्यथा अन्य सभी काव्यों में अलंकार भावाभिव्यंजना में सहायक हुए है। छंदों में दोहा, चौहाई, रोला, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया, घनाक्षरी आदि का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार राम–काव्य में एक ओर जहाँ भाव सौंदर्य उत ष्ट कोटि का देखने को मिलता है वहीं दूसरी ओर उसयका अभिव्यंजनागत सौंदर्य उसके भाव को द्विगुणित कर देता है।

प्रमुख रचनाकारों, रचनाओं, रचना–काल एवं प्रतिपाद्य विषय की तालिका

क्र.	रचनाकार	रचना का नाम	रचना–काल	प्रतिपाद्य विषय
1.	रामानंद	रामरक्षास्तोत्र	अज्ञात	हिंदी में राम–भक्ति परंपरा का प्रारंभ
2.	विष्णु दास	रामायण कथा	1499 वि.सं.	रामकथा को लेकर हिंदी में लिखित प्रथम काव्य
3.	अग्रदास	ध्यानमजरी	अज्ञात	राम तथा अन्य भाइयों के सौंदर्य–वर्णन के साथ सरयू और अयोध्या का ध्यान
4.	ईश्वरदास	भरतमिलाप	अनुमानत: 1501 वि.सं.	राम–वनवास होने पर राम के वन चले जाने पर भरत और राम के मिलन का प्रसंग
	–उपरोक्त–	अंगदपैज	अनुमानत: 1501 वि.सं.	रावण के दरबार में अंगद के पैर जमाने का प्रसंग
5.	तुलसीदास	रामचरितमानस	1631 वि.स.	मर्यादा पुरुषोत्तम राम के संपूर्ण जीवन–चरित्र का वर्णन
	–उपरोक्त–	रामललानहछु	1643 वि.स.	राम–विवाह के समय यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर नहछु का वर्णन
	–उपरोक्त–	वैराग्य संदीपनी	1669 वि.स.	संत–स्वभाव संत–महिमा का वर्णन
	–उपरोक्त–	दोहावली	1640 वि.स.	नीति, भक्ति नाम–माहात्म्य संबंधी दोहो का संग्रह

	–उपरोक्त–	बरवै रामयण	1669 वि.स.	रामकथा से संबंधित मार्मिक प्रसंगों का वर्णन
	–उपरोक्त–	पार्वती मंगल	1643 वि.स.	शिव–पार्वती के विवाह का वर्णन
	–उपरोक्त–	जानकी मंगल	1643 वि.स.	राम–सीता के विवाह का वर्णन
	–उपरोक्त–	रामाज्ञाप्रश्न	1669 वि.स.	शुभ–अशुभ शकुन विचार हेतु लिखित रामकाव्य
	–उपरोक्त–	ष्णगीतावली	1628 वि.स.	ष्ण का बाल चरित्र गोपिका–प्रेम मथुरा–गमन का वर्णन
	–उपरोक्त–	गीतावली	1628 वि.स.	राम के जीवन के कोमल प्रसंगों का चित्रण
	–उपरोक्त–	कवितावली	1669 वि.स.	कवित्तों में रामकथा का वर्णन
	–उपरोक्त–	विनयपत्रिका	1642 वि.स.	आत्मनिवेदन, रामभक्ति की याचना
6.	नाभादास	भक्तमाल	1642 वि.स.	200 भक्तों का चरित्र–वर्णन
	–उपरोक्त–	अष्टयाम	1642 वि.स.	रामभक्ति विषयक माधुर्य उपासना के पद
7.	केशवदास	रामचंदिका	1658 वि.स.	वाल्मीकि रामायण के आधार पर राम–काव्य

ष्णाश्रयर शाखा

"यदा यदा ही धर्मस्य" के सि)ांत के अनुसार अवतार की कल्पना गीता में ही की जा चुकी थी। राम को आदिकवि वाल्मीकि ने विष्णु का अंशावतार स्वीकार कर लिया था। ष्ण की भी अवतारणा गीता के समय में हुई और भागवत पुराण ने उसे दृढ़ता प्रदान की। साहित्य के क्षेत्र में ष्ण–लीला का गान गेय पदों में होने का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र तथा जयदेव ने गीत–गोविंद की संगीतमय रचना संस्त में की। ाावी शती की क्षेमेन्द्र की रचना से भी इसका आभास लगता है। ष्णलीला के पदों की यह परम्परा हिंदी में विद्यापति में सर्वप्रथम दिखाई पड़ी। बंगाल में चंडीदास ने उनकी लीला गाई। इस भाँति समस्त उत्तरी भारत में कश्मीर से लेकर बंगाल तक ष्ण काव्य के नायक के रूप में गृहीत दिखाई पड़ते हैं।

वल्लभाचार्य से 1529 या 1535 में तैलंग ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया था तथा उसमें लोक के अनुरूप मत का अन्वेषण किया था। ष्ण की भूमि मथुरा और वृंदावन में पर्याप्त समय तक रहने के पश्चात काशी में उन्होंने अनेक संस्त–ग्रंथों का प्रणयन भी किया था। उन्होंने ष्ण की उपासना सखा के रूप में की गई। इस प)ति में ष्ण की भक्ति में उनका बाल और युवक प्रेमी रूप गृहीत किया गया। इसके बाद गोस्वामी विठ्ठलनाथ ने उनके मत के प्रसार प्रसार में अत्यंत सहायता पहुँचाई। उन्होंने अपने जीवन काल में ही हिंदी के आठ प्रमुख कवियों को जो ष्ण भक्त थे, संमानित कर अष्टछाप की स्थापना सं. 1702 में की।

अष्टछाप और उसका महत्त्व – वल्लभाचार्य जी ने गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर की स्थापना की थी। वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी ने इस मंदिर में आठ पहर सेवा का विधान किया। उसमें अनेक ष्णभक्त कीर्तन करते थे तथा आठों याम मंदिर में सेवा का कार्य करते थे। उन ष्ण भक्त कवियों में से आठ ऐसे थे जिन्हें विठ्ठलनाथ जी ने विशेष रूप से श्रीनाथ जी के मंदिर की सेवा के लिए चुना। इन आठ भक्तों में से चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे– (1) सूरदास, (2) कुंभनदास, (3) परमानंददास, (4) कृष्णदास। चार गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के शिष्य थे–(1) नंददास, (2) चतुर्भुजदास (3) गोविंदस्वामी (4) छीतस्वामी।

इन आठ सखाओं की मंडली की गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी ने अष्टछाप की संज्ञा से विभूषित किया था। ये आठो कवि तो थे ही, साथ ही कुशल संगीतज्ञ भी थे। ये आठों सखा श्रीनाख के प्रमुख मंदिर में बारी–बारी से सेवा–कीर्तिन, भजन–पूजन किया करते थे और ष्ण–लीला के पद रचकर गाया करते थे। काव्य और संगीत का सुन्दर समन्वय इनकी काव्य–रचनाओं की प्रमुख विशेषता है। हिंदी साहित्य की समृ) में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। इन कवितयों ने जिन सुन्दर, सरस और भावपूर्ण पदों की रचना की है, वह हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। ब्रजभाषा को साहित्यिक, माधुर्यसंपन्न और प्रवाहमय रूप देने में भी इनके योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन्होंने पुष्टिमार्ग के सि)ांतों को रोचक ढंग से कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कर उन्हें व्यावहारिक रूप दे दिया। इस प्रकार पुष्टि संप्रदाय के प्रचार–प्रसार में योगदान दिया।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में भी इनका योगदान कम नहीं है। अपने काव्यों में धार्मिक उत्सवों, समारोहों आदि का वर्णन इतना सहज एवं संजीव रूप से किया है कि ब्रज प्रदेश में आज भी इन उत्सवों, समारोहों की धूम देखी जा सकती है। तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक परम्पराओं को, रहन–सहन, आचार–व्यवहार आदि को जानने में भी इनके काव्य पर्याप्त सहायक हैं। ष्ण–भक्ति के प्रचार में इनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इनके माधुर्यसंपन्न पद न केवल ब्रजप्रदेश में अपितु संपूर्ण भारत में आज भी बड़ी तन्मयता से गाए और सुने जाते हैं। डॉ. श्यामसुंदर दास ने अष्टछाप के कवियों के संबंध में उचित ही लिखा है–'अष्टछाप के कवियों में से प्रत्येक ने भक्तिभाव से युक्त ष्ण की उपासना की और पूरी क्षमता से प्रेम और विरह के सुन्दर गेय पद बनाए। सबकी वाणी में वह तन्मयता है जो गीतिकाव्य के लिए परम उपयोगिनी है। शु) प्रेम का प्रवाह बहाकर भगवान् ष्ण की स्तुति में आत्मविस्मरण कर देने वाले भक्त कवियों का जो महान् ;ण है, उसे हम सभी स्वीकार करेंगे।'

ष्णाश्रयी शाखा के साहित्य की रूपरेखा

लगभग चौथी शताब्दी से ही ष्ण की भावना का साक्षात्कार हमारे संस्कृत के वाङ्मय में होता है। ष्ण का मधुर रूप युग के साहित्य में उपस्थित हुआ और बाद में बराबर वह रूप चलता रहा। रीतिकाल में रसिया ष्ण थे और आधुनिक काल में हरिऔध और द्वारका प्रसाद मिश्र ने उनके स्वस्थ रूप को क्रमशः प्रियप्रवास और ष्णायन में उपस्थित किया। ष्ण मुक्तकों की प्रधानता है। ष्ण काव्य के मुक्तक अपने चरम उत्कर्ष पर हिंदी में मिलते हैं। प्रमुख रूप से इनके प्रवर्तक वल्लभाचार्य थे तथा सख्य भाव से मधुर उपासना–पद्धति द्वारा ष्ण भक्ति के साहित्य का प्रणायन किया गया। सूरदास इस धारा के सर्व प्रमुख कवि हैं। इस साहित्य के संबंध में ष्ण भक्ति के साहित्य के अध्याय में विचार किया गया है। यहाँ इसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

विषय – भागवत के दशम स्कंध के आधार पर ष्ण के विभिन्न चरित्रों का वर्णन। रासलीला, भ्रमर गीत, नखशिख सौंदर्य, गोप और गोपिकाओं का ष्ण के प्रति प्रेम, ;तु वर्ण, नायिका भेद।

रस – श्रृंगार द्धसंयोग और वियोगऋ, शांत और अद्भुत।

भाषा:– परिष्कृत ब्रजभाषा।

ष्ण– भक्ति काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ

1. **ष्ण की लीलाओं का वर्णन –** ष्ण–भक्ति काव्यधारा का विकास निर्गुण ब्रह्म को साकार धरातल पर प्रतिष्ठित करते हुए हुआ है। इस काव्यधारा ने उपास्य रूप में परब्रह्म को ही ग्रहण किया। ये ष्ण नाम, रूप, लीला और धाम भेद में अनेक लीलाएँ सम्पन्न करते हुए लीला पुरुषोत्तम रूप में मान्य हुए हैं। परिणामस्वरूप ष्ण–भक्त कवियों के काव्य में लीला–गान की सहज प्रवृत्ति परिलिक्षित होती है। लीला का कोई प्रयोजन नहीं, स्वयं लीला ही प्रयोजन है। लीलाओं में प्रायः तीन रूप ष्ण–काव्यों में वर्णित हैं–1. वात्सल्यमयी बालरूप की लीलाएँ, 2. सख्य रूप में गोप–गोपिकाओं के साथ किशोरावस्था की लीलाएँ, 3. तरुणावस्था में राधा एवं अन्य गोपियों के साथ माधुर्यमयी रास लीलाएँ। लीला वर्णन इस काव्यधारा का सर्वस्व एवं मूल तत्त्व है। इन सभी लीलाओं से माधुर्य भाव की ही प्रधानता रही है। इस लीला–गान में यद्यपि आधार तो श्रीमद्भागवत का लिया गया है, परन्तु भिन्न–भिन्न कवियों ने उसे मौलिकता एवं विविधता प्रदान करते हुए अपनी–अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इस लीला–ज्ञान की एक विशेषता यह रही है कि इसमें ष्ण कहीं भी अलौकिक प्रतीत नहीं होते। लौकिक बालक के रूप में की गई उनकी लीलाएँ ष्ण–भक्त कवियों द्वारा वर्णित लीला–गान सहज एवं स्वाभाविक रूप धारण कर लेता है।
2. **प्रेम की सर्वोपरिता –** ष्ण–काव्य में प्रेम की सर्वोपरिता है। ज्ञान की उपेक्षा प्रेम का महत्त्व, आत्मचिंतन की अपेक्षा आत्मसमर्पण का महत्त्व अधिक माना गया है। गोपी–उद्धव संवाद में गोपियों की विजय और उद्धव की पराजय इस सत्य को उद्घाटित करती है। ष्ण का सम्पूर्ण चरित्र ही प्रेममय है। ष्ण कवि भी सच्चे प्रेमी थे। अतः ष्ण एवं राधा तथा अन्य गोपियों के प्रेम का वर्णन इन कवियों की कल्पना मात्र न होकर सच्चे प्रेमियों के निश्चल एवं उदात्त भावों का अभिव्यंजन है। ये कवि ष्ण और राधा की रूप माधुरी पर आसक्त एवं तन्मय होकर अनन्य भाव से ऐसी काव्य–रचना करते थे कि उनके काव्य का एक–एक अक्षर प्रेमरस में डूबा हुआ प्रतीत होता है।

   तरुण ष्ण के अंग–प्रत्यंग को देखकर गोपियाँ मुग्ध एवं मोहित हो जाती हैं। सूरदास ने इस मादक सौंदर्य का वर्णन इन शब्दों में किया है:–

श्याम अंग युवती निरखि भुलानी।
कोउ निरखति कुंडल की आभा इतनेहि मोहि बिकानी।।
ललित कपोल निरखि कोउ अटकी शिथिल भई ज्यों पानी।
देह गेह की सुधि नहिं काहू, हरषन को पछतानी।।
कोउ निरखति रही ललित नासिका यह काहू नहिं जानी।
कोउ निरखति अधरन की सोभा पुफरत नहीं मुख बानी।।
कोउ च त भई दशन-चमक पर चकचौंधि अकुलानी।
कोउ निरखि द्युति चिबुक चारु की सूर तरुनि बित तानी।।

माधुर्य भाव की भक्ति सौंदर्य पर ही आधारित है। मीरा भी ष्ण के सौंदर्य पर मुग्ध थी। ष्ण के अप्रतिम रूप-सौंदर्य पर मुग्ध होते हुए भी कहती है-

बसो मेरे नैननि में नंदलाल।
साँवरि सूरति मोहिनी मूरति नैना बने बिसाल।
अधर सुधरस मुरली राजति उर वैजन्ती माल।।
छुद्र घंटिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल।
'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई भगत बछल गोपाल।।

ष्ण के रूप-सौंदर्य के वर्णन में जैसी ष्ण भक्त कवियों की दृष्टि रमी है वैसी ही राधा-सौंदर्य-वर्णन में रमी है। राधावल्लभ संप्रदाय के भक्तों ने तो ष्ण से भी अधिक राधा का महत्व प्रतिपादित किया है। ष्ण राधा के अनुचर एवं आज्ञाकारी माने गए है। अतः इस संप्रदाय के भक्तों ने राधा के सौन्दर्य का वर्णन अधिक किया। हितहरिवंश राधा के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहते है:-

ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट मनि स्यामा आजु बनी।
नख-सिख लो अंग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी।।
यों राजति कबरी गूथित कच कनक कंज बदनी।
बिकुर चन्दिकनि बीच अधर विधु मानो ग्रसित पफनी।
सौभग रस सिर सवत पनारी प्रिय समान्त ठनी।
भ्रकुटि काम-कोदण्ड, नैन शार, कज्जवल रेख अनी।।

3. **ष्ण के लोकरंजक रूप को प्राधान्य** – भागवत् के ष्ण का रसिक रूप, गीता के ष्ण का दार्शनिक रूप और महाभारत के ष्ण का कर्मयोगी, रणनीति में कुशल राजनीतिज्ञ का रूप –श्री ष्ण का चरित्र इतना पूर्ण, व्यापक और महान् है कि वह महाकाव्य का विषय बन सकता है लेकिन ष्ण-भक्त कवियों ने उनके मधुर रूप को ही अपनी भक्ति का आलंबन एवं अपने काव्य का विषय बनाया। ष्ण का यह मधुर रूप, शील और सौंदर्य समन्वित है, जो लोकरंजक है। ष्ण-भक्त कवियों ने यशोदानंदन, गोपीवल्लभ, मुरली मनोहर, लीलाबिहारी रूप को अपनी भक्ति के लिए चुना औरन उनके रूप-सौंदर्य, हास-विलास, क्रीड़ा-कौतुक, केलि-विनोद और राग-रंग का ही चित्रण किया।

4 **भक्ति-भावना** – ष्ण-भक्ति का जो रूप ष्ण-काव्य में मिलता है उसमें वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव की भक्ति प्रमुख है। वात्सल्य भाव के अनेक अलभ्य चित्र ष्ण-भक्ति-काव्य की विशेषता हैं। इसमें कही ष्ण की बाल-चेष्टाओं का वर्णन हुआ है तो कहीं माता यशोदा के हृदय की स्नेहमयी झाँकी प्रस्तुत की गई है। मातृ-हृदय की वात्सल्यमयी वेदना भी ष्ण-काव्य की अपनी विशेषता है। ष्ण का माखन खाने, हँसने-भागने, लड़ने-झगड़ने आदि बाल-क्रीड़ाओं के यथार्थ चित्र इन कवियों ने दिये हैं। सख्य भाव के अन्तर्गत ष्ण और ग्वालों के जीवन की मधुर क्रीड़ाओं-गोचारण, माखनचोरी, वंशीवादन, कुंदक क्रीड़ा आदि नाना क्रीड़ाओं को ष्ण-भक्त कवियों ने बड़े ही सहज एवं स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया है। हिंदी में इन कवियों ने ष्ण का बाल-वर्णन जिस प्रकार किया है वैसा विश्व साहित्य में दुर्लभ है। भक्ति का माधुर्य रूप राधा- ष्ण और गोपी- ष्ण की लीलाओं में प्रकट हुआ है। ष्ण-भक्ति के सभी संप्रदायों में माधुर्य भाव की भक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

NOTES

ष्ण–भक्त कवियों ने भगवान् की चार प्रकार की माधुरियों का वर्णन किया है– 1. ऐश्वर्य माधुरी, 2. क्रीड़ा माधुरी 3. वेणु माधुरी 4. विग्रह माधुरी। क्रीड़ा माधुरी के अनेक प्रकार हैं, जिनमें गोपलीला श्रेष्ठ है। वेणु माधुरी अर्थात भगवान का वेणु निनाद अनिवर्चनीय है। उनकी विग्रह माधुरी अर्थात् रूप माधुरी का वर्णन। ष्ण–भक्ति काव्य में इन चारों की माधुरी के वर्णन भरे पड़े है। इस भक्ति–भावना में किसी भी प्रकार के विधि–निषेध को महत्त्व नहीं दिया जाता। भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम एवं उससे रागात्मक संबंध स्थापित करते हुए भक्त पूर्णतया तन्मय होकर भक्ति–भाव को विभिन्न रूपों में सहज भाव से प्रस्तुत करता है।

5. **राधा ष्ण के अनिंद्य सौंदर्य का वर्णन** – ष्ण–भक्ति काव्य में ष्ण और राधा के सौंदर्य–वर्णन के रूप में नर–नारी के चरम–अनिंद्य सौंदर्य का अंकन किया गया है जैसे तुलसी के राम 'कोटि कंदर्प लजावन हारे' थे, वैसे ही सूर के ष्ण अपने अद्भुत रूप सौन्दर्य से सारी ब्रज–लीलाओं को अद्विग्न बनाए रहते थे। राधा अनिंद्य सुंदरी थी। नारी–सौंदर्य, पुरुष–मन को अधिक आकर्षित करता है, इसलिए राधावल्लभ संप्रदाय में राधा का महत्त्व बढ़ा और ष्ण–भक्त, राध ा– ष्ण के अनरूप सौंदर्य पर मुग्ध होकर बड़े तन्मय भाव से उनका नख–शिखर सौंदर्य वर्ण करने लगे।

भाल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुन्द, सरसाध्र पल्लव, पीतम मन समनी।।
हित हरिवंश प्रसंसति स्यामा कीरति विरुद घनी।
गावत श्रवननि सुनति सुखाकर विश्व दुरित दवनी।।

राधा– ष्ण का यह अप्रतिम, अनिंद्य सौंदर्य ष्ण–काव्य का प्राण है। ष्ण और राधा के सौंदर्य में जो अलौकिकता है वही उनके प्रेम और श्रृंगार को आध्यात्मिक भावभूमि पर ले जाती है।

6. **वात्सल्य एवं श्रृंगार रस की योजना** – शास्त्रीय शब्दावली में रति स्थायी भाव अनेक रूपों में प्रकट होता है–माता–पिता का संतान के प्रति रति भाव वात्सल्य कहलाता है, दंपति विषयक रति भाव श्रृंगार तथा भक्त की भगवान् के प्रति रति भाव भक्ति। ष्ण–काव्य में इन तीनों का समावेश है। माता यशोदा और बाबा नंद अपने पुत्र ष्ण के बालरूप पर रीझते, चिंतित होते, बलैया लेते या रुष्ट होते हैं तो उनका वत्सल भाव दीखता है और काव्य में वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति होती है। ष्ण, राधा और अन्य गोपियाँ परस्पर प्रीति प्रकट करते हैं, संयोग और वियोग की अवस्था में हृदय के विविध भावों को अभिव्यक्त करते हैं तो उससे श्रृंगार रस प्रकट होता है। ष्ण की इन लीलाओं को सुनकर अथवा गाकर भक्त जब तन्मय होकर ष्णमय हो जाता है तो भक्तिरस की स्थिति होती है।

रति–परिपाक की दृष्टि से ष्ण–काव्य अप्रतिम है। बालक और माता–पिता के मनोविज्ञान की अच्छी तरह पहचान करके एक–एक क्रीड़ा अथवा भाव का जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण ष्णभक्त कवियों ने किया है वैसा अन्य दुर्लभ है। वात्सल्य के दोनों पक्षों द्धसंयोग और वियोगद्ध का चित्रण इन कवियों ने किया है। ष्ण–जन्म लेकर माखनचोरी, गोचारण, गोदोहन, कालिय दमन आदि अथवा अक्रूर के ब्रज–आगमन तक संयोग वात्सल्य का वर्णन है। पुत्र–वियोग में तड़पते नंद और यशोदा के चित्र वात्सल्य के वियोग पक्ष को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। श्रृंगार रस के संदर्भ में भी संयोग और वियोग दोनों पक्षों के सजीव चित्रण ष्ण–काव्य में मिलते हैं। श्री ष्ण के मिलन–प्रसंग में रासलीला, मानलीला आदि प्रसंगों में मुखर, चंचल, चपल गोपियाँ, जो विभिन्न आनंद केलियों का संपादन करने वाली हैं, वही गोपियाँ ष्ण–वियोग की स्थिति में मौन होकर शांत और गंभीर हो जाती हैं। वे विरह–वेदना से मलिन एवं शकाय हो जाती हैं। लोक–लाज खोकर प्रेम मार्ग की पथिक बन जाती हैं। ष्ण–भक्त कवियों द्वारा 'भ्रमरगीत प्रसंग' में गोपियों की विरह–व्यथा का इतना मार्मिक एवं हृदयग्राही चित्रण किया गया है कि उसे पढ़कर अथवा सुनकर किसी भी सहृदय का हृदय पिघल उठता है।

7. **अनुपम प्र ति–चित्रण** – ष्ण ब्रजभूमि में ही अवतरित होते हैं। उनका पूरा व्यक्तित्व प्र ति की गोद में विकसित होता है। बाल–लीलाओं से लेकर लोकमंगलकारी कार्यों की कर्मभूमि प्र ति ही रही है। राधा और ष्ण के मिलन के दृश्य भी प्र ति के आँच में ही विकसित हुए।

यमुना, कदम्ब, करील, निकुंज, लता, चन्द्रमा आदि इस प्रेम की साक्षी हैं। ष्ण–भक्त कवियों ने प्र ति के मनो–मुग्धकारी चित्र प्रस्तुत किए हैं। वात्सल्य और श्रृंगार के वर्णनों में प्र ति का चित्रण उद्दीपन रूप में किया है। जिस यमुना–तट पर ष्ण ने न जाने कितनी प्रेम–क्रीडाएँ की थीं, जो यमुना उनके हास–विलास की साक्षी थी, वही उनके विरह में जलकर काली पड़ गई है–

देखियत कालिन्दी अति कारी।
कहौ पथिक जाइ उन हरि सो भई विरह जुर जारी।

8. **ब्रजसंस्कृति का सजीव चित्रण** – कृष्ण-भक्ति काव्य में ब्रज प्रदेश अपनी सम्पूर्ण संस्कृति के साथ जीवंत हो उठा है। कृष्ण का बचपन और किशोरपन ब्रजभूमि में ही व्यतीत हुआ था। कृष्ण जन्मोत्सव, अन्नप्राशन, नामकरण, कर्णछेदन आदि संस्कारों के वर्णन द्वारा ग्राम संस्कृति एवं ग्राम्य संस्कारों के विषय में जानने के लिए कृष्ण-काव्य से बढ़कर अन्य कोई साधन नही है। ब्रजगीत, रीति-रिवाज, आचार, परम्पराएँ, विश्वास, संस्कार, लोकाचार, टोने-टोटके, व्रत-त्योहार आदि का इतना सजीव एवं यथार्थ चित्रण मिलता है कि इसे पढ़कर ब्रज संस्कृति का एक पूर्ण बिंब हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है। कृष्ण-काव्य में होली के रंग-अबीर, गुलाल एक ओर अपनी मनोहर छटा बिखेरते हैं तो दूसरी ओर सावन और तीज के झूले में मन झूलने लगता है। इस प्रकार ब्रज के जीवन में घुले-मिले कृष्ण के साथ वहाँ की सभी परम्पराओं एवं विशेषताओं को भी ब्रज-काव्य में समेट लिया गया है। ब्रज के इस मोहक रूप पर आकर्षित होकर ही रसखान, ब्रज में ही जन्म लेने की इच्छा प्रकट करते हैं-

मानुस हौं तो वह रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहाँ बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मंझारन।।

पाहन हौं तो वहै गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धरन।
जो खग हौं तो बसैरो करौं, मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन।।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति काव्य अपनी सरसता, कोमलता रागात्मकता, माधुर्य आदि गुणों के कारण हिंदी साहित्य में विशेष स्थान रखता है। भक्ति रस से आपूरित कृष्ण-भक्ति काव्य कृष्ण-भक्तों को तो भक्ति रस से आपूरित करता ही है, सामान्य जन भी रसमयता से, भाव-माधुर्य से रससिक्त हो जाता है।

9. **ब्रज भाषा का साम्राज्य** – समूचे कृष्ण-काव्य की भाषा कृष्ण-लीलाओं से संबंधित ब्रज प्रदेश की भाषा ब्रजभाषा ही है। ब्रजभाषा का समूचा लालित्य एवं वैभव कृष्ण-काव्य में देखा जा सकता है। ब्रजभाषा जो अपने प्रारंभिक रूप से क्षेत्रीय बोली मात्र थी, कृष्णभक्त कवियों ने उसका संस्कार कर उसे साहित्यिक भाषा का ऐसा रूप प्रदान किया कि सम्पूर्ण रीतिकाल तथा आधुनिककाल के आरंभ तक हिंदी काव्य में इसका एकछत्र साम्राज्य रहा, कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा को समृद्धि और व्यापकता के चरम शिखर तक पहुँचा दिया, वास्तव में ब्रजभाषा अपने कोमलता, सरसता, प्रांजलता और परिनिष्ठित रूप धारण करती चली गई।

10. **काव्य रूप** – जहाँ तक कृष्ण-काव्य की रचना-विधान का संबंध है, सारा कृष्ण-काव्य मुक्तक शैली में ही रचा गया मिलता है। यद्यपि कुछ प्रबंध काव्यों की भी रचना हुई परन्तु सूरदास, मीरा, नंददास आदि के मुक्तक पदों के सामने वह प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सके, कथा-सूत्र होते हुए भी सूर, नंददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों के पदों में प्रमुखता भावानुभूति की रही है। कृष्ण-भक्त कवियों का उद्देश्य कृष्ण-जीवन की कथा कहना नहीं था, कथा तो गौण रूप में साथ-साथ चलती है। उनका मूल उद्देश्य तो कृष्ण के प्रति अपने प्रेम एवं भक्ति को प्रकट करता है। इनके पद तो इनके सरल भावपूर्ण हृदय के उद्गार हैं जो गीतिरूप में प्रकट हुए है। ये कवि पद कहते नहीं, पद गाते हैं और इन पदों में लोक संगीत से लोक हृदय एकाकार हो जाता है। इनके पद विभिन्न राग-रागिनियों मे बँधे हुए है। यद्यपि कृष्ण का चरित्र महाकाव्योचित है। उनके वैविध्यपूर्ण जीवन के कितने ही पक्षों पर महाकाव्यों की रचना की जा सकती है, परन्तु कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के रसि रूप को ग्रहण करते हुए मुक्त शैली को ही अपनाया है।

11. **संगीतात्मकता** – सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति काव्य संगीत की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है। सभी कवि संगीत विद्या में निपुर्ण थे और उनमें अधिकांश कीर्तनिया थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने जिन आठ कवियों को अष्टछाप की संज्ञा देकर श्री नाथ मंदिर में अष्टयाम सेवा के लिए नियुक्त किया, वे आठों ही संगीत में निपुण और मधुर पद गाने वाले थे। वे विविध राग-रागिनियों के कुशल प्रयोक्ता थे। संगीतशास्त्र में आठों पहर में अलग-अलग राग गाने का विधान है, इसीलिए कृष्णपरक गीतिकाव्य में अवसरानुकूल सभी रागों और तालों के नाम दिए गए है। इन कृष्ण-भक्त कवियों के संगीतज्ञ होने से संबंधित अनेक जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं। कहा जाता है कि सूरदास की तान सबसे ऊँची होती थी और स्वर बहुत मधुर। इनके गान को सुनने के लिए अकबर वेश बदलकर आया करते थे। कुम्भनदास के बारे में प्रसिद्धि है कि इनकी प्रसिद्धि तो सीकरी तक पहुँच गई थी और विशेष आग्रह पर संगीत आयोजन में भाग लेने इन्हें सीकरी तक जाना पड़ा था। गोविन्द स्वामी से तो तानसेन भी संगीत सीखने आते थे। इन कवियों ने कीर्तन-संग्रह की भी परम्परा चलाई। आज भी संगीतज्ञ सूरदास, मीरा,

NOTES

NOTES

हरिदास आदि ष्ण–भक्त कवियों के पदों का विभिन्न रागों में गायन करते है और श्रोता इन्हें सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाते हैं।

12. **अलंकार एवं छंद योजना –** ष्ण–भक्त कवियों का अलंकार विधान चमत्कार–प्रदर्शन के लिए न होकर हृदय के भावों को अभिव्यक्त करने का एक अनिवार्य माध्यम है। इन कवियों का ध्यान मूल वस्तु पर केन्द्रित रहा, मिथ्या आडंबरों पर नहीं। इन सभी कवियों ने अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप से सौंदर्य–बोध के लिए किया। इन कवियों ने साम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग अधिक किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हुआ है। उपमान भी नए से नए ग्रहण किए हैं। अन्योक्ति अलंकार का भी प्रयोग विशेष रूप से सूरदास, नंददास ने बहुत अधिक किय। भ्रमरगीत प्रसंग में अन्योक्ति अलंकार ने ही भाव–चमत्कार पैदा किया। कहा जाता है कि सूरदास ने 'साहित्यलहरी' की रचना शब्दालंकारों के प्रदर्शन के लिए ही की। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, वीप्सा, श्लेष, वक्रोक्ति का प्रयोग किया। द्रष्टकूट पदों में यमक और श्लेष भरे पड़े है, परन्तु इनका अंलकार विधान कहीं भी त्रिम नहीं प्रतीत होता अपितु सहज, सजीव, सार्थक और मनोहारी है।

यद्यपि अधिकांशत: ष्ण–भक्ति विभिन्न राग–रागिनियों में निब) गेय पद शैली में ही है तथापि इनके अतिरिक्त दोहा–चौपाई, कवित्त–सवैया, दोहा–रोला, छप्पय, कुंडलिया, हरिगीतिका, गीतिका, अरिल्ल आदि में भी ष्ण–काव्य रचा गया है।

इस प्रकार ष्ण–भक्ति काव्य अपनी भावप्रवणता एवं काव्यसौष्ठव से हिन्दी साहित्य में अपनी विशेष पहचान रखता है और परवर्ती कवियों के लिए प्रेरणास्त्रोत रहा है।

ष्ण–भक्ति काव्यधारा के प्रमुख रचनाकार, रचनाओं, रचना–काल एवं वर्ण्य विषय की तालिका

क्र.	रचनाकार	रचना का नाम	रचना–काल	वर्ण्य–विषय
1.	सूरदास	सूरसागर	1587–1604 वि.स.	भागवत की पद्धति पर द्वादश स्कंधो में ष्ण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ काव्य
2.	सूरदास	सूरसावली	1605 वि.स.	सूरसागर की विषयानुक्रमणिका
3.	सूरदास	साहित्यलहरी	1607 वि.स.	सुप्रसि) दृष्टकूट पदों का संग्रह
4.	परमानंद	परमानंददास	–	ष्ण के मथुरा–गमन से भँवरगीत तक का दास प्रसंग
5.	नंददास	अनेकार्थमंजरी	1610–1640	पर्याय कोश ग्रंथ संवत् के मध्य
	"	मानमंजरी	"	अमरकोश के आधार पर पर्यायवाची शब्दों का संग्रह
	"	रसमंजरी	"	नायक–नायिका भेद संबंधी रीतिग्रंथ
	"	रूपमंजरी	"	रूपमंजरी के प्रति ष्ण–प्रेम विषयक आख्यान काव्य
	"	विरहमंजरी	"	विरह के भेदों का काव्यशास्त्रीय वर्णन
	"	श्यामसगाई	"	राधा– ष्ण की सगाई के रोचक प्रसंग पर आधारित
	"	सुदामाचरित	"	सुदामा का श्री ष्ण के पास जाना, ष्ण के द्वारा आवभगत और मित्र की सहायता का प्रसंग
	"	रुक्मिणीमंगल	"	रुक्मिणीहरण और ष्ण के साथ उसके विवाह का वर्णन
	"	भँवरगीत	"	उद्धव का संदेशवाहक बनकर ब्रजागमन, गोपियों से संवाद, गोपियों की विरह–व्यथा
	"	रासपंचाध्यायी	"	गोपी– ष्ण के प्रेम के माध्यम से लौकिक एवं

				पारलौकिक प्रेम का समन्वय
	" "	सि)ांत पंचाध्यायी	" " आध्यात्मिक वर्णन	गोपियों के साथ ष्ण की रासलीला का
	" "	दशमस्कंध भाषा	" "	भागवत के दशम स्कंध का दोहा–चौपाई में रूपांतरण
	" "	गोवर्धन लीला	" "	ष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन और ष्ण–चरित्र का गुणगान।
	" "	नंददास पदावली	" "	बारह प्रकरणों में राधा– ष्ण से संबंधित विभिन्न प्रसंग
7.	ष्णदास	जुगलमान चरित्र	" "	राधा– ष्ण के प्रेम का श्रृंगारपरक वर्णन
8.	निम्बार्काचार्य	वेदांत पारिजात सौरभ	" "	ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति
	" "	दशश्लोकी	" "	भक्ति–सि)ांत–प्रतिपादक दस श्लोकों की रचना
9.	श्रीभट्ट	युगलशतक	" "	राधा– ष्ण की युगल लीलाओं के मनोरम चित्र
10.	हितहरिवंश	हित चौरासी	" "	राधा– ष्ण का प्रेम, नित्य विहार, रासलीला आदि का श्रृंगार रस की पृष्ठभूमि में वर्णन।
	" "	स्फुट वाणी	" "	राधा–भक्ति, जीवनोद्देश्य आदि विषयों पर स्फुट वाणी
12.	ध्रुवदास	बयालीस लीला	1660–1700	राधा– ष्ण की विभिन्न के मध्य लीलाओं का वर्णन
13.	ध्रुवदास	सि)ांत विचार	" "	भक्ति के सि)ांत
	" "	ध्रुवदास त बानी	" "	जीवदशा, ब्रज लीला आदि विभिन्न विषयों पर
	" "	भक्त नामावली	" "	अनेक भक्तों का संक्षेप में चरित्र–वर्णन
14.	स्वामी	सि)ांत के पद	1600–1671 वि.सं.	भक्ति के साधारण सि)ांतों का कथन हरिदास
	" "	केलिमाल	1600–1617 वि.सं.	110 पदों में श्री श्यामाकुंज बिहारी की लीलाओं के अनेक मधुर चित्रों का अंकन
15.	मीराबाई	नरसीजी का मायरा	1585–1600	नरसी जी की भक्ति का वर्णन
	" "	गीतगोविंद टीका	" "	गीतगोविंद की भाषा टीका
	" "	राग सोरठ	" "	मीरा, कबीर, नानक देव के पद पद–संग्रह
	" "	स्फुट पद	" "	मीरा के ष्ण–भक्तिपरक पद द्धमीरा पदावली' नाम से प्रकाशितऋ
16.	नरोत्तमदास	सुदामाचरित	" "	भागवत में वर्णित सुदामा प्रसंग पर आधारित
17.	रसखान	सुखान रसखान	1640 वि.स.	भक्ति, प्रेम, राधा– ष्ण की रूपमाधुरी, लीला संबंधी सरस प्रसंग
18.	रसखान	दीनलीला	1640–1670 के मध्य	।।छंदों का राधा– ष्ण के पौराणिक प्रसंग पर आधारित छोटा–सा ग्रंथ

NOTES

	" "	अष्टयाम	" "	श्री ष्ण के प्रात: जागरण से रात्रि शयन पर्यन्त दिनचर्या का वर्णन
	" "	प्रेमवाटिका	1671 वि. संवत्	राधा– ष्ण को मालिन–माली मानकर प्रेम के गूढ़ तत्त्व का सूक्ष्म निरूपण
19.	रहीम	दोहावली	1640–1683	नीति संबंधी दोहों का संकलन के मध्य
	" "	श्रृंगारसोरठ	" "	ष्ण के रूप–सौंदर्य तथा गोपी–विरह का निरूपण
	" "	मदनाष्टक	" "	मुरली का सम्मोहक प्रभाव, गोपियों की विरह–वेदना, ष्ण का रूप लावण्य
20.	गंग	गंग कविता	" "	श्रृंगार, भक्ति, नीति, राजप्रशस्तिपरक

सार–संक्षेप

जितनी जीवनी शक्ति इस युग के साहित्य में है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। यदि इस युग का समस्त हिंदी–काव्य विश्व को किसी भी भाषा के काव्य के समकक्ष रखा जाय तो हिंदी की गरिमा बढ़ानेवाला ही होगा। अभी तक जितना भी हमारा भक्तिकाल का साहित्य उपलब्ध है, वह राजस्थान और मध्यप्रदेश ही नहीं समस्त भारत के तिकारों की देन है। इस युग के प्राय: सभी उत्कृष्ट साहित्यकारों ने इस लोक की चिंता तो अपने साहित्य मे की है, पारलौकिक विषयों पर तथा परमात्मा के संबंध मे काफी चिंतन अलग–अलग ढ़ग से किया है। साहित्य में धार्मिक भावना इस युग में चरम उत्कर्ष तक पहुँच गई तथा रचनात्मक साहित्य का प्रणायन भी अत्यन्त सुंदर ढंग से किया गया।

अभ्यास–प्रश्न

1. भक्तिकाल के उदय की परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।
2. भक्तिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझाइए।
3. ज्ञानाश्रयी शाखा को समझाइए।
4. प्रेमाश्रयी शाखा को समझाइए।
5. रामभक्ति काव्यधारा एवं ष्णभक्ति काव्यधारा को संक्षेप में समझाइए।

अध्याय – 7

भक्तिकाल : प्रमुख कवि और उनकी कृतियाँ

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- अध्ययन उद्देश्य
- पृष्ठभूमि
- भक्तिकाल की काव्यधारा
- निर्गुण भक्ति काव्य धरा
- प्रेममार्गी काव्य धरा
- भक्तिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
- भक्तिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाएँ
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

NOTES

1. अध्ययन उद्देश्य

भक्तिकाल की प्रवृत्तियों में मूलरूप से चार प्रश्नों को समझाया गया है। इनसे विद्यार्थी समझ सकेंगे –

भक्तिकाल की पृष्ठभूमि से विद्यार्थी परिचित होंगे।

भक्तिकाल की काव्य धारा के अंतर्गत विद्यार्थी भक्तिकाल में कौन – कौन सी धारा प्रवाहित हुअी, उसकी जानकारी प्राप्त करेंगे तथा धाराओं के प्रमुख कवि एवं उनकी प्रमुख रचनाओं को भी जान सकेंगे।

भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ मुख्यत: सात हैं जो भक्तिकाल की सभी धाराओं में विशेष रूप से पायी जाती है।

भक्तिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी प्रमुख रचनाएँ कौन –कौन सी हैं इसका परिचय इसमें मिलेगा।

2. पृष्ठभूमि

भक्ति आंदोलन मुख्यत: भागवत धर्म के प्रचार–प्रसार के परिणाम स्वरूप जन्मा था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे–धीरे लोक प्रचलित भाषाओं के माध्यम से फैलता गया। भक्ति साहित्य में उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुअी है। परंतु भक्ति भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित नहीं थी – शैव शाक्त के अतिरिक्त बौद्ध और जैन सम्प्रदाय तक इस प्रभाव से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके। मुस्लिम सूफी सम्प्रदाय ने भी भक्तिकाल की सामान्य भाव–धारा में अपना अविस्मरणीय योग दिया था। तत्कालीन भारत में प्रचलित विभिन्न धर्मों में अनेकानेक मार्गों और सम्प्रदायों में बटने की प्रवृत्ति चरम–सीमा पर पहुँच गई थी, न केवल हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय कई –कई भागों में बटे, बल्की इस्लाम में भी ऐसे विभाजन दिखाई दिए। वे परस्पर एक दूसरे से अक्सर संघर्ष करते रहते थे। भक्तिभाव अपने –अपने मतों की भिन्नता के बावजूद समस्त ध ार्मिक सम्प्रदायों और जातियों में विराट समन्वय का प्रतीक बन कर आया, इतना ही नहीं यह समस्त मानवता को एक सूत्र में गूंथने के उपक्रम के रूप में भी प्रकट हुआ।

तत्कालीन भारत में धार्मिक बाहयाचार और राजनीतिक पाखंड के साथ अनैतिक और मूल्यहीन व्यवस्था का प्रभाव बढ़ रहा था। इन विषम स्थितियों में भक्तिकाल के कवियों ने जनता को पाखंडों और अनैतिकताओं के विरु) जगाया, भीतर से जुड़ने की इच्छा वाली जनता में समन्वय और साहचर्य की भावना पैदा की, उनके आत्मविश्वास को बल पहुँचाया और उन्हें उदात्त, व्यापक तथा कल्याणकारी जीवन का मार्ग दिखाया।

वस्तु की गंभीरता और उद्देश्यपरकता, शिल्प का वैविध्य, विचारों की उदात्तता, अनुभूति गहराई और लोक को मार्ग दर्शन देने वाली दृष्टिपरकता के कारण यह युग न केवल उत्कृष्ट सृजन बल्की सार्थन सृजन की दृष्टि से अप्रतिम था। इसीलिए इसे स्वर्ण युग कहा गया है। भक्तिकाल के सम्बन्ध में डॉ. श्यामसुंदर दास के ये शब्द बहुत महत्वपूर्ण है।

"जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे सुप्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंत: करणों से निकालकर देश के कोने–कोने में फैली थी उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यत: भक्ति युग कहते हैं। निश्चय ही यह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण–युग था।"

3. भक्तिकाल की काव्यधारा

भक्तिकाल की काव्य धाराओं को निम्नलिखित तालिका में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

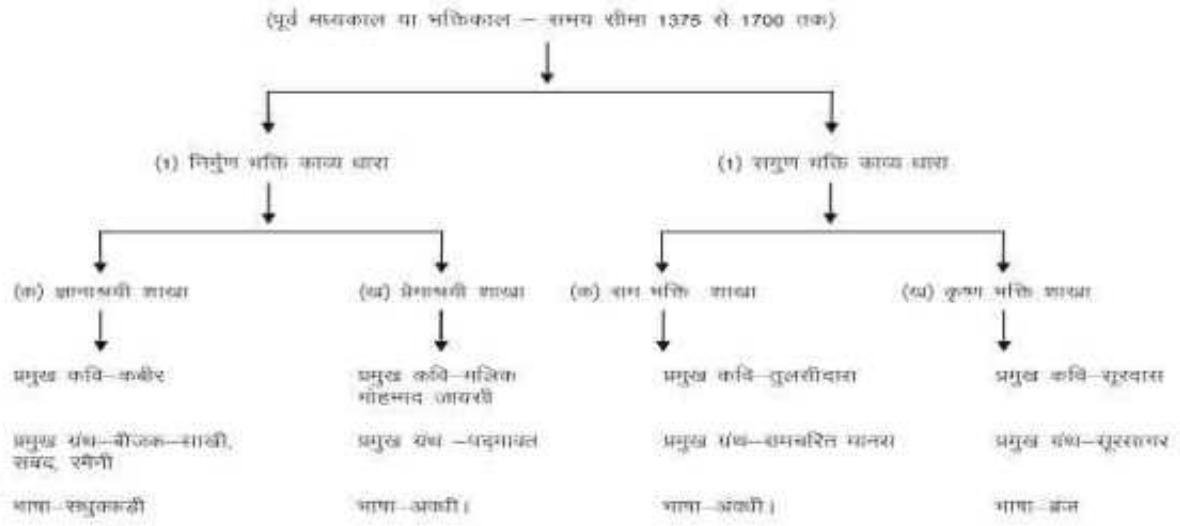

निर्गुण भक्ति काव्य धरा

जिस समय उत्तर भारत में नाथों और सिद्धों की अन्तर साधना प्रचलित हो चुकी थी, उसी समय दक्षिण भारत में आलवार भक्तों की भाव धारा भी प्रवाहित हो रही थी जिसका समर्थन वहाँ के वैष्णव आचार्यों द्वारा भी किया गया। दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की स्थापना करने वाले रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी और निम्बार्क ये चार महान आचार्य हुये। इन आचार्यों के प्रयास द्वारा वैष्णव धर्म की पावन धारा दक्षिण से उत्तर की ओर भी प्रवाहित होने लगी। इन आचार्यों के पश्चात् रामानन्द, बल्लभाचार्य, और चैतन्य महाप्रभु ने इसे अत्यधिक व्यापक बनाते हुये सुदृढ धरातल प्रदान किया। रामबंद जी की उदारता ने उत्तर भारत में अपनी सुदृढ़ शिष्य परम्परा निर्धारित कर ली जिसमें जातिगत भेदकता की उपेक्षा करके उन्होंने निम्न वर्गीय शिष्यों को भी दीक्षित किया। निस्सन्देह रामानन्द जी ने भक्ति आन्दोलन में महत्वपपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया और कबीर ने उसे पूर्णता प्रदान की। उत्तर भारत में भक्ति का विकास किस प्रकार हुआ, इस संबंध में अग्र दोहा प्रसिद्ध है।

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द,

परगट किया कबीर ने सप्त दीप नव खंड ।

उस युग में उत्तर भारत की स्थिति बहुत ही भयावह थी। उस युग में कबीर के आविर्भाव का आकलन करते हुये आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है–''इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथ पंथियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उसके द्वारा यह बहुत ही अवश्यक कार्य हुआ इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होने आत्म गौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया।''

प्रेममार्गी काव्य धरा

निर्गुण काव्य धारा की दूसरी शाखा प्रेममार्गी सूफियों की है। काव्य मूल्यों की दृष्टि से सूफी आख्यानकों का विशेष महत्व है। संत कवियों ने केवल स्फुट रचनाएँ ही की थी किन्तु सूफियों ने सुन्दर प्रबन्ध काव्यों की भी रचना की है। इनमें जायसी का पद्मावत हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन सूफी काव्यों में लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) के द्वारा अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) की व्यंजना ध्वनित की गई है।

प्रेम ही सूफी साधना का महत्वपूर्ण संबल है जिसकी सहायता से साधक की आत्मा शरीयत, तरीकत, हकीकत तथा मारिफत इन चार अवस्थाओं को पार करती हुई हक (ईश्वर) तक पहुँचने का प्रयास करती है। कबीर ने भारतीय दर्शन के अनुसार हरि को 'पीउ' और स्वयं को उसकी बहुरिया बताया है किन्तु सूफी सन्तों ने ईश्वर को नारी और आत्मा को पुरुष मानकर आध्यात्मिक संकेतों की लौकिक अभिव्यक्ति की है। इस प्रकार सूफी कवियों के प्रेमदर्शन ने हिन्दी कविता को अत्यधिक प्रभावित किया है और आगे आने वाले हिन्दी के प्रेम काव्यों विशेषत: कृष्ण काव्य की माधुर्योपासना को सूफी प्रेमतत्व का अधिक योग हैं।

सगुण भक्ति काव्य धारा – (रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी)

भक्तिकाल की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति सगुण भक्ति की है जिसके अन्तर्गत दो उपशाखायें हैं – रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी। उत्तर भारत में मुसलमानी राज्यसता के स्थापित होने के साथ ही इस्लाम धर्म का प्रचार भी खूब जोर शोर के साथ हो रहा था। इस समय हिन्दू जनता अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परम्परा से विमुख होकर अपने सुनहले अतीत को झुलती जा रही थी। इसी निराशा की स्थिति में उत्तर भारत में राम और कृष्ण काव्यों का जन्म हुआ। इस दोनों प्रकार के काव्यों का मूल प्राचीन वैष्णव धारा में देखा जा सकता है।

4. भक्तिकाल की प्रमुख प्रवृतियाँ

यद्यपि भक्तिकाल उपासना प)ति के भेद के कारण चार शाखाओं में विभाजित हो गयी है परंतु उनमें कुछ ऐसी भावनाएँ हैं जो चारों ही शाखाओं में समान रुप से पाई जाती हैं–

क) नाम की महत्ता

NOTES

NOTES

जप, कीर्तन, भजन आदि संतो, सूफियों और सगुणोपासक कवियो मे समान रूप से दिखाई पड़ते हैं। सूफियों और कृष्ण भक्त कवियों में कीर्तन की प्रधानता है। तुलसी ने राम के नाम को राम से बड़ा माना है। नाम में निर्गुण – सगुण दोनों का समन्वय हो जाता है देखिए –

निर्गुण की सेवा करो , सगुण को करो ध्यान।
निर्गुण सगुण से परे, तहां हमारा ध्यान॥

कबीरदास ईश्वर को निर्गुण से परे मानते हैं। उनका कथन है कि उनकी प्राप्ति भक्ति और योग के समन्वय द्वारा हो सकती है। उसका नाम अक्षय पुरूष या सत्पुरूष है।

मेरा साहब एक है, दूजा कहा न जाय।
साहिब दूजा जो कहूं, साहब खरा रिसाय॥

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्रेममार्गी कवि जायसी तथा उनके अनुयायियों ने भी नाम की महिमा को बताया है सुमिरों आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।।

इसी तरह–

परगट गुपुत सकल मँह पूरि रहा सो नावँ।

इसी प्रकार तुलसी ने भी नाम और कीर्तन की महिमा को बताया है –

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बढ़ नाम दुहूँते। किये जेहि प्रभु बस निज बूते॥

और भी –

तुलसी अलखहिं का लखे, राम नाम जपु नीच॥

क्योंकि –

नम कामतरू काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

2) गुरु महिमा

कबीरदास जी ने तो गुरू को भगवान से भी बड़ा कहा है –

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पायँ।
बलिहारी वा गुरू की, जिन गोविन्द दिया मिलाय॥

कबीरदास ने स्थान–स्थान पर गुरू की महिमा का वर्णन किया है। जितनी प्रधानता ईश्वर की नहीं मानी गई हैं, क्योंकि गुरू ही संसार सागर से पार कराने वाली शक्ति है। गुरू ही ईश्वर के दर्शन करा सकता है। जायसी ने भी गुरू की महिमा का प्रदर्शन किया है।

तन चितउर मन राजा कीन्हा हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेइ पन्थ दिखावा, बिनु गुरू जगत का निरगुन पावा॥

और भी –

मुहम्मद तेइ निश्चित पथ, जेहि संग मुरसद पीर।

जेहि के नाम और खेवक, बेगि लाग सो तीर॥

हम देखते है कि जायसी भी उसी भाँति गुरूके परम उपासक है, जैसे कि कबीर । गोस्वामी तुलसीदास जी ने गुरू की वंदना इन शब्दों मे की है–

NOTES

बन्दौ गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकरि॥

गोस्वामी तुलसीदास ने मानस के आरंभ में गुरू महिमा का खूब वर्णन किया है। कृष्ण भक्त शिरोमणि महात्मा सूरदास जी ने अपने गुरू बल्लभचार्य जी की महिमा का वर्णन 'सूरसागर' में किया है –

श्री वल्लभ नखचन्द छटा बिनु, सब जग माँहि अँधेरो।

संत सुन्दरदास खण्डेलवाल ने लिखा है –

गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकाश नहिं,
भूमहु का नास नहिं, संसेई रहतु है।

इस प्रकार हम देखते है कि निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के संत तथा भक्त कवियों में गुरू के प्रति अपार भक्ति थी।

भक्ति–भावना का प्राधान्य

भक्ति भावना का प्राधान्य चारों सम्पदायों में द्धज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा, रामभक्ति शाखा, कृष्ण भक्ति शाखा) कबीरदास ने निर्गुण ईश्वर के उपासक होते हुए भी, भक्ति को प्रधानता दी है। उनका कथन है कि बिना भक्ति के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिए ज्ञान – प्राप्ति के लिए भक्ति का होना आवश्यक है और ज्ञान के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है।

हरि भक्ति जाने बिना, बूढ़ि मुआ संसार।

इसी प्रकार प्रेममार्गी भक्तों का प्रेमभक्ति का ही रूप है, और भक्त तो भक्त है ही। जायसी ने पद्मावत में कहा है –

नवों खण्ड नवों पौरी, उने तहँ वज केवार।
चारि बसेरे सो चढै, सत सौं उतरे पार॥

इसमें जायसी ने सूफी सिद्धांत की चारों अवस्थाओं (शरीयत, तरीकत, हकीकत, और मारिफत) को ईश्वर भक्ति का साधन माना है। राम –भक्त तथा कृष्ण भक्त कवियों ने तो भक्ति भावना को प्रधानता दी है। चाहे जिस पद को, चाहे जिसे चौपाई को हम ले, वह भगवद् भक्ति से ओत –प्रोत होगी, क्योंकि हम देखते हैं कि रामभक्ति और कृष्ण भक्ति शाखा का आधार ही भगवदभक्ति है।

निर्गुण और सगुण शाखा में बहुत अंतर है, क्योंकि एक सगुण द्धसाक्षात् या मूर्ति) के उपासक हैं जो बहुदेववाद में भी भी विश्वास करते है और दूसरे निर्गुण द्धनिराकार या अमूर्ति) के उपासक हैं जो अवतारवाद तथा बहुदेवावाद के विरोधी और एकेश्वरवाद के मानने वाले है। दोनों के ही मार्ग उचित हैं। सूरदास और तुलसीदास ने जब देखा कि निर्गुण भक्ति के उपदेश द्धजो निर्गुण शाखा के संत कवियों के द्वारा दिए जा रहे थे) जनता पर इतना प्रभाव नहीं डाल रहे जैसा कि डालना चाहिए । उनका प्रभाव केवल अशिक्षित तथा निम्नवर्ग के लोगों तक ही सीमित था, क्योंकि उसमें उच्च वर्ग के लिए कोई नवीन बात न थी जो उनको आकर्षित कर सकती। इसलिए सूर ने जनता का दुःख दूर करने के लिए तथा भक्ति की ओर अग्रसर करने के लिए कृष्ण का लोकरंजनकारी रूप उपस्थित किया, जिसमें जनता को नवीनता तथा आकर्षण मिला। दूसरी ओर तुलसी ने

NOTES

आर्य –सभ्यता को जनता के सम्मुख उपस्थित किया जिस पर आर्य जन अभिमान करते थे। इसलिए यदि हम कहीं – कहीं निर्गुण भक्ति का खण्डन पाते हैं, जैसा कि सूरदास, नंददास, तुलसीदास आदि में मिलता है तो वह वास्तव में ज्ञान का विरोध नहीं, केवल भक्ति विरोधी ज्ञान का खण्डन किया गया है। जैसे सूरदास के प्रस्तुत पद में –

मधुकर कान्ह कही नहिं होही

नागरमनि जे सोभा–सागर, जग जुबती हँसि मोही।

लियो रूप दै ज्ञान ठगोरी, भलो ठग्यो ठग वोही।।

है निरगुन कुबरि सरवरि अवघटी करी हम जोही।

सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहिं आज सब सोही।।

आडंबरों का परित्याग

भक्त कवियों ने बाहरी आडम्बरों का बहिष्कार करने की सलाह भी दी है। आडम्बरों से परे रहकर ही भक्ति की साधना संभव है और इसीलिए प्राय: सभी भक्त कवि आडंबर –हीन सरल सात्विक जीवन में विश्वास करते हैं। कबीर दास जी के अनुसार –

कांकर पाथर जोड कै मस्जिद लइ बनाय।

ता चढ़ मुल्ला बाग दे क्या बहरा हुआ खुदाय॥

अहंकार का त्याग या शील–सदाचार की प्रवृत्ति

अहंकार का त्याग भक्ति का दूसरा रूप माना गया है। जब तक मनुष्य के हृदय में अहंकार विद्यमान रहेगा, तब तक उसे सच्ची भक्ति की प्राप्ति नहीं होगी, जैसा कि हम कबीरदास के एक दोहे में देखते हैं–

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।

प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहि॥

इस दोहे में हम देखते है कि मैं शब्द अहंकार का प्रतीक माना गया है। जब तक कबीरदास जी में अहम भाव था, तब तक भगवद भक्ति प्राप्त न कर सके और जब उनकी ''मैं'' की भावना निकल गई, तभी हरि भक्ति प्राप्त हो गई।

भक्त चाहे निर्गुणवादी हो, चाहे सगुण वादी उसे अभिमान अवश्य त्यागना पड़ता है। बिना उसके त्यागे उसे भक्ति नहीं मिल पाती । जब हम सूरदास एवं तुलसीदास जी के काव्य का अध्ययन करते है, तब हम उनको भगवान के प्रति कहते पाते हैं कि – ''प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ, प्रभु अबकी राखि देउ लाज हमारी इसके द्वारा हमको पता चलता है कि उन्होंने भगवान के सामने अपने को कितना नीच, पापी, कुटिल तथा कामी समझा है। यह उनके हृदय की निष्कपटता तथा सच्ची भावना का उदाहरण है। क्योंकि भगवान निर्मल हृदय वाले जन को ही चाहते हैं, रामचरित मानस में स्वयं भगवान ने अपने श्री मुख से कहा है–

निर्मल मन सोइ जन मोहि भावा।

तुलसीदास जी ने शील–सदाचार पर विशेष बल दिया है

वे कहते हैं–

जो निज मन परिहरै विकारा।

तो कत द्वै जनित संसृति –दुख संसय सोक अपारा।।

संसार की असारता पर जोर

भक्तिकालीन कविता में दार्शनिक पृष्ठभूमि का महत्व एकदम सुस्पष्ट है। भक्तिकाव्य में संसार की असारता पर विशेष जोर दिया गया है अत: इस काव्य में शांत रस की प्रधानता परिलक्षित होती है।

NOTES

कलापक्ष की दृष्टि से भक्तिकाव्य महान काव्य

भक्ति काव्य में अलंकारों का सहज–सौन्दर्य, छन्दों की भाववहन और भाषा की सजीवता विद्यमान है। इस काव्य का सृजन प्रबन्ध और मुक्तक दोनों शैलियों में ही बड़ा मनोहारी है। सूर और मीरा के गीत विविध राग –रागनियों को लेकर चलते हैं और संगीतज्ञों के कण्ठहार बने हुए हैं। अवधी और ब्रज भाषा दोनों को अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य एवं शक्ति के साथ निखारने वाला भक्तिकाव्य अमर है।

5. भक्तिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाएँ

भक्तिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाएँ

नामदेव

संत नामदेव महाराष्ट्र के सतारा जिले के कन्हाड़ के पास नरसी बमनी गांव में 1270 ई0 में उत्पन्न हुये। इनके पिता का नाम दामाशेट और माता का नाम जोनाबाई था ये जाति के छीपी थे और सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। नामदेव अपने समय में महाराष्ट्र तथा उत्तरी भारत में इतने प्रतिष्ठित हो चुके थे कि कबीर, रैदास, कमाल और मीरा आदि ने उनका स्मरण बड़े आदर के साथ किया है। नाथ पन्थी वारकरी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त हिन्दू–मुसलमानों को मिथ्या रूढ़ियों का विरोध करते थे। जैसे –

हिन्दू अंधा तुर कौ काना, दुनौ ते ज्ञानी सयाना।
हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीह।
नाम वहीं देखिए, जहाँ देहरा न मसीत॥

कबीरदास

भक्तिकाल की निर्गुण सन्त काव्य परम्परा में कबीर का प्रमुख स्थान है। उनकी जन्म तिथि के संबंध में कई मत है। कबीर पंथियों में उनकी जन्मतिथि 1399 ई्वस0 1456 और मृत्युतिथि 1518) मानी जाती है, जिनके अनुसार कबीर 120 वर्ष जीवित रहे। कबीर के जन्म और जाति के संबंध में भी कई मत प्रचलित हैं। संभवत: ये एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे और नीरू तथा नीसा द्वारा पालित पोषित थे। वे नाथ पंथी विश्वासों से परिचित थे। वे स्वभाव से धार्मिक प्रवृत्ति के थे।

कबीर बहुश्रुत थे। यद्यपि वे स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। कबीर ने जिस राम शब्द का प्रयोग भी किया है वे दाशरथि राम नही हैं। उन्होंने 'राम' का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के रूप में किया है –

दशरथ सुत तिहु लोक बरवाना।
राम नाम का मरम है जाना॥

कबीर की रचनाओं में भारतीय निर्गुण ब्रह्मवाद, सूफियों का रहस्यवाद योगियों की साधना, अंहिसा आदि बातें होतु हुये भी स्वामी सेवक के संबंध की दृष्टि से सगुण ब्रह्म के जिज्ञासु है। वे चिन्तन के क्षेत्र में ज्ञानी है तथा कल्पना के क्षेत्र में रहस्यवादी है। कबीर ने अपनी रचनाओं में ज्ञानोपदेश, योग, सन्त महिमा, सत्य, नामयु महिमा, सत्पुरूष निरूपण, भक्त की दिनचर्या, विनय प्रार्थना, माया, गुरू महिमा, स्वरज्ञान आदि विषय रखे है। साथ ही उन्होंने तीर्थ, पूजा, व्रत, नमाज, रोजा, मूर्ति आदि की निन्दा की है। उन्होंने पाखण्ड, सामाजिक कुरीतियों, और परस्परिक कलह तथा विद्वेष को हटाने का सफल प्रयत्न किया। इस दृष्टि से कबीर का मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है।

NOTES

रैदास

मध्य युगीन साधकों में रैदास का भी विशिष्ट स्थान है। निम्न वर्ग में उत्पन्न होकर भी उत्तम जीवन शैली उत्कृष्ट साधना पद्धति, तथा उल्लेखनीय आचरण के कारण वे आज भी भारतीय धर्म साधना के इतिहास में सादर स्मरण किये जाते हैं। रैदास का जन्म काशी में हुआ था। उनके जन्म, मृत्यु के संबंध में विद्वानों मे बड़ा मत भेद है। भक्तमाल के अनुसार रैदास को स्वामी रामानन्द ने दीक्षा दी थी किन्तु इनकी रचनाओं में कहीं रामानन्द का उल्लेख नहीं है।

नानक देव

नानक–पन्थ के प्रवर्तक गुरू नानकदेव (1469–1538) इतिहास प्रसि) व्यक्ति है। उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय ने उन्हीं के जीवन काल में एक व्यापक संगठन का रूप धारण कर लिया था। नानक देव समन्वय शील और उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनमें अद्भुत संगठन शक्ति क्षमाशीलता और दूरदर्शिता विद्यमान थी। धार्मिक रूढ़िवाद, के जाति संकीर्ण बन्धनों तथा अनाचारों के प्रति उन्होंने सदैव विरोध का स्वर उठाया। उनकी वाणी में कबीर का सा तीखापन नहीं है और न उसमें खंडन मंडन की प्रवृत्ति ही पाई जाती है। उनकी रचनायें गुरू ग्रन्थ साहिब' में मिलती है।

दादूदयाल (1544.1603)

ये दादू पन्थ के चलाने वाले है। इसका जन्म गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में माना जाता है। इनके जीवन के संबंध में कबीर के जीवन की भांति अनेक किवदंतियाँ प्रचलित है। मारवाड, बीकानेर के आस पास इन्होनें अपने मत का प्रचार किया। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है जिसमें अरबी – फारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है और उनमें सहज स्वाभाविकता है।

सुन्दरदास (1596–1689)

यह दादू दयाल के शिष्य थे। इनके संबंध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ये शिक्षित थे। अतः इनकी रचनाओं में परिमार्जन और काव्य सौन्दर्य और चमत्कार मिलता है। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन पर भी दृष्टिपात किया। इनकी शिष्य परम्परा में अनेक संत हुये। सतनामी सम्प्रदाय के संस्थापक भी इसी सम्प्रदाय की परम्परा में थे।

मलूकदास (1574)

यह खत्री थे। इनका जन्म कड़ा जिला इलाहाबाद में हुआ था। 'ज्ञान– बोध' तथा "रामलीला" इनके दो प्रसि) ग्रन्थ है। 'ज्ञानबोध में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य प्रवृत्ति, निवृति आदि का निरूपण हुआ है और रामलीला में रामचरित्र वर्णित है। अन्य सन्तों की भाँति इनकी रचनाओं में काव्य सौन्दर्य तो नही, भाव सौन्दर्य मिलता है।

अन्य सन्त कवि

भक्ति काल में संत काव्य धारा के विकास में शताधिक कवियों का योगदान रहा जिसमें ऊपर वर्णित कवियों के अतिरिक्त अन्य को भी पर्याप्त लोकप्रियता मिली। इनमें धर्मदास, रज्जब, बावरी साहिबा, सदना, बेनी , सेना, धन्ना, अंगद, शेख, फरीद आदि उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा में केशवदास, यारि साहब, पलटू साहब, भीखा साहब, देवकीनन्द साहब, सहजोबाई, दयाबाई, दूलनदास, धरणीदास, मुलालसाहब, प्राणनाथ आदि सन्त कवि भी हुये है जिनकी वाणियाँ उपलब्ध है तथा जिनकी चर्चा विस्तार के साथ आचार्य पं0 परशुराम चतुर्वेदी ने अपने उत्तरी भारत की संत परम्परा में की है।

रामानन्द

हिन्दी की रामकाव्य परम्परा का विकास यदि स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जाय तो कोई अनौचित्य नहीं होगा। रामानन्द के हिन्दी में रचित कुछ पद प्रसि) हैं। इन पदों के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है, केवल परम्परागत प्रसि) के कारण ही इन्हें उनके द्वारा रचित मानना उचित है।

NOTES

अग्रदास

स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुये । इनके मुख्य ग्रन्थों 'ध्यान मंजरी', अष्टयाम', 'ज्ञयभजन मंजरी', 'उपासना–बावनी' और 'पदावली' है। 'अग्रअली' नाम से अग्रदास स्वयं को जानकी जी की सखी मानकर काव्य रचना किया करते थे।

अग्रदास के समय में ही रामभक्ति में श्रृगारी उपासना का प्रचलन प्रारम्भ हो गया। आज भी इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित विपुल साहित्य उपलब्ध है। इनमें प्रमुख उपासकों एवं रचनाकारों का नाम इस प्रकार द्रष्टव्य है – बालकृष्ण, रामप्रियाशरण, सूरकिशोर, प्रयागदास, रामसखे, कृपानिवास, रामचरणदास, महाराज विश्वनाथ सिंह, जीवाराम, उमापति त्रिपाठी, रघुनाथदास, युगलानन्य शरण, रघुराज सिंह, बनादास, शीलमणि, जानकीव शरण, रामवल्भव शरण, आदि।

ईश्वरदास

इनकी रामकथा से सम्ब) रचना 'भरत –मिलाप' है जिसका उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज रिपोर्ट में हुआ है। ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'अंगदपैज' भी मिलती है जिसमें रावण की सभा में अंगद के पैर जमाकर डट जाने का वीर रस पूर्ण वर्णन मिलता है। इन रचनाओं के आधार पर ही ईश्वरदास को रामभक्ति परम्परा में स्थान दिया जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास

अपनी रससिक्त वाणी से जनमानस की आलोकित करने वाले महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का जीवन वृत्त आज भी तिमिराच्छन्न है। उनकी रचनाओं में विशेष रूप से रामचरितमानस कवितावली, विनयपत्रिका, बरवै रामायण, और दोहावली में उनके जीवन सम्बन्धी कतिपय संकेत सूत्र अवश्य मिलते हैं। उनके समकालीन और परवर्ती भक्तों, नाभादास, प्रियादास, बेनी माधव दास, रघुवर दास, तुलसी साहेब, हरिराय, कृष्णदास आदि ने भी गोस्वामी जी के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है लेकिन फिर भी उनकी सम्पूर्ण जीवनी निर्विवाद रूप में हमारे समक्ष नहीं आ सकी है। उनके जन्म स्थान, जन्म तिथि बाल्यकाल, माता –पिता, जाति–गुरू विवाह और परवर्ती जीवन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के और परस्पर विरोधी मत मिलते है। इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ विविध सूत्रों से उपलब्ध हुय है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इनके अनेक छोटे–बड़े बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया है। दोहावली, कवित्त रामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञा प्रश्नावली, और विनयपत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं तथा रामलला नहछू, पार्वती –मंगल जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्ण गीतावली आदि छोटे ग्रन्थ है। 'शिवसिंह सरोज' में दस और ग्रन्थों के नाम गिनाये गये है – राम सतसई, संकट मोचन, हनुमानबाहुक, रामश्लाका, छन्दावली, छप्पय रामायण, कड़ला रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण और कुंडालिया रामायण।

अवधी और ब्रज दोनों ही भाषाओं का प्रयोग गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में किया है किन्तु अधिकांश रचनाओं की भाषा अवधी है जिसमें प्रसंगानुकूल संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

नाभादास

ये तुलसीदास के समकालीन प्रमुख भक्त थे। इनका जन्म स्थान दक्षिणी भारत माना जाता है किन्तु बाल्यकाल में ही ये उत्तर भारत आकर जयपुर में बस गये। 'भक्तमाल' इनका प्रसि) ग्रन्थ है जिसमें इन्होंने पूर्ववर्ती और समकालीन 200 भक्तों का प्रशस्तिमूलक परिचय दिया है।

केशवदास

इनका जन्म 1555 ई0 में और मृत्यु 1617 ई0 के आस –पास हुई थी। ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की सभा में इनका अपने पांडित्य के कारण अत्यधिक सम्मान था। इनके द्वारा लिखे गये सात ग्रन्थ मिलते हैं – कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंह चरित, विज्ञानगीता, रतन बावनी और जहाँगीर जस चन्द्रिका। इनमें से रामचंद्रिका हिन्दी परम्परा के अन्तर्गत एक विशिष्ट कृति है।

केशवदास ने सवत् 1658 में रामचंदिका की रचना की। कथा का आधार वाल्मीकि रामायण है। कहीं कहीं संस्कृत के अन्य ग्रन्थों की छाप भी स्पष्ट है। ग्रंथ में प्रबन्धात्मक की कमी खटकती है। प्रबन्ध का जो उदाहरण गोस्वामी जी ने प्रस्तुत किया, केशव उससे बहुत दूर है। डा0 माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में 'वाल्मीकि ने रामादि के चरित्र में महामानव की जो झाँकी दिखाई है, केशवदास उसकी छाया को भी अपनी रचना में नहीं ला सके। न उनमें वह भक्ति की ही भावना मिलती है जो सूर तुलसी में मिलती है।

सेनापति

इनका जन्म 1589 ई0 के आस–पास माना जाता है। इनके पिता का नाम गंगाधर तथा गुरू का नाम ही रामणि दीक्षित था। 'कवित रत्नाकर'इनका प्रसि) ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की चौथी और पाँचवी तरंगों में रामकथा वर्णित है। इससे ये रामकाव्य परम्परा में स्थान पाने के अधिकारी हो जाते हैं। रामकथा का आधार संभवत: वाल्मीकि रामायण है। इन्होंने गोस्वामी जी के समान राम के लोकोपकारी गुणों का विस्तार से वर्णत किया है।

प्राणचन्द चौहान

इन्होंने संवत् 1667 में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी जिस पर संस्कृत के हनुमन्नाटक की छाया है। इसमें संवाद शैली में रामकथा लिपिब) है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है।

हृदयराम

ये पंजाब के रहने वाले थे। हिन्दी रामकाव्य परम्परा के अन्तर्गत हनुमन्नाटक' द्धा1623 ई0) इनकी प्रसि) कृति है। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का इस पर प्रत्यक्ष प्रभाव है, किन्तु मूलत: यह कृति मौलिक है और कवित्त, सवैया आदि अनेक छन्दों का इसमें प्रयोग हुआ है।

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी के रामकाव्य सम्बन्धी ग्रन्थों में 'साकेत' का विशिष्ट स्थान है। कवि अपनी प्राचीन धार्मिक विश्वास परम्परा पर आडिग है। समस्त युग चेतना को स्वीकार करते हुये भी वह राम को मानव रूप में नहीं देखना चाहता । राम के ईश्वरत्व में अपना पूर्ण विश्वास रखते हुये भी 'साकेत' के सृजन के मूल में उर्मिला की जीवनाभिव्यक्ति ही प्रधान है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

'वैदेही वनवास' आपकी उत्कृष्ट रचना है। शीर्षक से ही कथानक स्पष्ट है। इसमें सीता निष्कासन की कथा वर्णित है। कवि का दृष्टिकोण सर्वत्र सुधार–वादी है। राम अलौकिक नहीं, अपितु लौकिक महापुरूष हैं। ग्रंथ की समाप्ति 18 सर्गों में हुई है।

रामचरित उपाध्याय

रामकाव्य सम्बन्धी आपका प्रबन्ध काव्य 'रामचरित चिन्तामणि' है जिसमें रामायण के राजनैतिक तथ्यों का दिग्दर्शन कराना ही कवि का लक्ष्य प्रतीत होता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

रामकाव्य परम्परा के कवियों में कविवर पंत का नाम भी सम्मान के साथ लिया जा सकता है। इनकी रची पुस्तक का नाम 'पुरूषोतम राम' हैं। यहाँ आकर राम का रूप परिवर्तित हो गया है। कवि ने नये मूल्यों के संदर्भ में राम को देखा है।

श्री बल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसका जिन हिन्दी भक्त कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा जाता है। जिन भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी वे 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठ भक्त कवियों में चार श्री बल्लभाचार्य के शिष्य थे – कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास। अन्य चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे – गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीति स्वामी और चतुर्भुजदास। ये आठों भक्त श्रीनाथ जी की नित्यलीला में अन्तरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते थे। इसी मान्यता के आधार पर इन्हें अष्टसखा' भी कहते हैं। अष्टछाप के ये आठों भक्त कवि पुष्टि मार्गीय सेवा विधि से पूर्ण सहयोग देते थे। वल्लभ सम्प्रदाय में सेवा विधि का बहुत ही सांगोपांग वर्णन है और अष्टयाम की सेवा मंगलाचरण, श्रृंगार, ग्वाल राजयोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या –आरती और शयन को इस सम्प्रदाय में बड़े समारोह से स्वीकार किया गया है। अष्टछाप का स्थापनाकाल स. 1902 वि0 में माना गया है –

1) सूरदास

अष्टछाप के अन्तर्गत भक्त और कवि के रूप में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। उन्हें बल्लभाचार्य भक्ति का समुद और गोस्वामी विट्ठलनाथ 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा करते थे। इसीलिये इनकी रचना सूरसागर कहलायी। किंतु खेद है कि अपने अन्तःकरण से सहस्त्रों हृदयों तक भक्ति की ज्योति फैलाने वाले इस भक्त कवि का जीवन आज भी तिमिराच्छन्न है। उनका पूर्ण प्रामाणिक और निर्विवाद जीवनवृत्त अब भी प्रकाश में नहीं आ सका । अन्तः साक्ष्य तथा बहिः साक्ष्य के आधार ही उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ–सूत्र हाथ लगते हैं। समकालीन तथा परवर्ती रचनाओं में भक्तकाल चौरसी वैष्णवन की वार्ता, आइने अकबरी, आदि ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें सूर की जीवनी सम्बन्धी कुछ संकेत मिलते हैं। किन्तु इनमें भी सूर के जन्म संवत् जन्म –स्थान, जाति तथा घटनाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त अन्तर मिलता है।

अनुमानतः सूरदास का जन्म संवत् 1483 ई0 के लगभग और मृत्यु 1585 ई0 के लगभग माना जाता है। उनके जन्म–स्थान के विषय में रूनकता और सीही दो ग्रामों का उल्लेख जनश्रुतियों से मिलता है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय उन्हें सारस्वत ब्राहाण मानते हैं वहीं एक दूसरा पक्ष उन्हे भी ब्राहाण मानता है।

रचनायें

सूरदास के ग्रन्थों में 'सूरसागर', 'सूरसारावली', और 'साहित्य लहरी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें अन्तिम दो सूरदास की रचना है या नही, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

व्यक्तित्व एवं वैशिष्ट्य

सौन्दर्य तथा प्रेम को परखने की जैसी अर्न्तदृष्टि सूरदास को प्राप्त थी, वैसे हिन्दी के बिरले ही कवियों को प्राप्त है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अपने सम्पूर्ण जीवन को पुष्टिमार्ग के लिये समर्पित कर देने पर भी उनके काव्य में कहीं साम्प्रदायिकता की गन्ध नहीं है।

सूरदास के समान प्रेम का चित्रकार कोई अन्य कवि नही हुआ। उनके व्यक्तित्व की सबलता तो इसी से स्पष्ट है कि प्रिया–प्रियतम तक ही रति भाव को परिमित न रखकर उन्होंने माता–पुत्र, पिता–पुत्र, सखा–सखी के सम्बन्धों में उसका क्षेत्र विस्तार किया । वात्सल्य और श्रृंगार के लिये जिस मधुरावृत्ति की अपेक्षा होती है, वह सूर में सहज ही प्राप्त है।

सूर ने अपने उपास्य की भाषा ब्रज में काव्य रचना की। उन्होने उसे साहित्यिक गरिमा से सम्पन्न किया। सूर अलंकारवादी नहीं थे किन्तु उनके काव्य में अलंकारों का सहज प्रयोग मिलता है। रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, दृष्टान्त, रूपकातिशयोक्ति आदि उनके प्रिय अलंकार है। दृष्टकूट सम्बन्धी पदों में उनकी क्लिष्ट कल्पना और चमत्कार–प्रदर्शन की भावना के दर्शन अवश्य होते है। समग्रतः सूरदास एक रससिद्ध कवि थे, जिन्होंने जीवन को आनन्दमय बनाने के लिये प्रेम और सौन्दर्य का उदात्तीकरण किया है।

NOTES

2) परमानन्दास

काव्यकला, भावानुभूति और प्रतिभावी दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में सूर के बाद परमानन्ददास का नाम आता है। चौरासी वैष्णव की वार्ता के अनुसार इनका जन्म कन्नौज के एक ब्राह्मण परिवार में संवत् 1550 में हुआ था। ये सूरदास के बाद वात्सल्य रस के सर्वश्रेष्ठ कवि है। परमानन्द सागर, परमानन्द दास जी को पद, दानलीला, उखलीला, ध्रुव चरित्र आदि इनकी कई रचनायें है। भावात्मकता, चित्रमपता और सजीयता इनके प्रमुख गुण है। संवत् 1640 के लगभग इनका गोलोकवास हुआ।

3) कुम्भनदास

इनका जन्म संवत् 1525 के आसपास गोवर्धन के निकट जमुनावती नामक ग्राम में हुआ था। वे बल्लभाचार्य के प्रथम शिष्य थे जिन्हें श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा में लगाया गया उन्होंने अपने को भगवत्सेवा में पूर्णतया समर्पित कर दिया। कहा जाता है कि उनकी भक्ति और त्याग को सुनकर अकबर ने उन्हें फतेहपुर सीकरी बुलाया था। उस समय उन्होंने एक पद सुनाया था, जो बहुत प्रसिद्ध है –

भक्तन को कहा सीकरी सो काम ।

आवत – जात पनहियाँ टूटी विसार गयो । हरि नाम॥

इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। संवत् 1639 इनकी निधन तिथि मानी जाती है।

4) कृष्णदास

अष्टछाप के अन्तर्गत बल्लभाचार्य के चार शिष्यों में कृष्णदास अन्तिम है। इनका जन्म संवत् 1553 वि0 म गुजरात के चिलोतरा नाम गाँव में हुआ था। कृष्णदास के देहावसान के विषय में भी किम्बदन्तियाँ है। 1578 ई0 के आस –पास इनकी मृत्यु मानी जाती है।

कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होने बाललीला, राधाकृष्ण –प्रेम–प्रसंग, रूप–सौन्दर्य आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। इन्होने किसी ग्रन्थ की रचना नही की। इनके लगभग दो सौ अड़तालीस पद अवश्य मिलते है।

5) नन्ददास

अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का स्थान काव्य सौष्ठव तथा प्राजंलत की दृष्टि से सूरदास के बाद माना जाता है। इनका जन्म संवत् 1550 में सूकर खेत के निकट रामपुर नामक गाँव में माना जाता है। ये उच्च कोटि के विद्वान् और शास्त्रज्ञ थे। इनके चौदह ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनमें रसमंजरी, अनेकार्थ मंजरी, रूपमंजरी, रासपंचाध्यायी और भंवर गीत बहुत ही प्रसि) है रसमंजरी नायिका भेद सम्बन्धी गन्थ है। रासपंचाध्यायी में लौकिक और आध्यात्मिक प्रेम का अद्भुत समन्वय मिलता है। नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रन्थ परिमार्जित ब्रज भाषा में है। मधुर और परिचित शब्दों का चयन कवि की विशेषता है। इनकी ब्रजभाषा अत्यन्त प्रौढ़ है। इनका स्वर्गवास संवत् 1643 के आस –पास माना जाता है।

6) चतुर्भुजदास

ये कुम्भदास के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् 1587 में गोवर्धन के निकट जमुनावती नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने दस वर्ष की अल्पायु में ही विट्ठलनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। ये आशु कवि थे और गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये भगवत् आराधना में लगे रहते थे। इनके पदों के तीन संग्रह – चतुर्भुज कीर्तन संग्रह, कीर्तनावली और दानलीला उपलब्ध है। इनकी मृत्यु सम्वत् 1642 में हुई।

7) छीतस्वामी

ये मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके घर में जजमानी और पण्डागिरी होती थी। प्रसि) है कि ये बीरबल के पुरोहित

थे। इनका जन्म सम्वत 1572 में माना जाता है। सम्वत् 1592 में विट्ठलनाथ का दर्शन होने पर इन्होंने शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। छीत स्वामी काव्य और संगीत दोनों में निपुण थे। छीत स्वामी का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। कीर्तन के लिये इन्होंने जो स्फुट पद रचना की वही पदावली के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें लगभग 200 पद संकलित है।

NOTES

8) गोविन्द स्वामी

इनका जन्म सम्वत् 1562 में भरतपुर राज्य के आँवरी नामक ग्राम में सनाढय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। सम्वत् 1592 में ये विट्ठलनाथ के शिष्य हुये। ये अपने समय के सर्वोत्कृष्ट संगीतज्ञ और गान विद्या में निपुण थे। इनकी महिमा सुनकर तानसेन भी इनके दर्शन के लिये आये थे। खोज में इनके लगभग छः सौ पद प्राप्त हुये है। जो विभिन्न रागों और विषयों मे विभक्त है।

6. सार–संक्षेप

भक्तिकाल की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों को देखकर ही विद्वान आलोचकों ने साहित्य रचना के इस काल को स्वर्ण युग और भक्ति काव्य को अमर काव्य माना है। वस्तुतः भक्तिकाल की रचनाओं में कविता के स्वच्छंद रूप के दर्शन होते हैं। इस युग की कविता राज्याश्रित न रहकर स्वातः सुखाय लिखी गई, जो अपनी पवित्र एवं निष्कपट व्यंजना से लोकहिताय सि) हुई। कुंभनदास का' संतन को कहा सीकरी सौं काम' उस युग की काव्यधारा के मुख्य प्रेरणा स्त्रोत पर प्रकाश डालता है।

भक्तिकाल में संत काव्य के कवियों में कबीर, नानक, दादू दयाल, मलूकदास, रैदास, सुन्दरदास, चरणदास, बुल्लेशाह आदि के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं इन कवियों ने जनता में नैतिक बल के विकास के साथ ही संत काव्य देश के कोने –कोने में प्रवाहित किया। सूफी प्रेमाख्यानों का आरंभ ईसा से चौदहवीं शताब्दी में हुआ था। सर्वप्रथम कृति मुल्लादाउद की 'चंद्रायन' 'व' नूरक चंदा' थी द्धइसके अतिरिक्त कुतुबन कृत 'मृगावती', मंझन कृत 'मधुमालती' उस मान कृत –चित्रावली' एवं मलिक मोहम्मद जायसी कृत पद्मावत अधिक प्रसि) है। प्रेम काव्यों में सर्वाधिक ख्याति जायसी कृत पद्मावत को मिली है। रामभक्ति काव्य शाखा में गोस्वामी तुलसीदास का अग्रस्थान है। डॉ. गुप्त के अनुसार रामभक्ति धारा का साहित्यिक महत्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसीदास में अंतर तारागण और चंद्रमा का नहीं तारागण और सूर्य का है।'' तुलसीदास के बाद रामभक्ति धारा और रामकाव्य के प्रमुख कवियों में प्रमुख है – केशवदास केशवदास ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर रामचद्रिका की रचना की। नाभा दास ने 'भक्तमाल' तथा सेनापति ने रामायण वर्णन' एवं रामरसायन वर्णन' राम कथा और राम भक्ति से परिपूर्ण ग्रंथ लिखे। कृष्ण काव्य का सर्वोत्तम रूप 'अष्टछाप' के कवियों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है इनमें प्रमुख है – कृष्ण काव्य धारा के प्रमुख कवि सूरदास । सूरदास जी को 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा जाता है। सूरदास । इन्होंने सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी की रचना की है। वात्सल्य एवं श्रृंगार की दृष्टि से वे हिन्दी के अद्वितीय कवि हैं। वस्तुतः सूरदास कृष्ण काव्य के समाट हैं इनके अतिरिक्त अष्टछाप के प्रमुख कवि एवं उनके ग्रंथ हैं – कृष्णदास का जुगलमान चरित्र', परमानंद दास का 'परमानंद सागर' नंददास का रासपंचाध्यायी और भ्रमर गीत चतुर्भुज दास का 'द्वादश –यश', छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, कुंभनदास अष्ट छाप के अन्य महत्वपूर्ण कवि है। हित हरिवंश मीरा, रसखान, नरोत्तम दास, रहीम आदि अन्य महत्वपूर्ण कृष्ण कवि हैं।

भक्तिकाल मे कवियों ने किन्ही आश्रय दाता राजाओं की प्रशंसा करने के लिए अपनी बु) का चमत्कार न दिखाकर अपनी इच्छानुसार अपने हृदय का रस घोला है। उनकी वाणी निर्मल भक्त हृदय की वाणी है जो बड़ी प्रभावोत्पादक है। इस काव्य में हमें स्वच्छंद कला के दर्शन होते है जो बाहरी प्रलोभनों एवं दबावों से मुक्त है और हृदयगत भाव–प्रवणता की मधुर अभिव्यक्ति करती है। इसीलिए भक्तिकाल में महान कविता की रचना की गई, इन कविताओं के रचियता अमर कवि है और उनकी रचनाओं के आधार पर ही भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण –युग है।

अभ्यास–प्रश्न

1. सगुण भक्ति धारा को स्पष्ट करते हुये बताइये कि इसे कितने भागों में बाँटा गया ?
2. निर्गुण भक्ति धारा को स्पष्ट करते हुये बताइये की इसे कितने भागों में बाँटा गया ?

NOTES

3. भक्तिकाल की भक्तिकाव्य धारा को तालिका बनाकर स्पष्ट कीजिए?
4. भक्तिकाल में कवियों की नाम की महत्ता को स्पष्ट कीजिए?
5. भक्त कवि आंडबर हीन सरल जीवन में विश्वास करते हैं स्पष्ट कीजिए?
6. 'अहंकार का त्याग ही भक्ति का दूसरा नाम है(स्पष्ट कीजिये?
7. भक्तिकाल की गुरू महिमा को बताइये?
8. पाँच सगुण भक्ति काव्य धारा के कवियों के नाम तथा उनकी रचनाओं को बताइये?
9. पाँच निर्गुण भक्ति काव्य धारा के कवियों के नाम तथा उनकी रचनाओं को बताइये?
10. प्रेमाश्रयी शाखा के तीन कवियों का नाम बताते हुए उनकी रचना लिखिए।
11. सगुण भक्ति धारा के अष्टछाप कवियो को स्पष्ट कीजिये।

अध्याय – 8

NOTES

रीतिकाल : प्रमुख कवि एवं उनकी कृतियाँ

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- प्रस्तावना
- रीतिकाल का नामकरण
- रीतिग्रंथों के आधार पर प्रवत्तियों का वर्गीकरण :
- रीतिमुक्त काव्य धारा
- रीति मुक्त धारा के प्रमुख कवि
- भाव पक्ष की दृष्टि से रीतकालीन प्रवृतियों का परिचय
- भक्ति भावना
- नीतिकाव्य
- वीर काव्य (प्रशस्ति काव्य)
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

रीतिकाल में हिन्दी साहित्य ने भाव, भाषा तथा शिल्प विधान संबंधी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ की है। इस काल में कवियों ने अनेक क्षेत्रों में अतिवादी दृष्टिकोण का परिचय भी दिया है। कहीं ज्ञान वैराग्य, भक्ति भावना, तो कहीं घोर भोगवादी श्रृंगारिक मनोवृत्तियाँ, कहीं काव्य शास्त्रीय बनी बनाई लीक पर चलने का आग्रह तो कहीं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का स्वर कल्पना की स्वच्छंद उड़ान, कहीं भावानुभूतियों की प्रौढ़ता, तीव्रता तो कहीं आश्रायदाता विलासी राजाओं की मानसिक चंचलताओं को तुष्टीकरण की प्रवृत्ति आदि के अनेक अतिवादी छोर इस काल की कविता में दिखायी देते है। यही कारण है कि एकांगी दृष्टिकोण से विचार करने वाले समीक्षक वर्ग ने भी इस काल की काव्य प्रगति के संबंध में परस्पर विरोधी मत प्रगट किये हैं। किन्तु विविध पक्षों से दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के रचनाकारों ने तमाम सामंती दबावों के जो अनेक प्रवृत्तियों से सम्पन्न कवि– कर्म किया है वह कलात्मक दृष्टि के साथ भाव पक्ष की दृष्टि से भी अनेक उदात्त तत्वों को समाहित किये है।

3.2 रीतिकाल का नामकरण :–

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल 1650 से 1850 के काल में हिन्दी कविता के क्षेत्र में रीतिग्रंथ या लक्षण ग्रंथों के माध्यम से अधिकांश कविताएँ लिखी गयीं । इनमें श्रृंगार रस संबंधी कविताएँ सबसे अधिक है। अन्य रसों तथा भावों से संबंधित कविताएँ श्रृंगार की तुलना में कम है। हिन्दी साहित्य के सबसे प्रमुख इतिहास लेखक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को रीतिकाल नाम देकर विवेचित किया है। बाद के विद्वानों में यह नाम विवाद का विषय रहा है। मिश्राबंधुओं ने इसे अलंकृत काल की संज्ञा दी जबकि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र श्रृंगार काल नाम देना अधिक उपयुक्त मानते है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को रीतिकाल इसलिए कहा था क्यों कि इस काल में रीति ग्रंथ या लक्षण ग्रंथों के माध्यम से कविता लिखने की प्रवृत्ति प्रमुख थी । अतः इस प्रधान प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण करने की दृष्टि से उन्होने यह नाम दिया। मिश्रा बंधुओं का तर्क यह था कि रीति ग्रंथों में भी चूंकि अलंकार ग्रंथ अधिक लिखे गए तथा अन्य रीतिग्रंथो में भी कविता को अलंकृत करने की प्रवृत्ति अधिक अपनायी गयी इस लिये अलंकृत काल नाम अधिक उपयुक्त है। आधुनिक विद्वान डॉ. नगेन्द्र का मत है कि इस युग की कविता के लिए अलंकृत विशेषण अधिक उपयुक्त नहीं क्यों कि इस युग में कविता को अलंकृत करने की प्रवृत्ति प्रमुख नहीं थी बल्कि काव्य के अन्य अंग रस, छंद, गुण, दोष भाव आदि को भी उचित स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त सबसे प्रधान रस को मानकर उस पर बल दिया गया है।

आचार्य विश्वनाथ मिश्रा का कथन है कि साहित्य इतिहास के किसी युग का नामकरण भावगत प्रवृत्ति की । प्रधानता के आधार पर होना चाहिए। जैसे पूर्वमध्यकाल में भक्ति भावना की प्रधानता साहित्य लेखन में थी अतः उसे भक्तिकाल नाम दिया गया। इसी प्रकार उत्तर मध्यकाल में श्रृंगार रस निरूपण की प्रवृत्ति प्रधान है अतः इसे श्रृंगार काल नाम दिया जाना अधिक ठीक है। डॉ. नगेन्द्र का मत है कि इस काल की कविता की प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगार रस नहीं है।

वे कहते हैं कि यद्यपि इस युग में अधिकांश रचनाएँ श्रृंगारिक ही है परन्तु वे उनके रचनाकारों की वास्तविक श्रृंगार परक अनुभूतियों पर आधारित नहीं है। उनमें तो आश्रायदाता विलासी राजाओं को प्रसन्न करने के लिये श्रृंगारिक प्रसंगों पर काल्पनिक या कृत्रिम मनः स्थितियों का वर्णन किया गया है। इनके रचनाकार भी इस प्रकार के रचनाकर्म से भीतर ही भीतर असंतुष्ट रहते थे। मतिराम, भिखारीदास ने तो अपनी उक्तियों में यह भी कहा है कि इस प्रकार की श्रृंगारिक उक्तियाँ वास्तविक काव्य नहीं है। गोप, रसरूप, सेवा दास ने तो अपने लक्षण ग्रंथों में इस प्रकार के श्रृंगार का वहिष्कार करने का फैसला भी प्रगट किया है।

रीतिकाल नाम के समर्थन में डॉ. नगेन्द्र ने एक प्रबल तर्क यह भी प्रस्तुत किया है कि वस्तुतः रीतिग्रंथ लेखन या काव्यांग चर्या में इस युग के कवि आचार्य उसी प्रकार आत्मविभोरता तथा गौरव का अनुभव करते थे जिस प्रकार

भक्तिकाल के कवि ब्रह्म विषयक ज्ञान और चर्चा में डूबकर कल्याण और आत्म गौरव का अनुभव करते थे। विद्वानों के उक्त मतों, रीतिकाल नाम का प्रचलन एवं उसकी काव्य सामग्री के समग्र अवलोकन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नाम बदलने की आवश्यकता नहीं है क्यों कि रीतिकाल शब्द से ध्वनित अर्थ में उस काल के अधिकांश कवि और काव्य प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। जो लोग रीतिग्रंथ के आधार पर स्वरचित उदाहरण देकर काव्य रचनाएँ प्रस्तुत करते थे उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ का बोध तो होता ही है बिहारी जैसे कवियों ने जिन्होंने रीतिग्रंथ तो नहीं लिखे किन्तु रीतिग्रंथों के नियमों को आत्मसात (सिद्ध) कर वांछित विषयों पर रचनाएँ की उनकी रूचि या प्रवृत्ति का समाहार भी रीतिकाल नाम में हो जाता है। इसी प्रकार रीतिमुक्त धारा के कवियों के काव्य शिल्प को देखने पर स्पष्ट होता है कि रीति ग्रंथ लिखने अथवा रीति के नियमों की अनिवार्यता को अस्वीकृत कर स्वच्छंद स्वानुभूतिपरक कविता लिखने पर भी इनकी रचनाएँ रीतिग्रंथों के निर्देशों पर इनके अधिकार की सूचना देती है। अतः रीतिकाल नाम ही स्वीकार्य हैं।

3.3 रीतिग्रंथों के आधार पर प्रवत्तियों का वर्गीकरण :

रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों को रीतिग्रंथ या लक्षण ग्रंथों के माध्यम से रचनाकर्म करने के आधार पर तीन धाराओं में वर्गीकृत किया गया है।

(1) रीति बद्ध काव्य धारा

(2) रीति सिद्ध काव्य धारा

(3) रीति मुक्त काव्य धारा

(1) रीतिबद्ध काव्य धारा :–

रीतिबद्ध काव्य धारा उत्तर मध्यकालीन काव्य की उस प्रमुख काव्य धारा को कहा जाता है जिसके नायक नायिका भेद, गुण–दोष, शब्द शक्ति आदि का परिचय देने के लिये रीतिग्रंथ या लक्षण ग्रंथ लिखे। इन्हीं लक्षण ग्रंथों में प्रतिपाद्य काव्य अंग का स्वरूप और लक्षण दर्शाने के लिये आचार्य कवियों ने उदाहरण स्वरूप जो कविता लिखी उसे रीतिबद्ध कविता कहा जाता है। इन ग्रंथों का संस्कृत में लिखे लक्षण ग्रंथों से मुख्य अंतर यह है कि काव्यांगों के लक्षणों का निरूपण तो संस्कृत के आचार्यों की तरह है, बल्कि बहुत कुछ उन्हीं ग्रंथों से लिया गया है। किन्तु कविता के उदाहरण संस्कृत के लक्षण ग्रंथों में दूसरे कवियों के हैं जबकि रीतिकालीन कवियों के लक्षण ग्रंथों में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कविता उन्हीं के द्वारा रचित है। आचार्य केशवदास, आचार्य देव, आचार्य भिखारीदास, आचार्य पद्माकर चिन्तामणि मिश्रा इस धारा के प्रमुख आचार्य कवि है।

रीतिबद्ध काव्य धारा को निम्नांकित उपवर्गों में विभाजित किया गया है। सर्वांग निरूपक आचार्य कवि इन कवियों ने काव्य लक्षण, काव्य के हेतु काव्य के प्रयोजन काव्य भेद काव्य की आत्मा, शब्द शक्ति, गुण दोष, अलंकार आदि समस्त अंगों का विवेचन अपने ग्रंथों में किया है। चिंतामणि, कुलपति, सूरति मिश्रा, श्रीपति, देव आदि ऐसे कवि हैं जिन्होने किसी एक ग्रंथ के माध्यम से अथवा अनेक ग्रंथों के माध्यम से काव्य के उपरोक्त सभी अंगो का निरूपण किया है। इस सर्वांग निरूपक आचार्य कवियों ने अपने पूर्व के आचार्यों द्वारा लिखित ग्रंथों का उपयोग किया है। यह उच्च कोटि के चिंतक और मौलिक प्रतिभा के धनी थे। इनमें सहृदयता तथा कल्पना शक्ति कूट कूट का भरी थी। इनमें से अधिकांश ने काव्य की आत्मा रस, ध्वनि अथवा रस–ध्वनि को माना है। यह समालोचक बुद्धि के भी थे। तथा इन्होने अपने समय के अन्य काव्य सिद्धांतकरों द्वारा प्रतिपादित मतों की विवेचना करते हुये मौलिक उद्भावनायें की हैं। इस धारा के प्रमुख कवि निम्न हैं।

आचार्य चिंतामणि :–

आचार्य चिंतामणि इस वर्ग के कवियों में आचार्य चिंतामणी का स्थान सबसे ऊँचा है। ये तिक्वांपुर में रहते थे। और शाह जी भौंसला तथा दारा शिकोह के दरबारी कवि रह चुके थे। चिन्तामणि के विवेचन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि काव्य के सभी अंग का परिचय देने के पूर्व यह विषय के आधार ग्रंथों में दिये गये लक्षणों की परख करते थे। उनमें जो सबसे सशक्त लक्षण उन्हें लगता था आवश्यकतानुसार उसमें स्वयं का चिंतन जोड़कर उसका निरूपण करते थे। सामान्यत: इनके ग्रंथों में संस्कृत ग्रंथो के ही प्रतिपादन को बृजभाषा में प्रस्तुत किया गया है। विषय को समझाने के लिये यदाकदा ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग भी इन्होने किया है, कवित्व की दृष्टि से चिन्तामणि की प्रतिभा ने इस धारा के काव्य को प्रतिष्ठा दिलाई है। इनकी कविताओं में रसात्मकता लाने का गंभीर प्रयास किया गया है। सीधी सरल शब्दाबली में सच्ची अनुभूति के प्रगट होने से रीतिबद्ध होते हुये भी कविता हृदय को छूति है। इन्होने बृज भाषा के अत्यंत नागर रूप का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। इसीलिये इनकी रचनाओं में छंदों में निवद्ध तथा अलंकारों से सज्जित भाव शिल्प देखने को मिलता है। रस विलास, छंद विकार पिंगल, श्रृंगार मंजरि, कवि कुल कल्पतरू, कृष्णचरित्र, रामायण आदि इनके द्वारा रचित ग्रंथ माने गये हैं। किन्तु आज पांच ग्रंथ ही उपलब्ध हैं। यद्यपि चिंतामणी ने श्रृंगार, वीर, वात्सल्य, राजभक्ति तथा ईश्वर भक्ति से संबंधित भावनाओं का प्रकाशन अपने काव्य में किया है। लेकिन मुख्य रूप से ये श्रृंगार के कवि ही माने जाते हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण यहां दिया जा रहा है।

अवलोकनि में पलकें न लगें, पलकौ अवलोक बिना ललकें
पति के परिपूरण प्रेम पगी, मन और सुभाव लगै न लकें
तियकी बिहसौं ही बिलोकनि में मनि आनंद आंखन यों झलकें
रसवंत कवित्तन को रस ज्यों अखसन के ऊपर ह्वै छलकें

आचार्य कुलपति मिश्रा

आचार्य कुलपति मिश्रा का नाम सर्वांग निरूपक रीतिबद्ध कवियों मे द्वितीय स्थान पर लिया जाता है। ये आगरा के रहने वाले थे इनकी प्रसिद्धि सुनकर जयपुर के महाराज रामसिंह ने इन्हें अपने दरबार में आश्राय दिया था । रस रहस्य, श्रृंगार सार, दुर्गा भक्ति संग्रह इनके प्रमुख ग्रंथ हैं। इन्होने भी संस्कृत एवं हिन्दी के पूर्वाचार्यों के ग्रंथों के आधार पर अपने ग्रंथों में काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुण दोष आदि का विवेचन किया है। इन्होने पूर्वाचार्यो के मतों मे समन्वय करने का प्रयास भी किया है। संबंधित विषयों के उदाहरण देने के लिये स्वरचित पद्य लेखन कर काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। इनके ग्रंथों में चिंतन तथा विवेचन शैली की गंभीरता लक्षित होती है। पूर्ववर्ती अचार्यो के द्वारा दिये गये लक्षणों की विवेचना करते हुये इन्होने स्वयं का मत प्रबलता से रखा है। इसीलिये यह पिष्ट पेषण से बच गये हैं। इन्होने विषय को स्पष्ट करने के लिये बृज भाषा गद्य का प्रयोग यथा स्थान किया है। इनकी कविता में यद्यपि बृज भाषा के व्याकरण सम्मत स्वच्छ रूप का प्रयोग हुआ है, तथापि अनुभूति की तीव्रता की कमी इनके काव्य में खटकती है।

कुमार मणि :–

इनका जन्म 1665 में हुआ था । रसिक रंजन, रसिक रसाल इनके प्रसिद्ध रीतिग्रंथ हैं। इन्होने विषय का प्रतिपादन संस्कृत के काव्य प्रकाश ग्रंथ को आधार बनाकर किया है। इनकी शैली में गंभीरता और प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। स्वरचित उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कविता रस युक्त होने के कारण इन्हें श्रेष्ठ कवि की प्रतिष्ठा दिलाती है। इनके दो ग्रंथ मिलते हैं। 'रसिक रंजन', 'रसिक रसाल' ग्रंथ में काव्य के लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य के भेद, शब्द शक्ति, ध्वनि, रस, नायिका भेद आदि सभी काव्यांगों का निरूपण किया गया है। इसका आधार यद्यपि संस्कृत का 'काव्य प्रकाश ग्रंथ' है, तो भी यह काव्य प्रकाश के लेखक के विचारों से स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करते

भी दिखाई देते हैं। नायिका भेद विवेचन में इन्होने श्रृंगार मंजरी से सहायता ली है। इनकी विवेचन शैली स्पष्ट और सरलता लिये है। इनकी कविता में भावुकता कल्पना प्रवणता तथा सुबोधता के गुण विद्यमान हैं।

आचार्य देव :–

इनका जन्म उत्तर प्रदेश के इटावा जिले में हुआ था। ये जीवनकाल में ही प्रसिद्धि के ऊँचे स्तर पर पहुँच गये थे। इन्हें अनेक राजा रईसों ने अपने दरवार में आश्राय दिया था। इनके द्वारा रचित ग्रंथ 15 उपलब्ध हैं। यद्यपि इनकी संख्या 72 बतायी जाती है। प्रेमचन्द्रिका में श्रृंगार के उदात्त रूप का वर्णन है। देवशतक में आध्यात्मिक चेतना इन्हें श्रेष्ठ भक्त कवि सिद्ध करती है। देवचरित कृष्ण के जीवन वृत्त पर आधारित प्रबंध काव्य है। भाव विलास में विभिन्न रसों के निरूपण के साथ श्रृंगार के विविध अंगों का विस्तार से वर्णन स्वरचित कविताओं के उदाहरणों के साथ किया गया है। इन्होंने भी काव्य लक्षणों के निरूपण में संस्कृत के काव्य शास्त्रों का प्रत्यक्ष आधार लिया है। देव के रीति निरूपण में सरलता और संक्षिप्तता है। कविता के सरस उदाहरण प्रस्तुत करने में आचार्य देव की प्रतिभा विलक्षण दिखाई देती है। भेद उपभेद का दिग्दर्शन करने में इन्होने मौलिकता का परिचय दिया है। करूण, वीभत्स और शांत रसों के भेदो की कल्पना तथा नवीन छंदों का निर्माण इन्हें विशिष्ट आचार्य का सम्मान दिलाता है। देव की कविता इस धारा के कवियों में विशेष आकृषक लगती है। आध्यामिक चिंतन का तत्व इनकी कविताओं में जुड़ गया है। यद्यपि इन्होने भी मुख्य रूप से श्रृंगार रस प्रधान कविताओं के सृजन में रूचि ली है। इनकी श्रृंगार परक रचनाओं में अनुभूति की तन्मयता दिखाई देती है। कल्पना की ऊँची उड़ान मनमोहक दिम्ब योजना इनके काव्य की अन्य विशेषताएँ हैं। रूप वर्णन आंतरिक भावनाओं की सूचक, चेष्टाओं का वर्णन तथा संयोग श्रृंगार के मनोभावों को मूर्त रूप मे प्रगट करने में देव को बहुत सफलता मिली है। भावानुकूल शब्द योजना, लय का निर्वाह आदि गुण भी देव के काव्य को आकर्षक बनातें हैं।

आचार्य भिखारीदास :–

सर्वांग निरूपक आचार्य कवियों में भिखारीदास अत्यंत महत्वपूर्ण कवि और आचार्य माने गए हैं । ये प्रतापगढ़ के राजा के दरबारी कवि थे । इनके द्वारा रचित ग्रंथ 7 हैं। 'रस सारांश' 'काव्य निर्णय', 'श्रृंगार निर्णय' इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रस सारांश में रस की सामग्री और उनके भेदों का वर्णन भानुमिश्रा की 'रस मंजरी' और 'रस तरंगिणी' के आधार पर किया गया है। नायक नायिका भेदों को समझाने के लिये इन्होंने रूद्रभट्ट के श्रृंगार तिलक तथा केशवदास चिंतामणि एवं तोष के ग्रंथों की मदद ली है। इनके ग्रंथों में काव्य के अन्य अंगों सहित काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य पुरूष स्वरूप, ध्वनि, अलंकार आदि का गंभीरता पूर्वक विवेचन उपलब्ध होता है। रीति निरूपण के क्षेत्र में आचार्य भिखारीदास ने भी चिंतक तथा समालोचक दृष्टि का परिचय दिया है। भिखारीदास के ग्रंथ आधुनिक काव्य चिंतकों के ध्यान को इसीलिये सबसे ज्यादा खींचते हैं क्योंकि, संस्कृत काव्य शास्त्र का सम्यक विवेचन और प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप सटीक स्वरचित कविता प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता इनमें दिखाई देती है। चूंकि भिखारीदास रसवाद के प्रबल समर्थक थे अतः रचनाकर्म में रस की सृष्टि कराने वाली कविताएँ आपने प्रस्तुत की । सरल, सीधे विम्बों द्वारा उक्ति में ध्वन्यात्मकता का संचार करने में भिखारीदास को पूर्ण सफलता मिली है। इनकी कविताओं में व्याकरण सम्मत, शिष्ट ब्रज भाषा का प्रयोग हुआ है। अवसर पड़ने पर भिखारीदास ने अरबी–फारसी की प्रचलित शब्दावली का प्रयोग भी बेहिचक किया है।

रसिक गोबिन्द –

ये खण्डेलवाल वैश्य परिवार में जन्में भक्त थे। हरिव्यासी समप्रदाय की गद्दी इन्हें दी गई थी। इनके रचे 10 ग्रंथ बताये जाते हैं। इनमें 8 उपलब्ध हैं। इनमें गोबिन्दानंद घन और पिंगल रीतिग्रंथ हैं। शेष ग्रंथ भक्ति तथा धार्मिक नीति विषयक उपदशों से संबंधित हैं। गोबिन्दानंद घन ग्रंथ विशालकाय ग्रंथ है। यह 4 प्रबंधों में विभाजित है। प्रथम प्रबंध में रस लक्षण, उसके भेद प्रभेद, रस के साधन, विभाव अनुभाव, संचारी भाव के लक्षण और उदाहरण (स्वरचित कविताओं के) हैं। द्वितीय प्रबंध में नायक–नायिका भेद और उनके क्रिया कलाप वर्णित हैं। तृतीय में दोष

लक्षण, दोषों के प्रकार, काव्य दोषों के समाधान का वर्णन है। चतुर्थ प्रबंध में गुणों, वृत्तियों, अलंकारों के भेद और उनसे संबंधित स्वरचित कविताएँ हैं। इस ग्रंथ में काव्य शास्त्रीय विषयों का निरूपण संस्कृत के आचार्यों तथा बृज भाषा के नीति निरूपक आचार्यों के ग्रंथों से सहायता लेकर किया गया है। इसमें अपनी कविताओं के साथ–साथ अन्य कवियों की कवितायें भी उदाहरण के रूप में दी गई हैं।

ग्वाल कवि :–

यह रीतिकाल के श्रेष्ठ आचार्य एवं कवित्त गुण सम्पन्न लक्षण ग्रंथ निर्माता थे। इनके द्वारा लिखित ग्रंथ 16 बताये जाते हैं। इन्होने दो प्रबंध काव्य, 'हम्मीर हठ' और 'विजय विनोद' भी रचे हैं। छः लक्षण ग्रंथों में काव्य के सभी अंगो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। शेष मुक्तक रचनायें हैं। इनमें 'भक्त भावन' नाम का ग्रंथ विशेष महत्व रखता है। इसमें भक्ति, श्रृंगार, शांतरस और नीति परक अनुभवों को वाणी दी गई है। नीति निरूपण की दृष्टि से साहित्यानंद, महत्वपूर्ण कृति है। इसमें काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, ध्वनि, अलंकार, रसदोष आदि सभी काव्यांगों का विस्तार से वर्णन है। ज्ञान और काव्य प्रतिभा दोनों का परिचय इस ग्रंथ से मिलता है। लक्षण प्रायः दोहों में दिये गये हैं और उदाहरण विभिन्न छंदों में प्रस्तुत हैं। आवश्यकता पड़ने पर बृज भाषा गद्य के माध्यम से पद्य में कही बात का स्पष्टीकरण भी किया गया है। ग्वाल के रीति निरूपण की विशेषता यह है कि वे आधार ग्रंथ के लक्षण देकर अन्य आचार्यों के मत भी उनके बारे में उधृत करते हैं। तत्पश्चात अपनी विवेकपूर्ण टिप्पणियाँ देते चलते हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों से भिन्न दृष्टिकोण प्रकट करने का साहस और नाना मतों में समन्वय स्थापित करने की क्षमता ग्वाल कवि की रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। इनकी कविताओं में ओज और चमत्कार पर विशेष ध्यान दिया गया है। इन्होने भी ब्रज भाषा की कविता में संस्कृत, अरबी, फारसी और पंजाबी के प्रचलित शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है।

रस निरूपक रीतिबद्ध काव्य धारा :–

इस धारा के कवियों ने विभिन्न रसों का निरूपण करते हुए श्रृंगार का विस्तार तथा नायक – नायिका भेदों का वर्णन किया है। तोष, रसलीन, पद्माकर, मतिराम, वेणी प्रवीण इस धारा के कवियों में प्रमुख है। अधिकांश रचनाओं में अन्य रसों का वर्णन औपचारिक रूप से किया है और श्रृंगार रस के निरूपण में विशेष रूचि दर्शायी है। इसके दो कारण हैं एक तो ये लोग श्रृंगार को रसराज मानते थे इसलिए सर्वोपरि महत्व देते थे। दूसरा कारण यह है कि आश्रायदाता राजा दो बातों में विशेष प्रसन्न होते थे। एक तो अपनी प्रशंसा परक काव्योंक्तियों सुनकर दूसरे श्रृंगार उत्तेजक नायक नायिकाओं के आंगिक सौन्दर्य तथा हाव–भावों के वर्णन सुनकर । इसीलिए आश्रायदाता राजाओं को प्रसन्न करने के लिये राज प्रशस्ति तथा श्रृंगार वर्णन इनके ग्रंथों में अधिक है। इस धारा के प्रमुख कवि निम्न है।

तोषः

तोष का नाम रस निरूपक रीतिबद्ध काव्य धारा में सर्वोपरि माना गया है। 'सुधानिधि' 'नख शिख' और 'विनय शतक' तीन ग्रंथ इनके द्वारा रचित कहे जाते हैं, परन्तु केवल सुधा निधि ही उपलब्ध है, सुधा निधि ग्रंथ में नौ रसों का वर्णन विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के साथ किया गया है। विभाव के अंतर्गत नायक नायिका भेद उनके लक्षण, उदाहरण, उद्दीपन विभाव के अंतर्गत नायक नायिकाओं के वर्ण व्यवसाय दूतियों के प्रकार श्रृंगार की अवस्थाएँ विप्रलंभ की दशाएँ आदि का सूक्ष्म निरूपण इस ग्रंथ में मिलता है। लक्षणों एवं उदाहरणों के लिये कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा का प्रयोग विषय निरूपण की अनुकूलता के अनुसार किया गया है। विवेचन में पूर्वाचार्यों के लक्षणों का आधार लिया गया है। किन्तु मौलिकता का पर्याप्त समावेश इन्होने किया है। नायक नायिका भेदों में अनेक की तो नूतन उद्भावनाएँ उन्होने की हैं।

कल्पना की ऊँची उड़ान, नूतन विम्ब योजना, अर्था अंलकारों के द्वारा भावों की व्यंजना कराने में इन्हें पूरी सफलता मिली है। इसीलिये काव्य पाठक इनकी कविता को आनंद प्रद मानता है।

अलंकार निरूपक रीतिबद्ध काव्य धारा :–

इस धारा के कवियों में जसवंतसिंह का नाम प्रमुख है। ये मारवाड़ नरेश राजसिंह के पुत्र थे। अनेक कवि और पंडित इनके आश्राय में रहते थे । इन्होने 'भाषा भूषण' नामक अलंकार ग्रंथ लिखा। यह 212 दोहों का ग्रंथ है जिसमें अलंकारों के लक्षण दर्शाने के लिये कुवलयानंद नामक ग्रंथ का आश्राय लिया गया है और स्वरचित उदाहरणों द्वारा निजी काव्य कला का प्रस्तुतीकरण किया गया है। बाद के लोगों ने अलंकारों के विवेचन में इसी ग्रंथ से अधिक सहायता ली है।

मतिराम :–

अलंकार निरूपक रीतिबद्ध कवियों में मतिराम, एक प्रतिष्ठित आचार्य कवि माने गए है । 'ललित ललाम' 'अलंकार पंचशिका' इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इनके ग्रंथों में अलंकारों को रस का साधक मानकर रस प्रधान कविता के स्वरचित उदाहरण दिये गये हैं। ये शब्दालंकारों की तुलना में अर्थालंकारों को अधिक महत्व देते थे।

भूषण :–

रीतिबद्ध अलंकार निरूपक काव्य धारा में भूषण का स्थान विशिष्ट है। ये वीर रस के कवि के रूप में न केवल रीतिकाल के श्रोष्ठ कवि माने जाते है, बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में भी प्रमुख माने गए है । संयोग से इन्हें ऐसे वीर पुरूषों का आश्राय प्राप्त हुआ जिनका जीवन वीरोचित गुणों से सम्पन्न था। इसलिये भूषण को चाटुकारिता वश आश्रायदाता राजा की झूठी प्रशंसा नहीं करना पड़ी । इनके आश्राय दाता छत्रपति शिवाजी तथा महाराज छत्र साल थे जिन्होने अपने उच्च आदर्शो के कारण कवि के ह्रदय में सच्ची श्रृद्धा भक्ति जागृत की थी । यही कारण है कि अलंकार निरूपक रीतिवद्ध होते हुए भी भूषण की कविता ह्रदय से निकली सच्ची एवं तीव्र अनुभूति को ओजमयी वाणी देती है। भूषण वीर रस एवं राज भक्ति के श्रोष्ठ कवि माने जाते हैं। 'शिवराज भूषण' 'शिवा बावनी', 'छत्रसाल' दशक इनके प्रसिद्ध वीर रसात्मक ग्रंथ है।

पदमाकर :–

अलंकार निरूपक होते हुये भी सरस काव्य लेखन की प्रतिभा दर्शाने वाले कवियों में पद्माकर भी उच्च कोटि के रस प्रधान कवि माने गये हैं। इन्होने पद्माभरण ग्रंथ में 100 मुख्य अलंकारों के लक्षण बतलायें हैं और उनका समावेश स्वरचित कविताओं में करके उन्हें स्पष्ट किया है। काव्यात्मक उत्कृष्टता की दृष्टि से पद्माकर रीतकाल के श्रोष्ठ प्रतिभा सम्पन्न कवि माने जाते हैं। अलंकार निरूपक रीतिबद्ध काव्य धारा में रघुनाथ, दुलह, गिरधर दास, के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

छंद निरूपक रीतिबद्ध काव्य धारा :–

इस धारा के आचार्य कवियों ने छंद संबंधी लक्षणों का निरूपण करके उन्हें स्वरचित कविताओं के उदाहरणों से ह्रदयंगम कराने का प्रयत्न किया है। मुरलीधर भूषण, सुखदेव, रामसहाय के नाम, इस वर्ग में प्रमुख हैं। इस धारा के कवियों में सबसे प्रौढ़ आचार्य रामसहाय माने जाते हैं। 'श्रृंगार सतसई', वाणी भूषण दो ग्रंथ इनके उपलब्ध हैं, यह काशी नरेश उदितनारायण के दरबार में आश्राय प्राप्त थे ।

2. रीतिसिद्ध काव्य धारा :–

रीतिसिद्ध काव्य धारा से आशय उन कवियों के काव्य से है जिन्होने लक्षण ग्रंथ या रीतिग्रंथ तो नही लिखे, किन्तु उन लक्षणों को प्रधानता देकर उन्हीं के आधार पर काव्य लेखन किया है। चूंकि रीतिबद्ध आचार्य कवियों की भांति इन्हें लक्षण के अनुसार तत्काल उदाहरण प्रस्तुत करने की मजबूरी नहीं थी । अतः उनकी अपेक्षा रीतिसिद्ध धारा के कवियों को स्वानुभूति व कल्पना की स्वच्छंद उड़ान के अवसर अधिक मिले हैं। 'बिहारी' 'नृपशंभू' सेनापति, बेनी, कृष्ण कवि, रस निधि तथा नेवाज इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

बिहारी :–

रीतिसिद्ध काव्य धारा में बिहारी को जो प्रसिद्धि मिली है वह बहुत कम लोगों को प्राप्त हो पाती है। बिहारी जयपुर नरेश राजा जयसिंह के आमेर दरबार में राजकवि के रूप में प्रतिष्ठित थे। कहा जाता है कि राजा, इनके प्रत्येक दोहे पर प्रसन्न होकर सोने की एक अश्रफी भेंट किया करता था। इनकी ख्याति "बिहारी सत्सई" ग्रंथ के कारण है। इसमें श्रृंगार संबंधी दोहे अधिक हैं । भक्ति नीति प्रकृति चित्रण तथा राज प्रशस्ति विषयक अनेक उक्तियाँ भी दोहें के माध्यम से प्रस्तुत की गई हैं। इनमें से अनेक दोहे हिन्दी साहित्य की अमूल्य सम्पदा माने जाते हैं। कुछ दोहों में उक्ति वैचित्र्य तथा शब्द चमत्कार ही प्रमुख है। बृजभाषा का प्रौढ़तम रूप बिहारी की रचनाओं में देखने को मिलता है। रस, छंद, अलंकार आदि सभी में बिहारी की निपुर्णता दिखाई देती है। मुक्तक परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है।

सेनापति :–

बिहारी के पश्चात रीतिसिद्ध धारा के कवियों में सेनापति प्रमुख माने जाते हैं। इनका रितु वर्णन इतना आकर्षक है कि ये सम्पूर्ण मध्यकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण की दृष्टि से प्रमुख कवि माने गये है। ये गंगा के किनारे अनूप वस्ती में रहते थे। इन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान था जो इनकी कृतियों में झलकता है। कुछ लोग इन्हें नागेश भट्ट का पर्याय मानते हैं। किन्तु नागेश भट्ट के सेनापति उपनाम के संबंध में कोई प्रमाण नही मिलता। इनकी प्रसिद्धि का आधार 'कवित्त रत्नाकर ग्रंथ' है। इसमें पांच तरंगे एवं 394 छंद हैं। इसमें श्लेष अलंकार, श्रृंगार, षडऋतु, रामायण और रामरसायन का वर्णन है। प्रथम तीन तरंगो को देखकर स्पष्ट होता है कि, कवि ने रीति परम्परा को अच्छी तरह आत्म सात किया है और उसी के ढ़ाँचे में बंधकर कविताओं का प्रणयन किया है। इनका सर्वाधिक प्रिय अलंकार श्लेष है। अतः पूरी की पूरी तरंग श्लेष अलंकार का चमत्कार दिखाने के लिये लिखी गई है। कवित्त रत्नाकर की दूसरी तरंग में सेनापति कवि ने श्रृंगार रस प्रधान कविताएँ नख–शिख वर्णन, परम्परा, उद्दीपन, वय–संधि का मनमोहन वर्णन परम्परा के ढ़ांचे में प्रस्तुत किया गया है। शब्द और अर्थ के चमत्कार प्रदर्शन के प्रति जागरूक होते हुये भी सेनापति के काव्य में भावों को जगाने की तीव्र शक्ति विद्यमान है। ऋतु वर्णन में उन्हें विलक्षण सफलता मिली है। प्रकृति के सहज यर्थात रूप में समाहित सुंदरता का चित्रांकन करने और उसे अलंकार युक्त शब्द योजना में प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता का परिचय सेनापति ने दिया है। चौथी और पांचवी तरंगों में राम का चरित्र एवं भक्त की भावनाओं को सुंदर शब्दों में प्रगट किया गया है। ब्रज भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। इसलिये उक्ति वैचित्र्य, चमत्कार, तथा मायुर्धगुण का संचार होता गया और भावोद्दीपता की क्षति भी नही हुई है। उपरोक्त काव्य साधनों के बल पर सेनापति को रीतिसिद्ध धारा के प्रतिनिधि कवियों में स्थान प्राप्त है।

बृंद कवि :–

रीतिसिद्ध धारा के उल्लेखनीय कवियों में बृंद कवि की गणना की जाती है। ओरंगजेब द्वारा समस्या पूर्ति हेतु दी गई पंक्ति के आधार पर इन्होने जो पंक्तियाँ लिखकर दी उससे प्रसन्न होकर इन्हें धन और यश मिला। 'बारहमासा' 'पवन पच्चीस' 'भाव पंचाशिका' 'श्रृंगार शिक्षा' इनके प्रमुख ग्रंथ हैं। इनमें श्रृंगार नीति एवं भक्ति का प्रभावी वर्णन किया गया है।

नृपशंभु :–

रीतिसिद्ध धारा के कवियों में नृपशंभु भी महत्वपूर्ण माने गये हैं। इनकी तीन प्रतियाँ प्राप्त होती हैं 'नायिका भेद' 'नखशिख' और 'सात शतक' । मूलतः मारठी होते हुये भी इनका बृजभाषा पर पूर्ण अधिकार था इनकी रचनाओं में भावों को उदिप्त करने की शक्ति पाई जाती है। नेवाज श्रीकृष्ण तथा हठीजी के काव्य में कृष्ण भक्ति श्रृंगार, और नीति परक उक्तियाँ मिलती हैं। ये भी रीतिसिद्ध धारा के समर्थ कवि माने जाते हैं।

3. रीतिमुक्त काव्य धारा :–

NOTES

इस धारा के अंतर्गत उन कवियों की काव्य साधना मानी जाती है जिन्होने न तो रीतिग्रंथ लिखे और न ही ना ही रीतिसिद्ध धारा के कवियों की भांति रीतिग्रंथों के लक्षणों की अनिवार्यिता को स्वीकार किया। इस धारा के कवियों ने अपनी तीव्र भावात्मक अनुभूतियों को प्रगट करने के लिये अनेक स्थलों पर रीति के बंधनों को तोड़ा है। इसलिये यह रीतिकालीन स्वच्छंद धारा के कवि भी कहे जाते हैं। इस धारा के कवियों में ठाकुर आलम, बोधा और घनानंद को प्रमुख माना गया है। यह कवि विद्वान होने के साथ साथ अपनी तीव्र काव्यानुभूति के प्रति ईमानदार थे। केवल अभ्यास के बल पर काव्योक्तियाँ गढ़ने अथवा पूर्व के कवियों के काव्यादर्शो के पुनरावृत्ति करने का इन्होने विरोध भी अनेक स्थलों पर किया है। इन्होने अपने नये काव्य आर्दशों के समर्थन में प्रबल तर्क दिये हैं । इन कवियों का लक्ष्य भावनाओं को उन्मुक्त ढंग से प्रगट करना रहा है। घनानंद और आलम के काव्य में इसीलिये भावनाओं के पर्त के पर्त क्रमशः खुलते जाते हैं और पाठक उस भाव लोक में खो सा जाता है। इस धारा के कवियों ने आत्म निवेदन शैली में अपने प्रेम उद्‌गारों को प्रगट किया है। यद्यपि भक्ति कालीन कवियों ने भी भक्ति भावना को अनेक स्थलों पर आत्म निवेदन शैली में वाणी दी है किन्तु उनका आत्म निवेदन आलौकिक विषयों तक ही सीमित है। लौकिक प्रेमानुभूति का आत्म निवेदन शैली में प्रकाशन रीतिमुक्त धारा की नवीन देन कही जा सकती है। रीतिमुक्त धारा के कवियों की श्रृंगार रस संबंधी उक्तियाँ विरह प्रधान है। चूंकि तत्कालीन समाज में विवाहेतर प्रेम की स्वतंत्रता नही थी अतः प्रणय भावनाओं का अधिकांश समापन विरह दशा में होता था। रीति मुक्त धारा के कवियों ने शब्दगत चमत्कारों में रूचि न लेकर भाव व्यंजक अर्थालंकारों का प्रयोग अधिक किया है। इसीलिये इनके काव्य में स्वाभाविकता अधिक है। रीतिमुक्त धारा के कवियों ने जिस प्रेम भावना को कविता में प्रगट किया है वह तीव्र होते हुये भी भोग वासना के उदात्तिकरण से युक्त है। यही कारण है कि, रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध कवियों की मांसल श्रृंगार उक्तियाँ जहां कई जगह अश्लील हो गई हैं वहीं रीतिमुक्त धारा के कवियों की प्रेम भावना वासना मुक्त है । भाषा और शिल्प विधान की प्रयोग में भी रीतिमुक्त धारा के कवियों ने अन्य धाराओं के रचनाकारों की तुलना में प्रौढ़ता का परिचय दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिमुक्त धारा के कवियों का काव्य प्रदेय समस्त रीतिकालीन कवियों से श्रेष्ठ है लोकोक्तियों और मुहावरों के सफल प्रयोग ने इनकी कविताओं को मार्मिकता प्रदान की है।

रीति मुक्त धारा के प्रमुख कवि :–

घनानंद :–

घनानंद रीति मुक्त या रीतिकालीन स्वच्छंद काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनके काव्य में इस धारा की सभी विशेषताएँ मिल जाती है। भावनाओं की तीव्रता, वैयक्तिकता, उक्ति वक्रता तथा लक्षणा, व्यंजना प्रधान शब्द प्रयोग तथा रूढ़ियों का विरोध इनके काव्य में पाया जाता है। इनकी दो प्रकार की रचनाएँ हैं एक तो वे जिनका संबंध लौकिक श्रृंगार से है। दूसरी वे जिनमें भक्ति भावना की अभिव्यक्ति है। श्रृंगार संबंधी रचनाएँ कवित्त सवैयों में रचित मुक्तक वर्ग की है। भक्ति संबंधी कविताएँ पदों एवं दोहा चौपाइयों में हैं। कवित्त सवैयों की संख्या 752 है। पदों की संख्या 1057 है दोहे चौपाई लगभग दो हजार हैं। काव्य उत्कर्ष और वृहत मात्रा दोनो दृष्टियों से घनानंद हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में गिने जाते हैं। घनानंद के काव्य में प्रेम के हर्षमय पक्ष का कम वियोग की पीड़ा का अधिकांश वर्णन किया गया है। इनमें फारसी परम्परा का प्रभाव लक्षित होता है। घनानंद ने आत्म निवेदन शैली में अपनी प्रेम की पीर का वर्णन किया है। अधिकांश मध्ययुगीन काव्य में पात्रों का आलंबन लेकर उनकी मानसिक शारीरिक चेष्टाओं के वर्णन के माध्यम से भावों को जागृत करने की प्रवृत्ति रही है। घनानंद ने सीधे भावों का वर्णन किया है। वियोग व्यथा की सैकड़ों अंतर्दशाओं का वर्णन घनानंद ने, मन प्राण, नेत्र तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन के माध्यम से किया है। घनानंद की प्रेमानुभूतियाँ शरीर भोग से ऊपर उठकर ऐसी उदात्त भावभूमि पर पहुँची लगती है। जिससे लौकिक प्रेम भी पारलौकिक सत्ता के प्रति समर्पण भाव जैसा लगता है। उदाहरणार्थ मन जैसे तुम्हें कछु चाहत है सो बखानिये कैसे सुजान ही हों पंक्ति से प्रारंभ होने वाले सवैया में प्रेम का विषय लौकिक होते हुए भी

परमेश्वर पर आरोपित हो सकता है। घनानंद ने सूक्ष्म प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये लक्षणा व्यंजना प्रधान शैली के प्रयोग बहुतायत से किये हैं जिससे सामान्य लोगों को समझने में कुछ क्लिष्टता का सामना करना पड़ता है किन्तु लक्षणा व्यंजना शक्ति के माध्यम से अर्थ के स्तर खोलने में समर्थ श्रोता या पाठक के लिये इस क्लिष्टता की तुलना में मार्मिकता अधिक प्रतीत होती है। वैसे भी घनानंद के अधिकांश लक्षणा व्यंजना संबंधी भाषिक–प्रयोग कहावतें, मुहावरे वर्ग के हैं। अतः सहजता ही प्रमुख है। रीतिमुक्त कवि वर्ग मे ही नही बल्कि संपूर्ण मध्यकालीन काव्य में प्रेम की पीर के श्रेष्ठतम कवियों में घनानंद का नाम लिया जाता है।

आलमः–

घनानंद की भाँति आलम भी रीतिकालीन रीतिमुक्त धारा अर्थात् भाव प्रधान स्वच्छंद धारा के कवि जाने जाते हैं। इनकी कविता में भी वास्तविक प्रेमानुभूतियाँ मार्मिक ढंग से आत्म निवेदन शैली में प्रगट की गई है। संयोग और वियोग दोनों ही परिस्थितियों में आलम दीवानगी की मुद्रा तथा विषाद मग्नता धारण किये लगते हैं। उनके काव्य में प्रेम की अभिलाषा ही प्रमुख रूप से वर्णित की गई है। माधवानल 'काम कन्दला', 'स्याम सनेही' तथा 'सुदामा चरित' यह तीन प्रबंध काव्य आलम के नाम से प्राप्त हैं। आलम केलि मुक्तकों का संग्रह है। आलम अपनी उक्तियों को कृत्रिम ढंग से सजाने और चमत्कार पूर्ण बनाने में विश्वास नहीं करते। उन्होने काव्य प्रतिमा का उपयोग भावों को गंभीरता से प्रगट करने में किया है।

ठाकुरः– इनके द्वारा रचित दो संग्रह उपलब्ध है। 'ठाकुर ठसक' तथा 'ठाकुर शतक'। घनानंद की भाँति ठाकुर कवि भी स्वाभाविक प्रेमानुभूतियों को निश्छल किन्तु मार्मिक कला माध्यम से प्रगट करने के पक्षधर हैं। कवि शिक्षा के बल पर कृत्रिम भाव–शून्य चमत्कार वादी काव्य लेखन का आपने उपहास किया है। ठाकुर की कविता में अनुभूति और अभिव्यक्ति की सादगी के दर्शन होते है। भाषा बोलचाल की और स्पष्ट है। घनानंद की भाँति ठाकुर भी प्रेम निर्वाह के नियम का अटल होकर पालन करना चाहते है। प्रेमी की बेरूखी, लापरवाही से भी वे अपने प्रेम निर्वाह के नियम को नहीं तोड़ना चाहते। इनके काव्य में भक्ति भावना भी मिलती है। इनके काव्य में तीज त्योहारों का उल्लास भी प्रगट हुआ है। लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा ये भी लोक मानस को शीघ्र छू लेते हैं।

बोधा :–

बोधा की दो कृतियाँ – 'विरह वारीश' और 'इश्क नामा' प्राप्त है। इनमें एक प्रबंध काव्य है दूसरा (इश्कनामा) मुक्तकों का संग्रह है। कहीं कहीं प्रेम का उदात्तीकरण न करने के कारण यह अश्लील भी हो गए हैं। इश्कनामा की सभी रचनाएँ प्रेम की स्थिरता से संबंधित है और प्रभावशाली भाषा में तीव्र अनुभूति जागृत करने में सक्षम हैं। ये अपने मनोवेगों को प्राकृत ढंग से प्रगट करने विश्वास करते थे। भाषा की स्वाभविकता बोधा में अन्य सभी रीतिकालीन कवियों से अधिक है। इनकी कविता में उर्दू फारसी के प्रचलित शब्द भी बीच बीच में आ जाते है। फारसी के प्रभाव से कहीं कहीं भावगत गंभीरता में कमी भी दिखायी देती है परन्तु ऐसे स्थल कम हैं।

3.4 भाव पक्ष की दृष्टि से रीतकालीन प्रवृत्तियों का परिचय :–

भावपक्ष की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य का निम्न प्रवृत्तियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. श्रृंगार :–

रीतिकाल में रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त तीनों वर्ग के कवियों ने भावपक्ष की दृष्टि से श्रृंगार रस प्रधान कविताएँ सबसे अधिक लिखी है। इस काल का श्रृंगार वर्णन दो प्रकार का है। प्रथम नायक नायिकाओं की प्रेम विषयक मानसिक तथा शारीरिक दशाओं के चित्रण के माध्यम से द्वितीय आत्म निवेदन शैली में निजी अनुभूतियों के प्रकाशन के रूप में । प्रथम प्रकार की श्रृंगारिक रचनाएँ लक्षणग्रंथ (रीतिग्रंथ) निर्माता कवियों तथा रीतिसिद्ध धारा के रचनाकारों द्वारा लिखी गयी है। द्वितीय प्रकार की श्रृंगार संबंधी रचनाएँ रीतिमुक्त या स्वच्छंद धारा के

कवियों द्वारा लिखी गयी है। नायक नायिकाओं के माध्यम से श्रृंगार वर्णन करने वाली रचनाओं में भी स्वकीया प्रेम (विवाहिता स्त्री पुरूष संबंधी) कविताओं की अपेक्षा परकीया प्रेम (विवाहेतर स्त्री पुरूष) के प्रेम प्रसंगों को प्रमुखता दी गयी है। भक्तिकाल में माधुर्यभाव की भक्ति के अंतर्गत ईश्वर को प्रेमी तथा जीवात्मा को प्रेमिका मानकर उससे मिलन की उत्कटता दर्शायी गयी है। ईश्वर के प्रति प्रेमाकांक्षा की तीव्र स्थिति में परिवार तथा संसार की सभी लौकिक इच्छाओं के त्याग का आदर्श समाहित कर प्रेम का एक उदात्त रूप भारतीय भक्ति परम्परा में रहा है। किन्तु धीरे – धीरे राधाकृष्ण की माधुर्यभाव की भक्ति के अंतर्गत सांसारिक भोगवृत्तियों के त्याग के स्थान पर उसमें मांसलता और एन्द्रिक भोग की आकांक्षाएँ जुड़ती गयीं । परिणाम स्वरूप राधा कन्हाई सुमिरन के बहाने ऐन्द्रिक भोग पर आधारित श्रृंगारिकता प्रधान होती गयी। रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियों के काव्य में माधुर्य भाव की इसी भोगवादी श्रृंगारिता के दर्शन होते हैं। कहीं कहीं तो राधा – कृष्ण तथा अन्य लौकिक नायक नायिकाओं के प्रेम प्रसंगों को ऐसे स्थूल रूप में वर्णित किया गया है, कि वे अश्लीलता की सीमा छूने लगते हैं। रीतिबद्ध रीति सिद्ध धारा के कवियों के श्रृंगार वर्णन में वात्सायन के कामसूत्र का प्रभाव भी ग्रहण किया गया है। विशेष रूप से नायक – नायिका भेद का निरूपण करते समय, उनकी कामात्तेजक शारीरिक चेष्टाओं, आकांक्षाओं के वर्णन में यह प्रभाव उभर कर दिखलायी देता है। इन रचनाओं में प्रेम विषयक मौलिक कल्पना का अभाव है। काव्यशास्त्र में उल्लखित श्रृंगार की अंतः तथा बाह्य दशाओं के ढाँचे में ही कविगण अपनी सीमित कल्पना और शब्द प्रयोग की दक्षता का परिचय देते प्रतीत होते हैं। फिर भी दूत या दूतियों को बीच में रखकर मार्मिक विम्ब भी इन श्रृंगारिक रचनाओं में मिल जाते हैं। गुरूजनों को बीच में रखकर प्रेम संकेतों का भी मनोरंजक श्रृंगार वर्णन बखूबी किया गया है। द्वितीय प्रकार का श्रृंगार वर्णन जिसमें आत्मानुभूतियों का वर्णन है – रीतिमुक्त धारा के घनानंद, ठाकुर, आलम, बोधा, द्विजदेव में देखने को मिलता है। इन कवियों ने लोकलाज का तिरस्कार कर अपनी निजी प्रेमानुभूतियों को प्रत्यक्ष आत्म निवेदन शैली में प्रगट करने का साहस किया है। इन कवियों में प्रेम श्रृंगार के बाह्य भोगावादी रूप का त्याग और आंतरिक प्रेम निर्वाह को आदर्श मानने की प्रवृत्ति रही हैं। ये स्वच्छंद धारा के कवि प्रेम को शुद्ध सरल ह्रदय का आवेश मानते थे। इनके श्रृंगार वर्णन में संयोग के प्रसंग कम वर्णित है। विरह दशा की मनः स्थितियाँ ही अधिकतर प्रकट की गयी हैं। इसीलिए रीतिमुक्त धारा के कवियों घनानंद आदि को प्रेम की पीर का गायक कहा जाता है। इन्होंने एक निष्ठ प्रेम को भोगवादी आकांक्षाओं से मुक्त कर एक ऐसा उदात्त रूप दिया है। जिसमें ये प्रेमी से बदले में कुछ नहीं चाहते। प्रेमी के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी पूर्ण सर्मपण के साथ ये प्रेम नियम पर अटल रहना चाहते हैं। परम्परा में प्रेम का आदर्श यह भी माना गया है। कि उससे विछड़ने पर आत्मबलिदान या प्राणों का त्याग किया जाये। किन्तु रीतिमुक्त धारा के कवि इसे प्रेम मार्ग की कायरता और कलंक बतलाते हैं। ये हर हाल में पीड़ा सहकर भी प्रेमी की याद में खोये रहना पसंद करते हैं। घनानंद ने कई उक्तियों में मीन या पतिंगें के प्रेम को आदर्श मानने से इन्कार किया है। उनका कथन है कि विरह में प्राण उत्सर्ग करने से प्रेमी की प्रतिष्ठा समाप्त होती है अतः ऐसा प्रेम स्वच्छ नहीं कहा जा सकता । प्राण उत्सर्ग को घनानंद जड़ता या अज्ञान मानते हैं और साहस बटोर कर विरह वेदना सहते रहने को सच्चा प्रेम कहते हैं। रीतिमुक्त अन्य कवियों ने भी इसी प्रेमादर्श को अपनाया है।

भक्ति भावना :–

रीतिकाल में श्रृंगार वर्णन के पश्चात जिस भावनात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वह भक्ति भावना का प्रकाशन है। राज दरबारों में धन और प्रतिष्ठा के उतार चढ़ाव राजप्रकोप, प्राकृतिक प्रकोप, युद्ध के घातक परिणाम, अपने परायों के विश्वास घात आदि कटु अनुभवों ने रीतिकालीन कवियों को भी ईश्वर भक्ति का आश्राय लेने को विवश किया है। इसी मनोदशा में दरबारी कविगण, भक्ति कालीन परम्परा की मान्यताओं से अपने को जोड़कर काव्य रचना करते थे। जनता में एक वर्ग तो पहले से ही धार्मिक आस्थाओं के कारण भक्तिभावनापूर्ण काव्य लेखन से अपना संबंध बनाये हुए था। इसके अतिरिक्त धार्मिक गुरू शिष्य परम्परा के भक्तगण अपने मत का प्रचार प्रसार करने के लिये भी भक्ति काव्य रचना में प्रवृत्त दिखायी देते हैं। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों एवं मतों से संबंधित निर्गुण संतकाव्य धारा, सूफी काव्य, रामभक्ति काव्य, कृष्ण भक्ति काव्य, जैन मत संबंधी संतों की काव्यधारा का एक अटूट

क्रम रीतिकाल में सक्रिय नजर आता है। संत कवियों में यारी साहब, दरिया साहब, पटलू, चरणदास, के नाम रीतिकाल में प्रमुख हैं। इस काल की सूफी ढंग की कविता लिखने वालों में कासिम शाह, नूर मुहम्मद दुख हरणदास के नाम लिये जाते हैं। रामभक्ति को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने वाले कवियों में गुरूगोविन्दसिंह, जानकी रसिक, भगवंतराय, नवलसिंह उल्लेखनीय है। इस युग में कृष्ण भक्ति काव्य की रचना करने वाले कवियों में गुमानसिंह, बृजवासीदास, नागरीदास, हित वृन्दावन प्रमुख है।

नीतिकाव्य :–

रीतिकाल के आचार्य कवि काव्य शास्त्र के अतिरिक्त नीतिशास्त्र के संस्कृत ग्रंथों के अध्येता थे। भृतहरि ने नीतिशतक लिखकर संस्कृत साहित्य में नीतिकाव्य को लोक प्रिय बना दिया था। कबीर, जायसी, रहीम, जमाल से होती हुई यह परम्परा हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों में चलती रही। इसी के परिणाम स्वरूप रीतिकाल के कवियों द्वारा भी प्रचुर मात्रा में नीति काव्य लिखा गया है। वृन्दकवि गिरधर कविराय, बैताल, दीनदयाल गिरि को नीतिकाव्य के कारण प्रसिद्धि मिली है। बिहारी तथा अन्य रीतिसिद्ध, रीतिबद्ध धारा के कवियों ने नीति परक सशक्त उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। वृंद कवि की वृंद सतसई में नीति संबंधी दोहों की प्रधानता है। नीति विषयक काव्य लिखने वाले कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि गिरधर कविराय को कुन्डलियों के कारण मिली । इनमें घर – परिवार और समाज में विभिन्न अवसरों पर अनुकूल व्यवहार संबंधी नीतियों का निर्देश काव्यात्मक ढंग से किया गया है। इसमें उपदेश की नीरसता हटाकर उन्हें प्रभावी उदाहरण दृष्टान्तों तथा अन्य सादृश्य–गर्भ अलंकार या विरोध गर्भ अलंकारों के माध्यम से सरस रूप दिया गया है। अन्य नीतिकार कवियों में बैताल, रामसहाय, सम्मन के नाम प्रसिद्ध है। गिरिधर कवि ही समकक्ष ख्याति नीतिकार कवि दीनदयाल गिरि को मिली । ये काशी के गायघाट मुहल्ले में पैदा हुए थे। लौकिक विषयों पर गिरधर की अन्योक्तियाँ श्रेष्ठ साहित्य में गिनी जाती हैं। इनमें अप्रस्तुत विधान का चयन लोक परिचित होने के कारण अन्योक्तियाँ जल्दी समझ में आ जाती है।

वीर काव्य (प्रशस्ति काव्य):–

रीतिकालीन वीर रसात्मक काव्य में आश्रायदाता राजा के ऐश्वर्य एवं युद्ध पराक्रम का अतिरंजित वर्णन किया गया है। आश्रायदाता राजा के वास्तविक एवं काल्पनिक गुणों की महिमा गाने वाली इन रचनाओं में वे रचनाएँ अधिक प्रभावशाली है जिनमें गुणग्राहकता, दानवीरता, प्रजा के प्रति संवेदनशीलता तथा देश और धर्म की रक्षार्थ त्याग बलिदान के आदर्श स्थापित किये गए हैं। इस काल में लाल कवि द्वारा छत्रसाल प्रकाश लिखा गया जिसमें महाराज छत्रसाल के जीवन चरित को दोहो चौपाईयों में वर्णित किया गया है। बुन्देल वंश की उत्पत्ति चम्पतराय के पराक्रम तथा छत्रसाल की युद्ध वीरता के चित्रण द्वारा वीर रस की उत्पत्ति करायी गयी है।

पद्माकर भट्टकी 'हिम्मत विरूदावली' सूदन कवि की 'सुजान चरित' मान कवि की नृसिंह चरित तथा जोधराज कवि की हम्मीर रासों रीतकाल की वीररस पूर्ण कृतियाँ हैं। इन कृतियों में कल्पना के साथ इतिहास संबंधी तथ्यों को भी सुरक्षित रखा गया है। इन कृतियों में चारण भाटों की चाटुकारिता के स्थान पर स्वराष्ट्र और स्वधर्म की रक्षा के लिये वीर पुरूषों द्वारा अपनाये गये गुणों का बखान किया गया है। ये कृतियाँ अनीति अन्याय के विरूद्ध संघर्ष की प्रेरणा देती हैं।

शिल्पगत प्रवृत्तियाँ :–

रीतिकालीन कवियों ने साहित्यिक बृजभाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। भाषा शिल्प की दृष्टि से रीतिकाल अत्यंत महत्वपूर्ण है। जैसा कि नाम से ही आभासित होता है रीतिकाल के कवियों का ध्यान काव्य के लक्षणों की ओर विशेष रहा। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध धारा के कवियों ने तो काव्य के लक्षणों को आधार बनाकर ही काव्य रचना की अतः विविध अलंकारों के तथा शब्दगुण, अर्थगुण, उदाहरण प्रस्तुत करने वाली सचेष्ट उक्तियाँ इन्होने प्रदान की । नाना काव्य उपकरणों के स्वरचित काव्य उदाहरण प्रस्तुत करने हेतु मुक्तक अधिक उपयुक्त

थे अतः रीतिकालीन काव्य का अधिकांश मुक्तक काव्य रूप के अंतर्गत लिखा गया। बहुत कम कवियों ने प्रबंध रचनाएँ प्रस्तुत की। रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध कवि चूंकि प्रतिपाद्य काव्यांग के लक्षणों से बंधे थे अतः इसी के भीतर इनकी कल्पनाशक्ति उड़ान भरती रही। काव्य के बाह्य लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करने के फेर में इनकी कल्पना स्वच्छंद उड़ान नहीं भर सकी। किन्तु अनेक स्थलों में जहाँ कवि की मनोदशा एवं प्रतिपाद्य काव्यांग लक्षण में मेल रहा वहाँ कविता ने अनुभूति की ऊँचाई व गहराई का परिचय भी दिया है। रीतिमुक्त या स्वच्छंद धारा के कवियों ने स्वानुभूति को अधिक महत्व दिया किन्तु उसे प्रभावीढंग से प्रगट करने के लिये इन्होने अर्थालंकार, शब्दालंकार, रसानुकूल शब्दगुण, अर्थगुण आदि शिल्प उपकरणों का प्रयोग किया। इन कवियों ने भी मुक्तक काव्य रूप को अपनाया। दोहा, कवित्त, सवैया, कुन्डलिया छंदों का रीतिकालीन काव्य रचना में सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। छंद निरूपक लक्षण ग्रंथ लिखने वाले कवियों ने हिन्दी के लगभग सभी प्रचलित छंदो का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया है। भक्ति काव्य परम्परा के अनुसार काव्य रचना करने वाले कवियों ने गीतों को भी अपनाया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उदाहरण दृष्टांत निदर्शना इनके सर्वाधिक प्रिय अलंकार है। नीतिकार कवियों ने अन्योक्ति पद्धति को अधिक अपनाया है।

3.6 सार–संक्षेप

1. 1643 से 1843 के आस–पास का कालखंड हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल कहलाता है। यह नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है।

2. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्रा इसे श्रृंगारकाल कहना अधिक उपयुक्त समझते है। डॉ. रामकुमार वर्मा इसे अलंकृत काल या अलंकार काल नाम देना चाहते हैं। किन्तु रीतिकाल नाम ही अब स्वीकृत हुआ है।

3. रीतिग्रंथों के आधार पर प्रवृत्ति विशलेषण की दृष्टि से रीतिकाल में कवियों के तीन वर्ग – रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त हैं। रीतिबद्ध से तात्पर्य उन आचार्य कवियों से है जिन्होने काव्य के विविध अंगो की शिक्षा देने के लिये लक्षण ग्रंथ या रीतिग्रंथ लिखे। इनमें काव्यांगों के लक्षण स्पष्ट किये गये है, और साथ में उनसे संबंधित कविता के स्वरचित उदाहरण दिये है। आचार्य केशव आचार्य भिखारीदास इसके प्रतिनिधि कवि हैं।

4. रीतिसिद्ध कवि वे माने गए है, जिन्होने काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रंथ या रीतिग्रंथ तो नहीं लिखे किन्तु इनकी कविता लक्षणों के ढाँचे पर की गई है। बिहारी, नृपशंभु इस धारा के प्रमुख कवि है।

5. रीतिमुक्त कवि वे कहे जाते है, जिन्होने रीतिग्रंथों में बताये लक्षणों की अनिवार्यता को अस्वीकार करके काव्य लेखन किया। इन्हें रीतिकालीन स्वच्छंद धारा का कवि भी कहा जाता है। ठाकुर, आलम, बोधा, घनानंद इस धारा के प्रतिनिधि कवि है।

6. रीतिकाल में श्रृंगार रस की कविताएँ सबसे अधिक लिखी गई। भक्तिभावना, वीर भावना, राज्य भक्ति इस काल की अन्य भावात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। इस काल की कविता में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में हुआ है।

7. इस काल के कवियों ने भाषागत चमत्कार, अलंकार विधान पर विशेष बल दिया है।

8. प्रबंध की अपेक्षा इस काल में मुक्तक अधिक लिखे गए। भक्ति भावना निरूपक कवियों ने पद शैली की गीत रचनाएँ भी प्रस्तुत की है।

9. इस काल की सर्वाधिक मार्मिक रचनाएँ रीतिमुक्त धारा के कवियों द्वारा रचित प्रेम की पीर से संबंधित है।

10. वीर रस के कवियों की वे रचनाएँ जिनमें राजाओं के प्रजा रक्षण हेतु पौरूष, साहस त्याग व बलिदान का वर्णन किया गया है, प्रभावशाली है। इनमें स्वदेश प्रेम के बीज अंकुरित दिखायी देते है।

NOTES

3.8 अभ्यास–प्रश्न

(1) रीतिकालीन कविता की प्रमुख धाराओं का परिचय दीजिए ?

(2) रीतिकालीन काव्य की भावपक्ष संबंधी प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए ?

(3) रीतिकालीन कविता में श्रृंगार वर्णन पर प्रकाश डालिए ?

(4) स्वच्छंद काव्य धारा के कवियों के काव्य में प्रगट प्रेम की पीर की विशेषताएँ बतलाइये ?

(5) रीतिबद्ध काव्य धारा की भावगत तथा शिल्पगत प्रवृत्तियाँ बतलाइये ?

(6) रीति सिद्ध धारा की काव्यगत विशेषताएँ बतलाइये ?

(7) रीति मुक्त धारा के किन्हीं दो कवियों की काव्यसाधना का परिचय दीजिए ?

(8) केवशदास बिहारी, देव और घनानंद में से किन्हीं दो की काव्य साधना पर प्रकाश डालिये ?

(9) रीतिकालीन नीतिकाव्य तथा वीर काव्य पर प्रकाश डालिये ?

अध्याय – 9

रीतिकाल : संक्षिप्त परिचय एवं मूल प्रवृत्तियाँ

अध्याय में प्रस्तुत हैं :

- प्रस्तावना
- उद्देश्य
- रीतिकालः– नामकरण / समय सीमा
- रीतिकाल पृष्ठभूमि
- रीतिकालीन काव्य का वर्गीकरण
- रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ
- घनानंद
- घनानंद की प्रेमानुभूति
- प्रेम की लौकिक महत्ता
- घनानंद की विरहानुभूतिः–
- घनानंद का काव्य–सौष्ठव :
- सार–संक्षेप
- अभ्यास–प्रश्न

NOTES

3.0 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में संवत् 1700 से संवत् 1900 वि. तक के समय को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल नाम दिया है। रीतिकाल के लिए अन्य नाम भी दिए गए हैं, जिनमें प्रमुख है– अलंकृत काल, श्रृंगार काल, कला काल, उत्तर मध्यकाल। मिश्र बंधुओं ने इस काल में अलंकरण की प्रवृत्ति को परिलक्षित कर इसे 'अलंकृत काल' कहा है। कुछ अन्य आलोचकों ने 'कलाकाल' तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल में श्रृंगार रस की प्रधानता को देखकर 'श्रृंगार काल' कहा है। इन सभी नामों में रीतिकाल नाम अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इस काल में रीति ग्रन्थों की रचना अधिक मात्रा में हुई थी। अतः यह नामकरण प्रवृत्ति मूलक है तथा सबकों स्वीकार भी है। मध्यकाल के पूर्व भाग को भक्तिकाल तथा उत्तर भाग को रीतिकाल कहा गया है। इस आधार पर रीतिकाल को उत्तर मध्यकाल भी कहा जाता है।

रीतिकालीन काव्य को रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्यधारा के अन्तर्गत विभाजित किया गया है। इन काव्यधारा के प्रमुख कवि रहे हैं– केशव, मतिराम, देव, बिहारी, रसनिधि, घनानंद, बोधा, आलम आदि। इसमें रीतिमुक्त स्वछन्द काव्यधारा में घनानंद का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इन्होंने स्वच्छन्दता के साथ प्रेमानुभूति का बडा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में रीतिकाल के समग्र साहित्य पर विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। रीतिकाल का नामकरण, समय सीमा, पृष्ठभूमि एवं प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त काव्यधारा एवं कवियों का विवेचन किया गया है। रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा के स्वच्छन्तावादी कवि घनानंद के जीवन एवं काव्य रचना का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस इकाई में रीतिकालीन काव्यधारा के साथ घनानंद के समग्र जीवन एवं काव्य– रचना को सरलता से समझा जा सकेगा।

3.2 रीतिकालः– नामकरण / समय सीमा

कबीर, तुलसी तथा सूर ने जिस भक्तिकाव्य का सृजन किया था अकबर के शासन काल तक वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। किन्तु अकबर के शासन काल में ही रहीम, गंग तथा नरहरि आदि की रचनाओं में प्रेमतत्व की अधिकता हो चली थी तथा उसका आधार मुख्यतः लौकिक ही था। प्रेम तत्व तथा लौकिकता की प्रवृत्तियों को लेकर जो काव्य कालांतर में विकसित हुआ उसे ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल कहा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में संवत् 1700 से संवत् 1900 वि. तक के समय को साहित्य के इतिहास का रीतिकाल कहा है। रीतिकाल के लिए अन्य नाम भी दिए गए हैं जिनमें प्रमुख है– अलंकृत काल, श्रृंगार काल, कला काल, उत्तर मध्यकाल। मिश्र बंधुओं ने इस काल में अलंकरण की प्रवृत्ति को परिलक्षित कर इसे अलंकृत काल कहा है। कुछ अन्य आलोचकों ने इस काल की कविता में कलापक्ष की प्रधानता को देखकर इसे कलाकाल तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल में श्रृंगार रस की प्रधानता को देखकर 'श्रृंगार काल' कहा है। इन सभी नामों में रीतिकाल नाम अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इस काल में रीति ग्रन्थों की रचना अधिक मात्रा में हुई थी। अतः यह नामकरण प्रवृत्ति मूलक है तथा सबको स्वीकार भी है। मध्यकाल के पूर्व भाग को भक्तिकाल तथा उत्तर भाग को रीतिकाल कहा गया है। इस आधार पर रीतिकाल को उत्तर मध्यकाल भी कहा जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतर्गत रीति शब्द का प्रयोग आचार्य वामन ने एक विशेष सम्प्रदाय रीति सम्प्रदाय का प्रर्वतन किया उनके अनुसार गुण विशिष्ट रचना अर्थात विशिष्ट पद रचना का नाम रीति है। जिसमें ओज प्रसाद, माधुर्य, कांति आदि काव्य गुणों का समावेश होता है। रीति का अर्थ शैली पद्धति तथा मार्ग भी होता है। हिन्दी के आधुनिक इतिहासकारों तथा आलोचकों ने भी इसी अर्थ में रीति शब्द का प्रयोग किया है। जिसमें अलंकार, रस,

ध्वनि, शब्दशक्ति, नायिका भेद आदि काव्य तत्वों का समावेश होता है इस प्रकार रीति शब्द संस्कृत के समान हिन्दी में भी काव्य रचना पद्धति के लिए प्रयोग किया जाता है।

NOTES

रीतिकाल के प्रर्वतक का श्रेय किसे दिया जाए, इसे लेकर विद्वानों में मतभेद हैं, लेकिन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल का प्रर्वतक चिंतामणि तिवारी को स्वीकार किया है, केशव को नहीं । आचार्य शुक्ल ने केशव को रीतिकाल के कवियों की श्रेणी में न रखकर भक्तिकाल के फुटकर कवियों के खाते में रखा है। इस प्रकार रीतिकाल के प्रवर्तक होने का श्रेय चिंतामणि को जाता है। शुक्ल जी का मत है कि काव्य में काव्यरीति का सम्यक् समावेश सबसे पहले केशव ने किया । केशव के सर्वप्रथम प्रयास के बाद किसी अन्य कवि द्वारा काव्यरीति का प्रयोग देखने में नही आता है। केशव के कविप्रिया के बाद काव्यरीति की यह परंपरा समाप्त हो गई । उससे कुछ समय बाद यह परंपरा अखंड रूप से प्रवाहित होने लगी। इस समय चिंतामणि ने इस प्रवाह को गति प्रदान की । आगे यह परंपरा जोर पकड गई। इस तरह चिंतामणि से शुक्ल जी रीति परंपरा का आरंभ मानते है।

3.3 रीतिकाल पृष्ठभूमि

रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि के संदर्भ में उन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का विशिष्ट प्रभाव रहा है। उक्त परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है। जिसके कारण हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य आध्यात्मिकता से शुन्य बौद्धिक तथा ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मात्र बन गया था।

राजनैतिक अवस्था :–

राजनैतिक दृष्टि से यह काल मुगलों के शासन के वैभव चरमोत्कर्ष और उसके बाद उत्तरोत्तर ह्रास, पतन और विनाश का युग कहा जा सकता है। शाहजहाँ के शासन काल में मुगल वैभव अपनी चरम सीमा पर रहा। जहाँगीर ने अपने शासन काल में राज्य का जो विस्तार किया था शाहजहाँ ने उसकी वृद्धि इतनी की कि उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण में अहमद नगर, बीजापुर और गोलकुन्डा राज्य तथा उत्तर पश्चिम में सिंध के लहरी बंदरगाह से लेकर आसाम में सिलहट और अफगान प्रदेश के बिस्त के किले से लेकर दक्षिण के औसा तक एकछत्र साम्राज्य की स्थापना हो गई थी। राजपूतों ने भी विश्वास पात्र एवं स्वामी भक्त सेवक होकर दिल्ली के शासन की अधीनता स्वीकार कर ली थी। देश में सामान्य रूप से शांति थी। राजकोष भरा पूरा था । ताजमहल और मयूर सिहांसन का भी निमार्ण हो चुका था किन्तु इसके पश्चात् शाहजहाँ के बीमार होने और उसकी मृत्यु की अफवाह फैलने के कारण 1658 ई. में उसके पुत्रों में सत्ता के लिए संघर्ष आरंभ होते ही यह वैभवशाली साम्राज्य ह्रसोन्मुख हो गया। उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धार्मिक असहिष्णुता और उदारता के लिए जितना लोकप्रिय था उससे छोटा औरंगजेब अपनी धार्मिक असहिष्णुता एवं अहम्मन्यता के कारण उतना ही अप्रिय था। दारा की हत्या कर औरंगजेब ने ज्यों ही शासन की बागडोर संभाली त्यों ही जागीरदारों, राजाओं और हिन्दुओं के धार्मिक उपद्रव आरंभ हो गये। परिणाम यह हुआ कि उसके शासन काल का अधिकांश समय इन उपद्रवों के दमन में ही व्यतित हुआ– वह शासन को सशक्त एवं इतने विस्तृत साम्राज्य को सुगठित न कर सका। दूसरे क्योंकि वह अहमवादी था– उसके हुक्म का उल्लघन अपराध होता था। इसलिए उसके पुत्रों में किसी के भीतर प्रतिभा और व्यक्तित्व का ऐसा विकास न हो सका कि वह पुनः हिन्दुओं में विश्वास उत्पन्न कर साम्राज्य को एक सूत्र में बांधता।

औरंगजेब के पश्चात् 1707 ई. में उसके पुत्रों के बीच संघर्ष हुआ और उसका द्वितीय पुत्र मुअज्जम (शाह आलम प्रथम) गद्दी पर बैठा। वह यद्यपि कुछ उदार था, पर अधिक समय जीवित नहीं रह सका। उसके बाद 1712 ई. से इस साम्राज्य का पतन आरम्भ होता है। लगभग 50 वर्ष तक शासन एक प्रकार से स्थिर न हो सका। राजगद्दी पर अल्पकाल के लिए ही लोग आते रहे। जो कुछ अधिक समय के लिए आये, वे विलास में निमग्न रहने के कारण राज्य की देखभाल न कर सके। परिणामतः अव्यवस्था और अशांति इतनी बढती गयी कि छोटे–छोटे जागीरदार भी अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर बैठे और धीरे–धीरे केन्द्र की पकड इतनी ढीली हो गयी कि साम्राज्य अब दिल्ली

NOTES

और आगरा के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। इसी बीच 1738 ई. में नादिरशाह का आक्रमण हुआ। उसने इस शासन की नींव प्रायः हिला डाली। जो कुछ शेष रह गया था, उसकी कमी अहमदशाह अब्दाली के 1761 ई. के आक्रमण ने पूरी कर दी। इधर विदेशी व्यापारियों– विशेषतः अंग्रेजों ने इस स्थिति का पूरा–पूरा लाभ उठाया और वे भीतर ही भीतर शक्ति का संचय करते हुए इस अवस्था तक पहुँच गये कि 1803 ई. तक लगभग समस्त उत्तरी भारत पर उनका आधिपत्य हो गया और मुगल सम्राट नाम मात्र के लिए शासक रह गये– वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में चली गयी। 1857 ई. की देशव्यापी राज्यक्रान्ति ने एक बार पुनः विलासी मुगलों को प्रतिष्ठित करना चाहा, किन्तु सब प्रयत्न असफल रहे। इस प्रकार दो–ढाई सौ वर्ष के विलास– वैभवपूर्ण साम्राज्य का अंत हुआ।

यह बात तो रही केन्द्रीय शासन की। जहाँ तक प्रदेशों का प्रश्न है, रीतिकाल की रचना के क्षेत्रों– अवध, राजस्थान और बुन्देलखंड की कथा भी ऐसी ही है। अवध के विलासी शासकों का अंत भी मुगल साम्राज्य के समान कारूणिक रहा। राजस्थान में भी विलास और बहुपत्नी–प्रथा इतनी बढ गयी थी कि औरंगजेब के बाद राजपुरूष कुचक्रो षड्यंत्रों और आंतरिक कलह के शिकार होकर इतने निर्वीर्य होते गये कि पतनोन्मुख अव्यवस्थित मुगलों से अपने पुराने गौरव और राज्य को भी प्राप्त न कर सके। हाँ, बुन्देलों ने अवश्य ही मरहठों के साथ लाभ उठाने का प्रयत्न किया, पर राजपूतों के थोथे अहंकार एवं पारस्परिक विद्वेष के कारण पूर्ण सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार मुगल– साम्राज्य के समान ही हिन्दू राजवाडों और अवध के नवाबों को अंततः अपना कारूणिक अंत देखना पडा।

सामाजिक अवस्थाः–

सामाजिक दृष्टि से भी इस काल को आदि से अंत तक घोर अधः पतन का युग ही कहा जाना चाहिए। इस काल में सामंतवाद का बोलबाला था, और सामंतशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जनसामान्य के जीवन पर पड रहा था। सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बादशाह था और उसके अधीन थे मनसबदार अथवा अमीर– उमराव। इनके बाद ओहदों के अनुसार दूसरे कर्मचारी आते थे और सबका कर्तव्य–कर्म अपने से ऊपर वालों को प्रसन्न करना था– नीचे वालों को ये मात्र सम्पत्ति समझते थे, उनका अस्तित्व केवल अपने लिए मानते थे। ऊपर से नीचे तक यह शासकों का वर्ग था। शासित वर्ग में एक ओर श्रमजीवी और व्यापारी। शासक वर्ग की आय दोनों–अर्थात– श्रमजीवी–कृषक तथा सेठ– साहूकारादि से कर के रूप में प्राप्त होती थी और सेठ–साहूकारादि कृषकों और श्रमजीवियों की कमाई को विभिन्न प्रकार से अपनाकर अपनी जीविका कमाते थे। श्रमजीवी वर्ग को किसी न किसी की बेगार करनी पडती थी और उसके बदले मिलती थी कोडों की मार! कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग में गरीबों की आर्थिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी और शासक एवं सम्पन्न वर्ग श्रम किये बिना ही सम्पन्न था।

जनसाधारण की चिकित्सा,शिक्षा,सम्पत्ति–रक्षा आदि का भी इस काल में कोई प्रबंध न था। ऐसी शोचनीय अवस्था में यदि लोग भाग्यवादी अथवा नैतिक मूल्यों से रहित थे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । कार्य सिद्धि के लिए उत्कोच लेना–देना तो साधारण बात थी ही, विलासिता भी इसी कारण बढ गयी थी। नारी को अपनी सम्पत्ति मानकर ही उसका भोग इनके जीवन का मूलमंत्र हो गया था। विलास के उपकरण की खोज और उनका संग्रह तथा सुरा–सुन्दरी की आराधना अभिजात वर्ग का शगल (व्यापार) था और मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोगों में उसका बोलबाला उसके अनुकरण के कारण था। किसी की कन्या का अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लडकियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। उधर बेगमों और रक्षिताओं की अगणित संख्या के होते हुए भी ये लोग वैश्याओं के यहां पडे रहते थे– उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। इस प्रकार से विलास में डूबे हुए ये लोग अपनी संतान की देखभाल तक नहीं कर पाते थे और शिक्षक ऐसे घटिया व्यक्ति होते थे कि काम–कला की शिक्षा देकर अपने कर्म की इतिश्री समझते थे। अतएव लडकियों के साथ छेडछाड,तीतर–बटेर पालना और उन्हें लडाना शहजादों और राजकुमारों की दिनचर्या बन गयी थी। विलासिनी माताओं

की देख–रेख के अभाव में राजकुमारियां और शहजादियां अपने महलों और हरमों में कार्य करने वाले सामान्य कर्मचारियों अथवा भृत्यों के साथ प्रेम व्यापार करने लग जाती थी। अनेक सपत्नियों के कारण पति से पूर्ण प्रेम प्राप्त न कर सकने के कारण विवाहिताओं में भी अनेक ऐसी थी, जो ऐसा ही करती थी।

सांस्कृतिक अवस्थाः–

सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यंत शोचनीय थी। अकबर,जहांगीर और शाहजहां की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के परिणाम स्वरूप हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। किन्तु विलास–वैभव के खुले प्रदर्शन के कारण अपनी–अपनी धार्मिक आस्थाओं का दृढतापूर्वक पालन भी इनके लिए एक प्रकार से कठिन हो गया था। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में जिन वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव था, उनके पीठाधीश लोभवश राजाओं और श्रीमानों को गुरू–दीक्षा देने लगे थे, फलतः उनका संबंध तत्त्वचिन्तन से छूटकर भौतिकता के साथ हो गया था– मंदिरों में भी अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। यह स्थिति यहां तक पहुँच गयी थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम–कृष्ण का अतिशय श्रृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। अहिन्दी प्रांतों में यद्यपि ऐसे संतों का प्रभाव था जो इस धारा से अब भी दूर थे, किन्तु इनका प्रभाव हिन्दी प्रांतों तक न आ सका। दूसरी ओर, इस्लाम धर्म पर इस विलास–वैभव का सीधा प्रभाव तो नहीं था, पर रूढिवादिता के अत्यधिक बढ जाने के कारण यह जीवन की वास्तविकतासे हट गया था– कुरान को हज करने अथवा नमाज–रोजा आदि के यथाविध पालन को ही धर्म समझने के कारण वह आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड रहा था, जिससे व्यक्ति के संस्कारों में उदारता आती है। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्म के मूलभूत सिद्धातों से दूर पड गये थे– केवल बाह्यचरण ही धर्म पालन रह गया था। ऐसी दशा में धर्म के साथ नैतिकता का जो संबंध जुडा हुआ था, उससे सम्पन्न वर्ग एकदम दूर हो गया था और विलासिता के लिए खुली छूट मिल गयी थी। इधर विलास के साधनों से हीन वर्ग के बीच स्थिति यह हो चली थी कि कर्म और आचार के स्थान पर अंधविश्वास ने उसके भीतर इतना घर कर लिया था कि हिन्दू मंदिरों में तथा मुसलमान पीरों के तकियों पर जाकर मनोरथ सिद्ध करने लगे थे।जनता के इस अंधविश्वास का अनुचित लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और ये धर्म–स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गये थे। यह ठीक है कि इस युग में पुरानी परम्परा के सूफी तथा संत अब भी विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर,नानक अथवा जायसी– जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नही थी, जो जन–जीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे और प्रचारकों का जैसा प्रभाव पड सकता है, वैसा ही इनका पड रहा था– कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में ये असमर्थ थे। उधर रामलीलाओं तथा 'रामचरितमानस' के पाठ का प्रभाव मनोविनोद तक ही सीमित रह गया था– नैतिक प्रभाव की कल्पना तक असम्भव थी।

3.4 रीतिकालीन काव्य का वर्गीकरण

श्रीतिकाल के समस्त साहित्य को प्रवृत्ति भेद के आधार पर निम्नानुसार वर्गीकरण किया गया है–

रीतिबद्ध काव्यधाराः–

इस काव्यधारा के अंतर्गत रीति निरूपण संबंधी रचनाएँ शामिल की गई है। रीतिकाल के वे कवि जिन्होंने लक्षण ग्रंथों की परिपाटी पर काव्यांगों का लक्षण और उदाहरण देते हुए रीति ग्रंथों की रचना की। राजाश्रय में रहकर रीति परंपरा का निर्वाह करते हुए लक्षण ग्रन्थो की रचना करने वाले ऐसे सैकडों कवि रीतिकाल में हुये जिन्हे रीतिबद्ध कवि कहा गया। इस काव्यधारा के कवियों का प्रमुख उद्देश्य लक्षण ग्रंथों की रचना कर आचार्य बनना तथा अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय देना था। इनमें प्रमुख कवि है– केशव,चिंतामणि,मतिराम,देव,भूषण, कुलपति,भिखारीदास,कृपाराम आदि है।

NOTES

रीतिसिद्ध काव्यधाराः–

इस काव्यधारा के अंतर्गत उन रचनाओं को जो रीति–तत्वों के आधार पर बिना लाक्षणिक का विवेचन किए ही रची गई रचनाएँ हैं, जिन्हें शामिल किया गया है। इस काव्यधारा के कवि शास्त्र के सिद्धांतों से खूब परिचित है, शास्त्रीयता के प्रति उनकी आसक्ति तो है, किन्तु उसकी मजबूत जकड से मुक्त होने की भी कामना है। यद्यपि इन कवियों ने रीतिनिरूपक ग्रंथों का लक्षण–लक्ष्यादि के साथ सृजन नहीं किया तो भी लक्षणों के प्रति बराबर सचेत रहे हैं। इनके हर छन्द पर कोई–न–कोई काव्यलक्षण घटित किया जा सकता है। रीतिशास्त्र में पूर्ण तथा सिद्ध होते हुए भी ये कवि रीति का बंधन ढीला करके काव्य रचना कार्य में प्रवृत्त हुए है। इसलिए इनकी काव्य–चेतन में नई कल्पनाएँ तथा मौलिक उद्‌भावनाएँ परिलक्षित हुई है। इनमें आचार्यत्व की चाह नहीं थी । इनकी समस्त चेतना काव्य–सृजन पर केन्द्रित थी। इनमें प्रमुख कवि है– बिहारी, सेनापति, रसलीन, पद्माकर, रसनिधि आदि है।

रीतिमुक्त काव्यधाराः–

इस काव्यधारा का नामकरण कुछ लोगों ने तो 'रीतिमुक्त' और कुछ ने 'स्वच्छन्द' काव्यधारा किया है। रीतिमुक्त का सीधा अर्थ यही है कि यह धारा रीति–परम्परा के साहित्यिक बंधनों और रूढियों से मुक्त है। इस काव्यधारा के कवि न तो आचार्यत्व के मोह में पडे और न इन्होंने रीतिशास्त्रों के कठोर अनुशासन को स्वीकार करके लक्ष्य स्वरूप काव्य की रचना की। इस वर्ग के कवि आत्मानुभूति जन्य प्रेम भावना के गायक है । इन कवियों ने कलात्मक चमक–दमक नहीं बल्कि कला के द्वारा भावछवि को निखारा है। इन कवियों की रीति(मार्ग या पद्धति) प्रेममार्गी है, इस वर्ग के प्रमुख कवि है– घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर आदि है।

3.5 रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ

रीतिकाल के अंतर्गत राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जन कवियों में से कतिपय ऐसे थे जिन्होंने आत्म–प्रदर्शन की भावना अथवा काव्य–रसिक–समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्‌देश्य से ब्रजभाषा में रीतिग्रंथों का प्रणयन किया। अतएव इन कवियों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रीति–निरूपण की ही थी।इसके साथ ही विलरी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए इन लोगों ने उनकी रूचि के अनुरूप सामान्यतः श्रृंगारिक रचनाएँ की, अतः श्रृंगारिकता इन कवियों की मुख्य काव्य प्रवृत्ति कही जा सकती है। इधर आश्रयदाताओं के दान, पराक्रम आदि का अलंकारिक वर्णन करके जहां इन्हें धन–सम्मान मिलता था, वहां प्रबल धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएँक करने से भी आत्मलाभ होता था। ऐसी दशा में राजप्रशस्ति और भक्ति भी इनकी कविता के अंग और प्रवृत्तियों के रूप में आयी है।

रीति–निरूपण :–

रीति निरूपण की इस व्यापक प्रवृत्ति का अध्ययन करने पर इसके भीतर कतिपय अंतः प्रवृत्तियां भी दृष्टिगत होती है। इनका विश्लेषण ग्रंथकार की दृष्टि, काव्यांग विवेचन तथा निरूपण–शैली के आधार पर पृथक–पृथक किया जा सकता है। इनमें ग्रंथकारों की दृष्टि के आधार पर यदि अंतः प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो कहना होगा कि इस युग में रीति–ग्रंथों की रचना मुख्य रूप से तीन दृष्टियों से की गयी। इनमें प्रथम दृष्टि तो मात्र रीति–कर्म की है। इसके परिचायक वे ग्रंथ है, जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग–विशेष का परिचय कराना हो इनके रचयिताओं का उद्‌देश्य रहा है– अपने कवित्व का प्रदर्शन करना इनका उद्‌देश्य नहीं रहा। ऐसे ग्रन्थो में लक्ष्मण के साथ उदाहरण या तो अन्य लोगों के काव्य से दिया गया है या फिर वह इतना संक्षिप्त रहा है कि उसमें कवित्व–जैसी बात नहीं रही। जसवंतसिंह का 'भाषा भूषण', याकूब खां का 'रसभूषण', रसिक स्मृति का 'अलंकारचन्द्रोदय', दलपतिराश वंशीधर का 'अलंकार रत्नाकर', गोविन्दका 'कर्णाभरण', दूलह का 'कविकुलकण्ठा भरण', रसरूप का 'तुलसीभूषण' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक है। द्वितीय प्रवृत्ति में रीतिकर्म और कविकर्म का समान महत्व रहा है। इसके अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में लक्षण और उदाहरण दोनों ही उनके रचयिताओं द्वारा रचित

है तथा उदाहरणों में सरसता का विशेष ध्यान रखा गया है। चिंतामणि, मतिराम, भूषण, देव, दास, कुलपति, श्रीपति, पद्माकर, ग्वाल आदि के रीति–निरूपण विषयक ग्रंथ इसी प्रकार के है। तृतीय प्रवृत्ति के अंतर्गत लक्षणों को महत्व नहीं दिया गया– ग्रंथकारों ने प्रायः सभी छन्दों को रचना काव्यशास्त्र के नियमों में बद्ध होकर करने पर भी लक्षणों के फेर में पडना उचित नहीं समझा। बिहारी, मतिराम, भूपति, चंदन आदि की सतसइयां, नख–शिखा–वर्णन संबंधी समस्त ग्रंथ तथा विभिन्न कवियों द्वारा रचित स्फुट छन्द इस प्रवृत्ति के परिधायक है। इन ग्रंथों की सबसे बडी विशेषता यही है कि ये मुख्यतः श्रृंगारी है।

NOTES

श्रृंगारिकताः–

श्रृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों की कविता का प्राण है। रीति–निरूपण की प्रवृत्ति के समान इस प्रवृत्ति के भीतर यद्यपि स्वतंत्र अंतः प्रवृत्तियां तो विद्यमान नहीं, तथापि एक ओर से काव्य शास्त्रीय बंधनों के निर्वाह के और से नैतिक बंधनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसे इतर कवियों की श्रृंगारिक प्रवृत्ति से सहज ही पृथक करके देखा जा सकता है। शास्त्रीय बंधनों ने तो इसे इतना रूढ बना दिया है कि श्रृंगार के विभाव–पक्ष में नायक–नायिकाओं के प्रत्येक भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभावों के विविध रूपों, प्रत्येक संचारी तथा संयोग के भीतर वर्णित हावादि को और वियोग के भेदोपभेदों– सहित विभिन्न कामदशाओं संबंधी रचनाओं के पृथक–पृथक वर्ग बनाये जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विषयों में से प्रत्येक से संबद्ध बिम्बों की रेखाएँ उभरकर अपने निर्माताओं की अभिरूचि और दृष्टि की व्यजंना के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताओं को प्रकट कर गयी है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन कवियों की श्रृंगार भावना में दमन से उत्पन्न किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थियां न होकर शरीर–सुख की वह साधना है जिसमें विलास के समस्त उपकरणों के संग्रह की ओर ही व्यक्ति की दृष्टि केन्द्रित रहती है– प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने अथवा वासना के उन्नयन का प्रयत्न नहीं होता। यही कारण है कि संयोग के नग्न चित्रों तथा नायकों की धृष्टताओं के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते समय इन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। क्योंकि इस प्रवृत्ति में विलासिता का प्राधान्य है, अतएव प्रेम–भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने कुछ इस प्रकार से ले लिया है कि कुण्ठारहित प्रेम की उन्मुक्तता रसिकता का रूप धारण कर गयी है। इसीलिए अनेक पत्नियों के बीच अकेला नायक किसी मानसिक तनाव का शिकार हुआ दृष्टिगत नहीं होता। निर्द्वंद्व होकर भोग करने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है– उसकी निर्द्वन्द्विता पत्नियों के आंसुओं से व्यक्त होने वाली निराशा और पीडा को ग्रहण ही नहीं कर पाती। वास्तव में नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामंतीय ही रही है। ये उसे पुरूष के समकक्ष समाज की चेतन इकाई अथवा पुरूष का अर्द्धांग न समझकर भोग्य सम्पत्ति के समान उसे भोग का मात्र उपकरण समझते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की श्रृंगारिकता में सामान्य रूप से इन्द्रियदमनजन्य कुण्ठाहीनता, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामंतीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुण–दोषों के रहते हुए भी ऐसी ताजगी है जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बंद रहकर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए आत्म विभोर कर सकती है।

राजप्रशस्तिः–

श्रृंगार के पश्चात् रीतिकालीन रीतिकवियों के काव्य का महत्वपूर्ण वर्ण्य–विषय राज–प्रशस्ति है। इस विषय से संबंधित रचनाएँ साधारण रूप से उन काव्यांगों– विशेषतः अलंकार और पिंगल(छंद शास्त्र) के निरूपण–विषयक ग्रंथों में उपलब्ध होती हैं जो किसी आश्रयदाता की आज्ञा से अथवा उसको प्रसन्न करने के लिए लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त ये रचनाएँ ऐसे स्वतंत्र ग्रंथों तथा स्फुट छन्दों के रूप में और मिल जाती है जो आश्रयदाता अथवा उसके किसी पूर्वज के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं आदि को पद्य बद्ध करने के उद्देश्य से रचे गये हैं। विषय सामग्री की दृष्टि से यदि इन रचनाओं का विश्लेषण किया जाय तो इन्हें मुख्यतः तीन वर्गों में रखा जा सकेगा।

NOTES

1. राज–वैभव 2. राज–विलास तथा 3. राज–विरता। इनमें राज–वैभव संबंधी रचनाओं के अंतर्गत सामान्यतः आश्रयदाताओं की श्री–वृद्धि करने वाली विभिन्न वस्तुओं का वर्णन किया गया है जिनमें राज–सम्पत्ति, राज–महल, और उनकी आंतरिक सज्जा, राजबल, और उसके हय–गज आदि अंग, राजव्यवस्था और उनमें मिलने वाली प्रजा के सुख तथा राजभूमि और उसके दर्शनीय वन–बाग–तालाब आदि स्थल मुख्य विषय हैं। राज–विलास संबंधी रचनाओं में आश्रयदाताओं की जलकेलि (जलकीड़ा), होली, वसन्त आदि पर्वो के उत्सव इत्यादि का वर्णन किया गया है। किन्तु संख्या की दृष्टि से ये रचनाएँ अपने आप में बहुत अधिक नहीं कही जा सकती। जहां तक राज–वीरता का प्रश्न है, उससे संबद्ध इस प्रशस्ति–काव्य में परिणाम बहुल वर्ण्य–विषय आश्रयदाताओं अथवा उसके किसी पूर्वज का पराक्रम है। इसमें साधारण रूप से अपने इष्ट व्यक्ति के बल और पराक्रम संबंधी दिगंतव्यापी (सभी दिशाओं में) यश, उसकी सेना के अतुलनीय साहस और पराक्रम तथा शत्रुओं को नष्ट कर डालने और मित्रों को ऊँचा उठाने के गुणों का वर्णन करने के साथ–साथ शत्रुओं की कायरता और शक्तिहीनता का प्रायः उल्लेख किया गया है।

भक्ति और दर्शनः–

रीतिकालीन रीतिकवियों की भक्ति और दर्शन संबंधी रचनाएँ मुख्यतः तीन रूपों में उपलब्ध होती है–

1. ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उसके आरंभ में गणेश, सरस्वती आदि देवी–देवताओं की स्तुति के रूप में,
2. स्फुट छंदों के अतिरिक्त रीति–निरूपण संबंधी ग्रंथों के भीतर यत्र–तत्र अलंकारादि के उदाहरणों के रूप में तथा।
3. तत्व चिंतन अथवा भक्तिपरक स्वतंत्र काव्य–ग्रंथों के रूप में इन रीतिकवियों कि रचनाएँ उपलब्ध होती है।

नीतिः–

भक्तिकाल और उससे पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्यों में यद्यपि पर्याप्त नीतिपरक रचनाएँ उपलब्ध होती है– यहां तक कि इस युग के वृन्द आदि रीतिमुक्त कवियों ने भी एतत्संबंधी ग्रन्थों का प्रणयन किया है तथापि रीति ग्रन्थकारों ने इसे इतने उत्साह के साथ ग्रहण नहीं किया जितने के साथ उन्होंने श्रृंगार, राज–प्रशस्ति अथवा भक्ति और दर्शन को किया है। ये रचनाएँ सामान्यतः रीतिनिरूपण संबंधी ग्रन्थों के अंतर्गत या तो उदाहरणों के रूप में यत्र–तत्र प्रस्तुत की गई है या फिर स्वतंत्र लक्ष्य ग्रन्थों का निर्माण करते समय उनमें किसी प्रसंग के अनुसार अथवा मौज में आकर इस विषय के कतिपय छन्द समाविष्ट कर दिये गये हैं। इन सभी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अभिव्यक्ति व्यापार की दृष्टि से पूर्ववर्ती नीतिकाव्य की परम्परा के अनुरूप होकर भी रचयिताओं के दीर्घ अनुभव से अनुस्यूत होने के कारण ये जहां विषय–वस्तु की दृष्टि से नवीन तथ लोक व्यवहार में सर्व साधारण के लिए उपादेय कही जा सकती है। यहां दूसरी ओर एक जैसी शैली में लिखित होकर भी प्रत्येक रचयिता के व्यक्तित्व तथा उससे संबद्ध घटना विशेष विषयक उसकी भावना को प्रकाशित करने वाली है।

3.6 घनानंद

3.6.1 परिचयः–

घनानंद रीतिकाल की रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा के सुप्रसिद्ध कवि है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इनका जन्म् संवत् 1746 में दिल्ली में हुआ तथा संवत् 1817 में वृंदावन में इनका देहावसन हुआ। ये दिल्ली के रहने वाले एक कायस्थ थे और सम्राट मुहम्मद शाह बादशाह के मीर मुंशी थे। एक दिन कुछ व्यक्तियों ने बादशाह से यह प्रशंसा की कि घनानंद गाने में बहुत प्रवीण है। इसे सुनकर बादशाह ने इनसे गाने का आग्रह किया। ये गाने

को राजी नहीं हुए। तब किसी ने कहा कि यदि इनकी प्रेमिका सुजान वेश्या कहे तो ये अवश्य गायेंगे। सुजान को दरबार में बुलाया गया। उसके कहने से घनानंद ने गाना गाया। उस समय उन्होंने सुजान की ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ कर गाना गाया था। घनानंद के गाने से सारा दरबार प्रसन्न हो गया। बादशाह को भी बहुत पसंद आया। परन्तु उनके कहने से न गाने की बात पर बादशाह को क्रोध भी आया। उन्होंने घनानंद को शहर से निकल जाने की आज्ञा दी। जब घनानंद चलने लगे तब उन्होंने सुजान को भी अपने साथ चलने को कहा। घनानंद के आग्रह पर भी सुजान उनके साथ नहीं गयी। तब इन्हें बहुत आघात पहुँचा और ये विरक्त हो गये तथा वृंदावन में जाकर रहने लगे।

घनानंद की मृत्यु के बारे में विद्वानों के दो प्रकार के मत है। प्रथम मत के अनुसार नादिरशाह के आक्रमण के समय मथुरा में सैनिकों द्वारा घनानंद की मृत्यु हुई। किन्तु इस मत का खण्डन इस आधार पर हो जाता है कि नादिरशाह द्वारा किया गया कत्ले आम दिल्ली में हुआ था न कि मथुरा में। दूसरे इस आक्रमण और घनानंद की मृत्यु के समय में ही अंतर है। द्वितीय मत ही अब मान्य है, वह यह की संवत् 1817 (सन्1660 ई.) में अब्दुलशाह दुर्रानी ने जब दूसरी बार मथुरा में कत्लेआम किया था इसी में घनानंद की मृत्यु हुई। लेकिन यह निर्विवाद है कि उसी कत्लेआम में सिपाहियों ने इन्हें घेर लिया और जर–जर–जर (धन–धन–धन) मांगा। इस पर इन्होंने जर का उलट कर रज–रज–रज कह कर तीन मुट्ठी धूल उन पर फेंक दी। सिपाहियों ने क्रोध में आकर इन पर हमला कर दिया था। उसी हमले में घनानंद की मृत्यु हो गई थी।

घनानंद द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थ है। सबसे पहले भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने 'सुजान शतक' नामक पुस्तक में घनानंद कवित्तों का संकलन किया। इसके अतिरिक्त 'सुजानहित' तथा 'सुजान सागर' नामक संकलन भी प्रकाश में आया। इस क्षेत्र में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा घनानंद पर किया गया शोध कार्य बड़ा सार्थक सिद्ध हुआ। उन्होंने घनानंद के कवित्तों को संकलित कर तीन पुस्तकें प्रकाशित की। प्रथम 'घनानंद कवित्त' जिसमें 502 कवित्त संग्रहित है। द्वितीय संकलन सन् 1945 में प्रकाशित हुआ जिसमें कवित्त

सवैयों के अतिरिक्त घनानंद के 500 पद तथा उनकी ' वियोग बेलि', 'यमुना यश', 'प्रीति पावस' तथा 'प्रेम पत्रिका' रचनाओं का संग्रह है। इसके बाद सन् 1952 में घनानंद की अन्य 36 कृतियों का संकलन करते हुए 'घनानंद ग्रंथावली' का प्रकाशन हुआ।

घनानंद की रचनाओं में मधुर उक्तियों की कमी नहीं है।स्वच्छन्द काव्य की जितनी भी विशेषताएँ हो सकती है वे सब प्राय: इनके काव्य में मिल जाती हैं। इनकी रचनाओं की सबसे बडी विशेषता यह है कि ये रीतिकाल के आधार पर नही रची गई। इनका अपना स्वतंत्र मार्ग है। रीतिमुक्त मार्ग है।

3.7 घनानंद की प्रेमानुभूति

घनानंद हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट स्वच्छन्द प्रेमि कवि है।इनकी कविता प्रेमोदगारों की अक्षय निधि है और हिन्दी काव्य की चिर स्थायी सम्पत्ती है। इनकी प्रेम व्यजंना में इतनी आकुलता, इतनी व्यथ एवं इतनी पीडा है कि कठोर से कठोर श्रोता एवं पाठक भी द्रवित हो जाते हैं और उसमें संयोग–सुख की इतनी मादकता एवं उल्लास भावना भी भरी हुई है कि सहृदयों को आनंद विभोर कर देती है। इनकी प्रेमानुभूति में आत्मानुभूति का सर्वाधिक योग है। इसी कारण उसमें अधिक नवीनता, आकर्षण एवं अलौकिकता के दर्शन होते है। सुविधा की दृष्टि से घनानंद की प्रेमानुभूति को निम्न प्रकार से विभक्त किया गया है –

प्रेम की लौकिक महत्ता:–

घनानंद के प्रेम का मूलाधार सुजान वेश्या थी, जिसके प्रति घनानंद का तीव्रानुराग था। उनका यही लौकिक प्रेम उस वेश्या के कपट,छल एवं निष्ठुर व्यवहार के कारण अलौकिकता में परिणत हो गया था, परन्तु

NOTES

घनानंद के हृदय से उस लौकिक प्रेम की चसक, वासना की ललक एवं रूप की चटक मिटी नहीं थी। इतना अवश्य है कि वे लौकिक वेश्या के प्रेम को भगवान कृष्ण के प्रेम में परिणत करने में पूर्ण सफल रहे और उनका यह लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ, परन्तु उस अलौकिकता का मूलाधार लौकिक प्रेम ही है, लौकिक वासना नहीं हैं, लौकिक ललक ही है, जिसने घनानंद को 'महानेही' बना दिया था, प्रेम के महोदधि में निमग्न कर दिया था, चाह के रंग में भीगों दिया था, जोग–वियोग की रीति में कोविद (विद्वान) बना दिया था और 'बिछुरै मिले प्रीतम सांति न मानै' की भावना वाला कर दिया था। इसलिए घनानंद के इस उपालम्भ में वही लौकिक प्रेम हिलोरें ले रहा है–

क्यों हंसि हेरि हरयो हियरा अरू क्यों हित कै चित्त चाह बढाई।
काहे को बोलि सुधासने बैननि चैननि मैन–निसैन चढाई।।
सो सुधि यो हिय मैं घन आनन्द सालति क्यों हूँ कढै न कढाई।
मीत सुजान अनीत की पाटी इतै पै न जामिये कौने पढाई।।

प्रेम मार्ग की निश्छलताः–

घनानंद सच्चे प्रेमी थे। भले ही उनके प्रिय ने उनके साथ विश्वासघात किया, उन्हें दगा दी और उनका साथ नहीं दिया, किन्तु वे एक निश्चल प्रेमी थे और प्रेम के पक्ष में निश्छलता एवं निष्कपटता को ही अत्यधिक महत्व देते थे। अपनी इसी निश्छलता की ओर संकेत करते हुए आपने लिखा है–

अति सूधो सनेह को मारग है जहां नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलै तजि अपुनपी झझके कपटी जे निसाँक नहीं।।
घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एक ते दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढे हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।

घनानंद की नैसर्गिकताः–

घनानंद के प्रेम में आडम्बर एवं कृत्रिमता के लिए तनिक भी स्थान नहीं था, क्योंकि घनानांद स्वाभाविक प्रेम के पुजारी थे, स्वच्छन्दता के भक्त थे और अपनी तरंग में आकर प्रेम का निरूपण करते थे। ऐसे मनमौजी कवि को किसी बादशाह की इच्छा–तुष्टि की भला क्यों चिंता होने लगी। इसीलिए घनानंद ने अपने युग की रूढियों को तोडकर कविता लिखी, अपने युग के स्वर में स्वर न मिलाकर प्रेम की सर्वथा स्वतंत्र व्यंजना की और तत्कालीन प्रेम–व्यंजक परिपाटी से सर्वथा निरपेक्ष होकर स्वानुभूति प्रेम की अभिव्यक्ति की। वे जानते थे कि उनके प्रिय के अनेक प्रेमी हो सकते हैं, परन्तु घनानंद के तो रोम–रोम में वहीं प्रिय बसा हुआ है। अपनी इसी नैसर्गिक प्रेम की व्यजंना करते हुए तथा चन्द्रमा और चकोर नैसर्गिक प्रेम से अपनी तुलना देते हुए लिखा है–

बाहौ अनबाहौ जान प्यारे पै अनन्दघन,
प्रीति–रीति विषम सु रोम–रोम रमी है।
मोहिं तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आहिं,
कहा कछू चदहिं चकोरन की कमी है।।

प्रेम की कष्ट सहिष्णुताः–

घनानंद सचमुच ही प्रेम के दीवाने थे। वे प्रेम मार्ग में सभी प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिए तैयार थे। यदि उनका प्रिय अपने प्रेमी की चिंता न करके निष्ठुरता, कठोरता एवं निर्दयता का ही व्यापार कर रहा था, तो

घनानंद अपने निष्ठुर एवं निर्दय प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने के लिए अपने को आशा की रस्सी से बांधकर भरोसे की शिला छाती पर रखकर अपने प्रेम प्रण रूपी सिन्धु में डूबने को तैयार थे, इसीलिए तो घनानंद लिखते हैं–

आसा–गुन बांधि कै भरोसो–सिल धरि छाती,
पूरे मन–सिन्धु में न बूढत सकाय हौं।
दीह दुख–दव हिय जारि उर अंतर,
निरंतर यों रोम–रोम त्रासनि नवाय हौं।।

सौन्दर्य प्रियताः–

घनानंद के प्रेम का मूल कारण उनकी प्रेयसी सुजान का अनिंद्य सौन्दर्य था, जो कवि घनानंद के रोम–रोम में बसा हुआ था, क्योंकि वे उसकी सहज सुकुमारता, स्वाभाविकता, मधुरता एवं प्राकृतिक सुन्दरता को देखकर ही उसके सच्चे प्रेमी बने थे। इसीलिए घनानंद के हृदय में प्रेयसी सुजान की 'तिरछी चितौनि', 'चंचल विसाल नैन', 'तूमरे कटाछि', 'रसीली हँसी', 'बडी–बडी अंखियाँ', 'चीकने चिहुर', 'जोबन–गरूर–गरूबाई', 'रस–रासि–निकाई', 'नवजोबन की सुथराई', 'नेह–ओपी–अरूनाई', आदि 'रूप निकाई' समाई हुई थी और इसी कारण उनके हृदय में प्रिय के सौन्दर्य का अथाह सागर हिलौरें लेता रहता था। उन्होंने अपनी प्राणप्रिया अलबेली सुजान के इसी अनिंद्य सौन्दर्य का स्थान–स्थान पर उल्लेख किया है।

स्याम घटा लिपही थिर बीज कि –सोहै अमावस अंक उज्यारी।
घूम के पुंज मैं ज्वाल की माल–सी पै दृग–सीतलता–सुखकारी।।
कै छकि छायौ सिंगार निहारि सुजान–तिया–तन–दीपति प्यारी।
कैसी फबी घन आनन्द वोपनि सों पहिरी चुनि सॉवरी सारी ।।

संभोगशीलताः–

घनानंद की प्रेमानुभूति में श्रृंगार के संयोग या संभोग का हर्ष, उल्लास एवं सुख भी भरा हुआ है। यद्यपि घनानंद ने थोडे से छन्दों में ही प्रेम श्रृंगार के संयोग पक्ष का निरूपण किया है जिसमें संभोग सुख की उमंग, मिलन का उल्लास, आनंद क्रीडा की आतुरता, रति सुख का उत्साह, सामीप्य लाभ का हर्ष तथा संसर्ग की लालसा का उद्दाम वेग भरा हुआ है। घनानंद ने इसीलिए संयोग–सुख के आनन्द से प्रफुल्लित रोम–रोम का तथा अंग–अंग से फूटते हुए हर्षोल्लास का सजीव चित्रण किया है–

ललित उमंग बेली आलबाल अंतर ते,
आनंद के घन सींचा रोम रोम हवे चढी।
आगम–उमाह–चाह छायी सु उछाह रंग,
अंग–अंग फूलनि दुकूलनि पैर कढी।।

विरहाकुलताः–

घनानंद के प्रेम में जहां संयोग का हर्ष उल्लास परिलक्षित होता है, वहाँ विरह का अथाह सागर हिलौरें लेता हुआ दिखाई देता है। घनानंद विरह के ही कवि हैं, क्योंकि उन्होंने प्रेम के मिलन पक्ष की अपेक्षा विरह एवं वियोग पक्ष का अधिक आतुरता, तत्परता, तल्लीनता एवं तीव्रता के साथ निरूपण किया है। सुजान का यह विरह घनानंद के लिए वरदान सिद्ध हुआ है और घनानंद ने भी अपनी विरहाकुलता का निरूपण करके सुजान एवं सुजान के प्रेम को अमर बना दिया है।

NOTES

इस प्रकार घनानंद का प्रेम स्थूल नहीं, अपितु सूक्ष्म है। उसमें अश्लीलता एवं काम–वासना नहीं हैं, अपितु दिव्यता एवं पवित्रता है, क्योंकि घनानंद ने सर्वत्र शारीरिक भोगों की अपेक्षा भावना द्वारा प्रिय की सान्निध्य प्राप्ति की आकांक्षा प्रकट की है। इसी कारण घनानंद की प्रेमानुभूति अनिर्वचनीय है, वह प्रेमी की मूक पुकार है और पूर्णतया अनुभव गम्य है।

3.8 घनानंद की विरहानुभूतिः–

विरह प्रेम की कसौटी है। जो विरही इस कसौटी पर खरा उतरता है, वहीं सच्चा प्रेमी माना जाता है, क्योंकि प्रेम का सात्विक रूप विरह है, जबकि संभोग प्रेम का राजस रूप है। संयोग से प्रेमी वासना का शिकार बना रहता है, जबकि वियोग मे वह वासना से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वैसे भी संयोग में प्रेम के वास्तविक रूप का पता नहीं चलता, क्योंकि प्रेमियों के हृदय में एक दूसरे के प्रति कितनी दृढता है, कितनी निष्ठा है, कितनी आतुरता है, कितनी तीव्रता है और कितनी चाह है, इसका ज्ञान विरह में ही होता है। विरह प्रेमी की दृढता का परिचायक होता है, विरह ही उसकी निष्ठा एवं उत्कंठा का द्योतक होता है, और विरह ही एक प्रेमी की प्रिय के प्रति उत्कट चाह, तीव्र आकांक्षा,सुदृढ लालसा एवं उद्दाम आकुलता का ज्ञापक होता है। इसीलिए विरह काव्य सर्वाधिक हृदय द्रावक, चित्ताकर्षक एवं संवेदनात्मक होता है। घनानंद भी ऐसे ही विरही कवि है, जिनके हृदय में अपनी प्रेयसी 'सुजान' की उत्कट विरह भावना भरी हुई है। सुविधा की दृष्टि से घनानंद के विरह निरूपण को निम्न प्रकार से विभक्त किया गया है –

रूपासक्ति की प्रधानता :–

घनानंद के उत्कट विरह का मूल कारण यह है कि उनकी 'अलबेली सुजान' अनिज्ञ सुन्दरी थी, उसमें उन्हें अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन हुए थे और वे उस सौन्दर्य को नित्य देखते रहना चाहते थे। कारण यह था कि वह रूप नित्य नया–नया प्रतीत होता था और उस रूप पर उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था। परन्तु दुर्भाग्य ! वह रूप उनकी आंखों से ओझल हो गया, उन्हें फिर देखने को नहीं मिला और वे अपनी उस पागल रीझ (मोह,प्रेम) के हाथों बिककर रात–दिन वियोग की आग में जलते रहे–

रावरे रूप की रीति अनूप नयो–नयो लागत ज्यौं–ज्यौं निहारियै।

त्यौं इन आंखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहि आन तिहारियै।।

एक ही जीव हुतो सु तौ वार्‌यौ सुजान सँकोच और सोच सहारियै।

रोकी रहे न, दहै घन आनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै।।

हृदय की मौन पुकार की अधिकताः–

घनानंद का विरह बौद्धिक नहीं है, वह उनके हृदय की सच्ची अनुभूति है और जहां विरह बौद्धिक होता है, वहां प्रदर्शन एवं आडम्बर का आधिक्य देखा जाता है, किन्तु जहाँ विरह हृदय की अनुभूति होती है वहां प्रदर्शन एवं आडम्बर कहाँ। वहां तो हृदय की टीस, प्राणों की तडपन एवं आकुलता बाहर नहीं सुनाई पडती, क्योंकि हृदय बोल नहीं पाता, वह मौन रहकर ही धडकता रहता है।

अंतर–आँच उसास तचै अति, अंत उसीजै उदेग की आवस।

ज्यौं कहलाय मसोसनि ऊमस क्यों हूँ कहूँ सुघरै नहीं थ्यावस।।

प्रिय–जन्य निष्ठुरता :–

घनानंद के विरह की तीव्रता एवं उत्कटता का मूल कारण यह है कि उनका प्रिय बडा कठोर है, निर्दय है, निष्ठुर है तथा विश्वास घाती है। उनको इसकी तनिक भी परवाह नहीं है, वह इनकी दुर्दशा देखकर तनिक भी नहीं पसीजता और अब उसने जान–पहचान भी मिटा डाली है। वह निष्ठुरता एवं कठोरता का व्यवहार करके अब रात–दिन जलाता रहता है।

भए अति निठुर मिटाय पहिचानि डारी,
याही दुख हमैं जक लागी हाय हाय है।
तुम तो निपट निरदई गई भूमि सुधि,
हमैं सूल–सेलनि सो क्यों हूँ न भुलाय है।।

प्रेमगत विषमता:–

घनानंद के विरह में सबसे बडी विशेषता यह है कि यह एकांकी है, सम नहीं है, अपितु विषम है, क्योंकि जो तडपन है, चीत्कार है, जलन है, धडकन है वह एक ओर ही है– केवल प्रेमिका ही हृदय अपने प्रिय (प्रेयसी सुजान) के विरह में रात–दिन तडपता रहता है। लेकिन उनके प्रिय के हृदय में विरह की तनिक भी आग नहीं है, तनिक भी चाह नहीं है। परन्तु प्रेमी घनानंद को इसकी चिंता नहीं है कि उनका प्रिय उनके प्रति कैसे भाव रखता है, वे तो अपने प्रिय के अनन्य प्रेमी है और उनके रोम–रोम में प्रीति बसी हुई है–

चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनन्दघन,
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है।

उपालम्भ की तीव्रता :–

घनानंद के विरह हमें उपालम्भ अत्यंत गूढता एवं गम्भीरता के साथ दृष्टिगोचर होता है। इस उपालम्भ में विरह के प्रेम की एक निष्ठा भरी हुई है, उत्कटता भरी हुई है और प्रिय के प्रेम की उदासीनता भी भरी हुई है। इसीलिए इन उपालम्भों में विरही ने स्वयं को अत्यंत दीन, हीन, दुखी, विनम्र एवं अनन्य प्रेमी कहा है तथा अपने प्रिय को कपटी, विश्वासघाती, छली, निर्मोही, सभी प्रकार के सुख सम्पन्न एवं प्रेम रहित कहा है। अपने प्रेम को इसी अन्यनता एवं एक निष्ठा तथा प्रिय की उदासीनता एवं कपट व्यवहारपूर्ण कठोरता पर उपालम्भ देते हुए लिखा है–

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेक सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलै तजि आतुनपौ झाँझके कपटी जे निसाँक नहीं।।

अंग प्रत्यंग की आकुलता:–

घनानंद के विरह में आंख,कान, हृदय, प्राण आदि अंग प्रत्यंगों की अत्यधिक आकुलता, बेचैनी एवं दयनीय स्थिति का चित्रण हुआ है। इसका कारण है कि विरही घनानंद के सारे शरीर में विरह का विष फैला हुआ है, अंग प्रत्यंग में विरह की आग लगी हुई है, जिससे उनके प्राण नित्य दहकते रहते हैं, नेत्र मदमाते होकर आंसू बहाते रहते हैं।

जिनकों नित नीकें निहारति ही तिनकों आंखिया अब रोवति हैं।
पल–पाँवडे पायनि चायनि सौं अंसुवानि की धारनि धोवति हैं।।

NOTES

प्रकृति जन्य उद्दीपनः–

घनानंद को विरह वेदना की तीव्र से तीव्रतम बनाने में प्रकृति का भी अत्यधिक हाथ रहा है। कारण यह है कि प्रकृति के ये उपादान विरही के ऊपर कहर ढाने का काम करते हैं। कभी पुरवैया हवा चलकर, तो कभी बादल घिरकर, कभी बिजली चमकरक, तो कभी पुष्प अपनी सुगंध से, तो कभी कोकिला कूक कर, बिचारे विरही को रात–दिन सताते हैं–

कारी कूर कोकिला! कहां कौ बैर काढति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किन कोरि लै।

संदेश–प्रेषणीयताः–

घनानंद के विरह में एक सबसे बडी विशेषता यह भी है कि इसमें विरही अपने विरह के संदेश को बडे अनूठे ढंग से अपने प्रिय के पास भेजती है। उसने इस दूत कार्य के लिए ऐसे धीर गंभीर विरही को चुना है, जो उसी की तरह विरह की आग को अपने हृदय में छिपाये हुए हैं, जो उसी की तरह प्रिय के वियोग में मदमत होकर घुमता रहता है, जो दुसरों के लिए ही अपना शरीर धारण किए हुए है और जो दूसरों के के लिए ही उत्पन्न होने के कारण परजन्य (बादल) कहलाता है। एसे धीर गंभीर सज्जन से दूत कार्य कराना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि वह समुद्र के खारे पानी को भी अमृत तुल्य बना देता है और सबको जीवनदान देता है।

पर काजहिं देह को धारि फिरौं परजन्य जथारथ है दर सौ ।
नीधि–नीर सुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ।।
घनआनन्द जीवन दायक है कुछ मेरीयों पीर हियै परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानि हुँ लै बरसौ।।

सात्विकता एवं आध्यात्मिकता :–

घनानंद के विरह में अन्तिम और सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमें तनिक भी वासना की गंध नही है, कहीं भी अश्लीलता नही है, किसी भी स्थल पर कामुकता नहीं है और कोई भी उक्ति कामपरक नही है। यहां प्रत्येक पद में सात्विकता है, प्रत्येक पद प्रेम की पवित्रता है, प्रत्येक छंद मे प्रेम की दिव्यता है और प्रत्येक उक्ति में काम–जन्य वासना से सर्वथा परे आध्यात्मिक वंदना की शुद्धता है।

लहा छेह कहाधौं मचाय रहे ब्रजमोहन हौ उत नींद भरे हौ।
मिली होति न भैंट दुरे उघरौ ठहरै ठहरानि के लाम परे हौ।।
बिछुरै मिलिजात मिलै बिछुरै यह कौन मिलाप के ढार ढरे हौ।
घनाआनंद छाय रहौ नित हो हित प्यासनि चातक ज्ञात परे हौ।।

घनानंद की विरहानुभूति में शुद्ध एवं सात्विक विरह की व्यंजना की हुई है, इसमें हृदय की गहराई अधिक है। अपनी यथार्थता, सात्विकता, पवित्रता एवं आध्यात्मिकता के कारण ही घनानंद की विरहानुभूति सर्वोत्कृष्ट है और अपनी इसी सात्विक विरह–भावना के कारण घनानंद हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट विरही कवि है।

3.9 घनानंद का काव्य–सौष्ठव :

प्रत्येक कवि का काव्य उसकी गहन अनुभूतियों का भण्डार होता है। यह अनुभूतियां विविध रूप ग्रहण करके व्यक्त हुआ करती है। कभी वे विविध वस्तु वर्णनों के रूप में व्यक्त होती है, कभी विविध भावों के रूप में

प्रकट होती है, कभी विविध रसों के रूप में अभिव्यंजित होती है और कभी विविध सौन्दर्यों के सजीव चित्रों के रूप में परिलक्षित होती है। अनुभूतियों के इन सभी रूपों को काव्य का अनुभूति पक्ष या भावपक्ष कहते हैं। जब ये अनुभूतियां वाणी के कलात्मक सौन्दर्य से ओत–प्रोत होकर संगीत की मधुर तान, सरस, लय, या स्वाभाविक गति एवं यति के साथ अभिव्यक्त होती है, तब इस अभिव्यक्ति को काव्य का अभिव्यक्त पक्ष या कलापक्ष कहते हैं।

NOTES

3.9.1 घनानंद का अनुभूति पक्ष या भावपक्ष

घनानंद की अनुभूति पक्ष या भावपक्ष का समयक् अनुशीलन करने के लिए उनके काव्य में भी यह देखने की चेष्टा की जाएगी कि घनानंद ने विविध वस्तुओं के वर्णन कैसे किये है, विविध भागों के निरूपण में कैसा कौशल दिखाया है, विविध रसों की अभिव्यंजना में कैसी दक्षता प्रकट की है और विविध सौन्दर्य चित्रों को अंकित करने में अपनी जो कला–चातुरी व्यक्त की है, उसे निम्न भागों में विभक्त किया गया है –

वस्तु वर्णन :–

घनानंद ने ब्रज प्रदेश के प्रति अपनी गहन आस्था एवं असीम श्रद्धा व्यक्त की है, और इसी कारण उन्होंने ब्रज के गांवों, नगरों, यमुना, वृन्दावन आदि का अत्यंत सजीवता से निरूपण किया है।

जमुना तीर गांव की राजनि । कहा कहौं गोकुल–छवि–छाजनि।।
गोकुल–छवि ऑखिनि हीं भावै । रही न सकै रस न कछु गावै ।।

इसी तरह ब्रज के अन्य स्थानों का वर्णन करते हुए घनानंद ने सर्वाधिक वृन्दावन की मंजुल छवि का निरूपण किया है–

वृन्दावन छवि कहत न आवै। सौ कैसे कहि कोऊ गावै ।।
तीर भूमि बनि रह्यौ सदावन। जै जमुना जै जै वृन्दावन ।।

इसी प्रकार घनानंद ने ब्रज के घर, गांव, गली, गलियारे, घाट, पनघट, गोपी, गौप, ग्वाल – बाल, गाय, वृन्दावन, बरसाना, गोवर्धन आदि का अत्यंत विस्तृत वर्णन किया है।

प्रकृति चित्रण :–

घनानंद ने प्रकृति के अत्यंत रमणीय चित्र अंकित किये हैं। वे सच्चे प्रकृति प्रेमी थे और प्रकृति के साथ उनका साहचर्य भी अधिक रहा था। इसीलिए उन्होंने प्रकृति के अनेक सुन्दर एवं सजीव चित्र अंकित किये हैं।

घुमड़ि पराग लता–तरु भोए। मधुरितु–सौरभ–सौंज–समोए ।।
वन बसंत वरनत मन फूल्यौ। लता–लता झूलनि संग झूल्यो ।।

प्रकृति के आलंबन रूप की अपेक्षा घनानंद ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण अधिक सरसता एवं मार्मिकता के साथ किया है, क्योंकि घनानंद का काव्य विरह प्रधान है और विरह में प्रकृति प्रायः विरही जनों के भावों को उद्दीप्त करती हुई दिखाई जाती है।

लहकि लहकि आवै ज्यौं ज्यौं पुरवाई पौन,
दहकि दहकि त्यौं त्यौं तन तांवरे तवै।
बहकि बहकि जात बदरा बिलोकें हियौ,
गहकि गहकि गहबरनि गरै मवै।

NOTES

चहकि चहकि डारै चपला चखनि चाहैं,
कैसे घन आनन्द सुजान बिन ज्यौं बचे ।

भाव निरूपण :–

घनानंद की कविता विविध भावों का भण्डार है, क्योंकि घनानंद ने ऐसे ऐसे मार्मिक भावों का चित्रण किया है कि देखते ही बनता है और एक साधारण कवि वहां तक पहुँच नहीं सकता। घनानंद की इस भाव निरूपण पद्धति पर सर्वत्र उनके गहन प्रेम की छाप है इसी कारण उनके सभी भाव चित्र इतने मनोरजक एवं आकर्षक बन पडे हैं कि पाठकों एवं श्रोताओं के ह्रदय उन्हें पढ़कर एवं सुनकर आनंद के सागर में डूबकियां लगाने लगते हैं।

नैन कहैं सुनि रे मन! कान दै क्यों इतनी गुन मेहि दयौ है।
सुन्दर प्यारे सुजान कौ मन्दिर बाबरे तू हम ही ते भयौ है।।
लोभी तिन्हें तन कों न दिखावत ऐसो महामद छाकि गयौ है।
कीजिए जू घन आनंद आय कै पायै परौ यह न्याय नयौ है।।

इसी तहर घनानंद ने उपालम्भ के द्वारा 'स्मृति' का चित्र अंकित करते हुए आवेग, अमर्ष, उग्रता, ग्लानि आदि भावों का बड़ा ही मार्मिक निरूपण किया है–

क्यों हंसि हेरि हर्‌यो हियरा अरू क्यों हित कै चित्त चाह बढाई।
काहे को बोलि सुधासने बैननि बैननि मैन–निसैन चढाई।।
सो सुधि मोहिय मैं घन आनन्द सालति क्यों हूँ कढै न कढाई।
मीत सुजान अनीत की पाटी इतै पै न जानियै कौने पढाई।।

रस निरूपण :–

घनानंद ने मुख्यतया संयोग श्रृंगार, वियोग श्रृंगार एवं भक्ति का निरूपण किया है। इसमें से भी घनानंद वियोग श्रृंगार के ही कवि है, वियोग के ही अद्वितीय चितेरे हैं। और इनके काव्य में वियोग श्रृंगार का ही पूर्ण परिपाक अधिक मार्मिकता एवं सजीवता के साथ हुआ है। इसीलिए वे अपनी संजीवन–मूर्ति 'सुजान' के वियोग में रात–दिन व्यथित रहते हैं। सोने पर भी सो नही पाते, जागने पर भी जाग नहीं पाते, एक विचित्र सी पीड़ा नित्य आँखों में रह रहकर आती हैं, अमृत विष तुल्य प्रतित होता है,

फूल शूल जैसे लगते है, चन्द्रमा अंधकार उगलता जान पडता है, पानी सम्पूर्ण अंगों को जलाता है, राग–रागनियां अच्छी नहीं लगती, गुण दोष मे बदल गये है, औषधियां रोग पैदा करने वाली हो गयी हैं और रस विरस जान पड़तें हं । इस तरह 'सुजान' के मन फेर लेने से दिन भी फिर गये हैं। और न जाने अब कैसे दिन बीतेंगें। घनानंद ने इस व्यथा एवं पीड़ा का मार्मिक निरूपण किया है –

सुधा तें स्त्रवत विष, फूल में जगत सूल,
तम उगिलत चंदा, भई नई रीति है।
जल जारै अंग, और राग कर सुर भंग,
संपति विपति पारै, बडी विपरीत है।।
सहागुन गहै दोषै, औषधि हूँ रोग पोषै,

ऐसे जान रस माहिं बिरस अनीति है।
दिनन को फेर मोहिं तुम मन फेरि डार्‌यो,
एहो घनाआनंद ! न जानौं कैसे बीति है।।

सौन्दर्य चित्रण :–

घनानंद ने रूप सौन्दर्य के कितने ही अत्यंत मनोहारी चित्र अंकित किये हैं, जिनमें अपनी प्राणप्रिया 'अलबेली सुजान' की विविध रूप छवियाँ अत्यंत माधुर्य एवं गाम्भीर्य के साथ विद्यमान है। घनानंद ने इन रूप–चित्रों में आँख, नाक, कान, मुख, अंग–प्रत्यंग आदि को अलग–अलग दिखाने की उतनी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती, जितनी कि उन्होने सम्पूर्ण अंग की अतिशय रमणीयता एवं प्रभाविष्णुता को दिखाने का प्रयास किया है। घनानंद के इन सौन्दर्य–चित्रों में सुजान का रूप, उसका लावण्य, उसका यौवन, उसकी छवि, उसकी कान्ति, उसकी अंग–दीप्ति आदि मानों साकार हो उठी है–

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस–अंग उज्यारी।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलता–सुखकारी।।
कै छवि छायौं सिंगार निहारि सुजान–तिया–तनं–दिपति प्यारी ।
कैसी फबी घन आनन्द चोपनि सौ पहिरी चुनि सोंवरी सारी ।।

इसी प्रकार घनानंद ने अंग–अंग में द्युति की तरंग उठने वाले पार्थिव रूप–सौन्दर्य को बड़ी तन्मयता एवं तत्परता के साथ शब्दों में डालकर अंकित किया है।

3.9.2 घनानंद का अभिव्यक्ति पक्ष या कला पक्ष :–

किसी कवि के अभिव्यक्ति पक्ष से तात्पर्य उसकी उस वर्णन पद्धति से है, जिसमें वह अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। इसके लिए वह अनेक उपकरणों का सहारा लेता है और इन उपकरणों द्वारा कलात्मक ढंग से अपनी अनुभूति को वाणी प्रदान करता है। इसलिए अभिव्यक्ति पक्ष को कला पक्ष भी कहते हैं और इसके अन्तर्गत कला के वे सभी उपकरण आते हैं, जिनके माध्यम से अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है, अर्थात भाषा, अलंकार, गुण, वृत्ति, शब्द शक्ति, छन्द आदि कला को सम्पूर्ण अवयवों का विवेचन अभिव्यक्ति पक्ष के अन्तर्गत होता है।

भाषा :–

घनानंद ने ब्रजभाषा में अपनी सरस काव्य–धारा प्रवाहित की है। उनकी ब्रजभाषा में सर्वत्र स्वच्छता, एकरूपता एवं सुघडता के दर्शन होते हैं। घनानंद ब्रजभाषा के अत्यंत प्रवीण कवि थे। इसी कारण उनकी भाषा के अनुकूल चलने की अपूर्व शक्ति दिखाई देती है, वह नई–नई भंगिमाओं के द्वारा भावों को प्रस्तुत करने में बड़ी निपुण जान पडती है और उसका रचना–कौशल कारीगरी तथा रूप–विधान सभी कुछ असाधारण एवं अद्वितीय जान पडता है। घनानंद का भाषा पर इतना अधिक अधिकार दिखाई पडता है कि वह कवि की वशवर्तिनी होकर उनके इशारे पर नाचती है, उनके कहने पर चलती है, उनके आदेश पर कार्य करती है। ऐसा जान पडता है कि घनानंद ब्रजभाषा की नाडी पहचानते थे, उसके निश्चित प्रयोगों को जानते थे और उसकी नस–नस से परिचित थे। इसी प्रकार घनानंद ने बड़ी स्वच्छता और सुन्दरता के साथ ब्रजभाषा का प्रयोग किया हैं, उसके एक–एक शब्द की स्थापना की है और उसे अपने अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए गति प्रदान की है। ब्रजभाषा पर ऐसा साधारण अधिकार अन्य किसी हिन्दी कवि का दिखाई नहीं देता । घनानंद की भाषा साफ–सुथरी और अत्यंत निखरी है तथा उसमें भावों के निरूपण की अनन्त शक्ति भरी हुई है।

शब्द शक्ति :–

शब्द की तीन शक्तियाँ होती है– अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। जिनमें ये शक्तियाँ होती हैं, वे शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं– वाचक, लक्षक और व्यंजक । ऐसे ही इनके अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं– वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ । घनानंद के काव्य में लक्षक तथा व्यंजक शब्दों एवं लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की प्रधानता है। घनानंद ने सबसे अधिक उक्ति–वैचित्र्य का सहारा लिया है। इसलिए इनके काव्य में अभिधा की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का प्राधान्य है। घनानंद की उक्तियों में सर्वाधिक लक्ष्यार्थ की बहुलता है। इसी कारण इनका काव्य लक्षणा–प्रधान माना जाता है। कविवर घनानंद ने उक्ति–चमत्कार के लिए, भावों को गहन बनाने के लिए तथा सरसता उत्पन्न करने के लिए ही लाक्षणिक प्रयोगों को अधिक अपनाया है।

अलंकार :–

काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी कथन में चारूता एवं भव्यता लाने के लिए होता हैं। इसीलिए अलंकारों को कथन की प्रणाली बतलाया गया है, भावों को तीव्रता प्रदान करने वाली योजना कहा गया है और वस्तुओं के रूप, गुण एवं किया को अधिक तीव्र गति से अनुभव कराने वाली युक्ति बतलाया गया है। निस्संदेह अलंकारों के दो ही कार्य होते हैं– एक तो वे भावों का उत्कर्ष दिखाया करते हैं और दूसरे वे वस्तुओं के रूपानुभव गुणानुभव और कियानुभव को तीव्रता प्रदान करते हैं। घनानंद के काव्य में जहाँ रस और भावों का आधिक्य है वहाँ अलंकारों ने उन्हें और भी अधिक सजीवता एवं प्रभविष्णुता (दूसरों पर प्रभाव डालने वाला) प्रदान की है। घनानंद ने दोनों प्रकार के अलंकार अपनायें हैं, यहाँ शब्दालंकार भी है और अर्थालंकार भी।

गुण :–

काव्य के तीन प्रमुख गुण माने गये है– माधुर्य, ओज और प्रसाद । माधुर्य गुण अन्तःकरण को आनंद से दवीभूत करने वाला होता है, ओज गुण चित्त में स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला होता है और प्रसाद गुण श्रवण मात्र से काव्य की शीघ्र अर्थ–प्रतीति कराने वाला होता है। साहित्य शास्त्रियों ने अलंकारों के बिना भी काव्य रचना हो सकती है, किन्तु गुणों के बिना काव्य रचना नहीं होती। यदि कोई काव्य बिना किसी गुण के रचा भी जाता है तो वह नीर्जीव, नीरस एवं निरर्थक होता हैं। घनानंद के काव्य में सर्वत्र माधुर्य गुण की प्रधानता है क्योंकि माधुर्य गुण की अनुभूति सर्वाधिक विपलम्भ श्रृंगार अथवा विरह–निरूपण में होती है और घनानंद ने सबसे अधिक विरह का ही वर्णन किया है।

रैन दिना घुटिबौ करें प्रान झरैं अँखियाँ दुखियाँ झरना सो ।
प्रीतम की सुधि अन्तर मैं कसकै सखी ज्यौं पँसरीन में गाँसी ।।

छंद :–

काव्य का छंद से नित्य सम्बन्ध तो नही है, क्योंकि बिना छंद–बंध के भी काव्य रचना होती है, किन्तु छन्द से काव्य में एक ऐसी प्रभविष्णुता आ जाती है, जिससे काव्य पाठकों एवं श्रोताओं के हृदय में उतरता चला जाता है और उनका कंठहार बन जाता है। घनानंद का सारा काव्य छंद की रस–माधुरी से ओतप्रोत है, उसमें प्राणों का संगीत भरा हुआ है। और वह कवि की हृदय–वीणा के तारों की मधुर झंकार से झंकृत है।

घनानंद की छन्द रचना पर विचार करने से ज्ञात होता है कि घनानंद ने विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। जैसे–सवैया, कवित्त, त्रिलोकी, ताटंक, निसाती, सुमेरू, शोभन, त्रिभंगी, दोहा, चौपाई तथा घनाक्षरी पद। इनमें से घनानंद ने मुख्यतया सवैया एवं कवित्त छन्दों का प्रयोग अत्यंत प्रभावशाली ढंग से किया है। घनानंद के सर्वथा तो हिन्दी जगत में सर्वाधिक प्रसिद्ध है और उन्हें सर्वथा छंद का सिरताज कहना सवैया समीचीन ज्ञात होता है।

इस प्रकार घनानंद की कविता विविध प्रकार के कलात्मक सौन्दर्य से ओतप्रोत है उसमें जितनी अनुभूति है, उतनी ही गहन अभिव्यक्ति भी है।

3.10 रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्यधारा में घनानंद का स्थान :–

NOTES

हिन्दी की सम्पूर्ण स्वच्छंद प्रेम काव्यधारा का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इस धारा के प्रमुख कवियों में से रसखान, आलम, घनानंद, ठाकुर और बोधा के नाम उल्लेखनीय है। ये सभी कवि प्रेम काव्य के प्रमुख प्रणेता है और इन्होने स्वच्छंदता के साथ प्रेमानुभूति का बडा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, परन्तु इनमें से घनानंद सर्वश्रेष्ठ कवि है, क्योंकि घनानंद के काव्य में रसखान की सी प्रेम की अनिर्वचनीयता भी हैं, आलम की सी उन्मत्ता भी है, ठाकुर की सी तन्मयता भी है और बोधा की सी रस सिद्धता भी है, परन्तु इन सबसे बढकर घनानंद में कुछ ऐसे असाधारण काव्य सौष्ठव के दर्शन होते है, जो न रसखान में है, न आलम में हैं, न ठाकुर में है और न बोधा में ही है। घनानंद ने 'सुजान' को आलम्बन बनाकर अपनी इस लौकिक प्रेयसी के रूप–सौन्दर्य का इतना मार्मिक एवं मनोरंजक वर्णन किया है कि देखते ही बनता है। सुजान की तिरछी चितवन, घुमते कटाक्ष, रसिली हँसी, मृदु–मुस्कान, अरूण होठ, कान्तिमंडित दंतावलि, सचिवकण, केशराशि, वकिम भौंहें, विशाल नैत्र, गर्वीली मुद्रा, उन्मत यौवन आदि पर मुग्ध घनानंद ने उसकी रूप निकाई के अनेक संश्लिष्ट एवं चित्र अंकित करते हुए जहाँ अपनी प्रेम–विभोरता का परिचय दिया है, वहाँ मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार की इस नर्तकी के प्रति अपना ऐसा प्रणय–निवेदन किया है, जो हिन्दी काव्य की स्थायी सम्पत्ति बन गया है। घनानंद की श्रेष्ठता का सबसे बडा कारण यह है कि घनानंद के हृदय में सुजान के प्रति उत्कृष्ट प्रेम एवं असीम व्यामोह भरा हुआ था, उनके मन में सुजान की अक्षय रूप राशि समाई हुई थी। इसीलिए घनानंद का काव्य प्रेम की गूढता से भरा हुआ है, अतृप्ति की अनंतता से भरा हुआ है, अन्तर्द्वन्द्व की अलौकिकता से भरा हुआ है, वेदना की अक्षयता से भरा हुआ हैं और तीव्रानुभूति की अखंडता से भरा हुआ है। इतना ही नहीं घनानंद की जितनी तीव्र एवं गहन की अनुभूति है, उतनी ही उनकी उत्कृष्ठ एवं समृद्ध अभिव्यक्ति भी है, क्योंकि घनानंद का सा उक्ति वैचित्रय अन्यत्र देखने को नहीं मिलता, उनका सा शब्द वैचत्रिय किसी भी अन्य प्रेमी कवि में नहीं है, उनकी सी लाक्ष्यणिकता अन्यत्र दिखाई नहीं देती है, उनकी सी वक्रोक्तियां अन्य काव्यों में दिखाई नहीं देती है, उनका सा विरोध मूलक वैचित्रय और कोई कवि दिखा नही सका है, उनकी सी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता किसी की भी रचना में दृष्टिगोचर नहीं होती और उनका सा प्रयोग वैचित्रय कहीं ढूंढने पर भी नहीं मिलता है। निःसंदेह वे प्रेम के जितने ध नी थे, उतने ही भाषा के भी धनी थे और उतने ही अभिव्यंजना के भी धनी थे। इसी कारण हिन्दी काव्य की रीतिमुक्त स्वछंद प्रेमधारा में घनानंद का शीर्षस्थ स्थान है।

3.11 सार–संक्षेप

हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल की समाप्ति पर उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल का आंरभ होता है। रीतिकाल में रीति ग्रंथों की रचना प्रचुर मात्रा में की गई थी। रीतिकाल की पृष्ठभूमि में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का विशिष्ट प्रभाव रहा है। रीतिकाल के समस्त साहित्य को प्रवृत्ति भेद के आधार पर रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त काव्यधारा के रूप में विभाजित किया गया है। इन काव्यध ारा में केशव, मतिराम, चिंतामणि, देव, बिहारी ,रसनिधि, घनानंद, बोधा, आलम आदि प्रमुख कवि एवं इनका साहित्य विद्यमान है। रीतिकाल के अंतर्गत राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जन कवियों में से कतिपय ऐसे थें जिन्होंने आत्म प्रदर्शन की भावना अथवा काव्य रसिक समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उददेश्य से ब्रज भाषा में रीति ग्रंथों का प्रणयन किया। इन कवियों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रीति निरूपण तथा आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी रूचि अनुरूप श्रृंगारिक रचनाएं करना रही है। रीतिकालीन काव्यधारा में अनेक कवि हुए हैं, जिनमें घनानंद का विशेष स्थान रहा है। घनानंद हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट स्वच्छन्द प्रेमी कवि है। इनकी कविता प्रेमोंद्गारों की अक्षयनिधि है और हिन्दी काव्य की चिर स्थायी संपत्ति है। इनकी प्रेम व्यजंना में इतनी आकुलता इतनी व्यथा एवं इतनी पीडा है कि कठोर से कठोर श्रोता एवं पाठक भी द्रवित हो जाते हैं।

NOTES

3.12 अभ्यास–प्रश्न

1 रीतिकाल का सामान्य परिचय दीजिए ?

2 रीतिकाल से आप क्या समझते हैं ? रीतिकाल की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

3 रीतिकाल की प्रमुख विशेषताएं बताईये ?

4 रीतिकाव्य धारा को प्रवृत्ति भेद के आधार पर समझाईयें ?

5 निम्न लिखित पर टिप्पणी लिखिए।

1. रीतिबद्ध काव्यधारा।
2. रीतिसिद्ध काव्यधारा।
3. रीतिमुक्त काव्यधारा।

6 घनानंद प्रेम के कवि है विस्तार से समझाईयें ?

7 घनानंद के विरह वर्णन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ?

8 घनानंद के काव्य के भाव सौन्दर्य अथवा कला सौन्दर्य पर विचार कीजिए ?

9 रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा में घनानंद का स्थान निर्धारित कीजिए ?

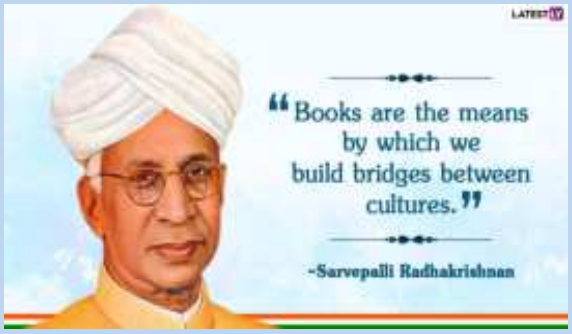

Center for Distance Learning & Continuing Education
MAHATMA GANDHI CHITRAKOOT GRAMODAYA VISHWAVIDYALAYA
Chitrakoot, Satna (M.P.) 485334
E-mail : directordistancemgcgv@gmail.com